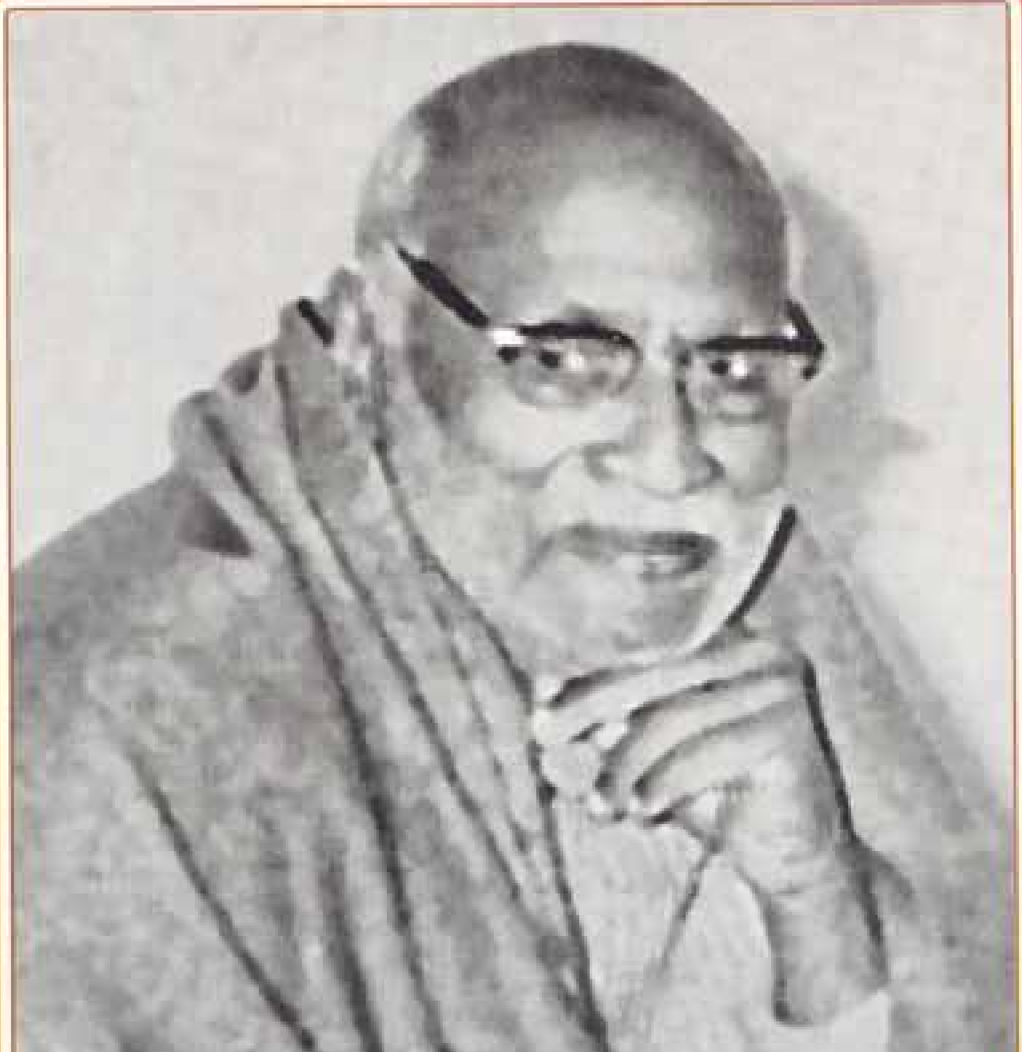

भाईजी-चरितामृत

(रस-सिद्ध संत भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार के जीवन प्रसंग उन्हींके शब्दोंमें)

प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू को गीताप्रेस के प्रकाशनों का उपहार प्रदान करते हुए

विषय-सूची

क्र.	शीर्षक	संख्या
१.	जन्मकी पृष्ठभूमि	१
२.	परिवारका परिचय	२
३.	बचपन : भूकम्पसे प्राणरक्षा	५
४.	**कलकत्तेका जीवन**	६
५.	स्वदेशी आंदोलन : खादीका प्रयोग	८
६.	कलकत्तेके गणमान्य लोगों द्वारा स्नेहदान	१०
७.	संतप्रवर सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकासे प्रथम मिलन	१७
८.	क्रान्तिकारी गतिविधियाँ	२०
९.	रोड़ा काण्ड	२५
१०.	अँग्रेजी सरकार द्वारा गिरफ्तारी-अलीपुर जेलमें	३०
११.	शिमलापालकें नजरबंदी एवं साधना	३२
१२.	**बम्बईका जीवन**	३८
१३.	शीर्षस्थ नेताओंसे घनिष्ठ सम्पर्क	३९
१४.	संतप्रवर पूज्य सेठजीकी आज्ञा मानकर बम्बईमें सत्संगकी शुरूआत	४०
१५.	भगवान् रामके दर्शन	४४
१६.	पारसी प्रेतसे मिलन एवं अन्य लोकोंको सम्बन्धमें जानकारी	५०
१७.	भगवत्कृपाकी अनुभूतियाँ	५२
१८.	भगवन्नामकी कृपानुभूति	६०
१९.	बम्बईसे 'कल्याण'के प्रकाशनका शुभारम्भ	६१
२०.	'कल्याण'के लिये गाँधीजीका आशीर्वाद	६२
२१.	**गोरखपुर आगमन**	६६
२२.	भगवद्दर्शनकी उत्कंठा	६६
२३.	जसीडीहमें भगवान विष्णुके साक्षात् दर्शन	६७
२४.	गोरखपुरमें पुनः भगवत् साक्षात्कार एवं भगवान्से वार्तालापके चार प्रसंग	७०
२५.	भगवन्नामका प्रचार	७८

क्र.	शीर्षक	संख्या
२६.	'गीताप्रेस' तथा 'कल्याण'	८२
२७.	प्रलोभनोंसे रक्षा	१०७
२८.	महात्मा गाँधीके सम्बन्धकी मधुर स्मृतियाँ	१०९
२९.	महामना मदनमोहन मालवीयजीके साथ कुटुम्ब-सा सम्बन्ध	१२३
३०.	मन्त्रानुष्ठानके सम्बन्धमें अनुभव	१३७
३१.	निवृत्तिपरक प्रकृति : एकान्तवासकी लालसा	१३९
३२.	दादरीमें एकान्त साधना	१४४
३३.	साधनाके लिये रतनगढ़में एकान्तवास	१६७
३४.	सेवाके कार्य	१८२
३५.	सार्वजनिक संस्थाओंसे सम्बन्ध	१८७
३६.	जीवनमें उतारने योग्य आदर्श क्रियायें	१८८
३७.	प्रतिकुलतामें भगवत्कृपाकी अनुभूतियाँ	२०४
३८.	अलौकिक प्रसंग्	२०८
३९.	देवर्षि नारद तथा महर्षि अंगिराकाके साक्षात् दर्शन	२१२
४०.	कृष्ण-जन्मभूमि मथुरामें भागवत-भवनका निर्माण	२२२
४१.	गोरक्षा-आंदोलन	२३१
४२.	अपनी अनुभूतियों एवं दिव्य स्थितिका पदोंमें विवरण	२४९
४३.	काव्य-रचनाकी पृष्णभूमि	२४२
४४.	उपरामताकी चरम सीमा : भाव-समाधि	२४१
४५.	सभी संस्थाओंके उत्तरदायित्वसे मुक्त होनेकी इच्छा	२६१
४६.	अन्तिम क्षणोंतक गीताप्रेसके भविष्यकी चिन्ता	२६८
४७.	वसीयतनामाके कुछ अंश	२७२
४८.	मेरे प्रिय चौपाई-दोहे-श्लोक	२८८
४९.	अमर संदेश	२९२
५०.	परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्काके सम्बन्धमें भाईजीके लेखनीसे	३१६

।। श्रीहरिः ।।

भाईजी-चरितामृत

जन्मकी पृष्ठभूमि

मेरा पाञ्चभौतिक शरीर सर्वथा प्राकृत तथा कर्मजनित होनेपर भी इसके द्वारा कुछ ''विशेष कार्य'' करानेकी कोई दैवी प्रेरणा थी।

जन्म

श्रीरघुनाथप्रसादजी सिंघानियाके दि. २५ *अगस्त,* १९५४ *के पत्रमें पूछे गये प्रश्नोंके उत्तरमें भाईजीने लिखा* –

प्रश्न : आपकी जन्मतिथि ?

उत्तर : मेरा जन्म आश्विन कृष्ण १२, संवत् १९४९ वि. (१७ सितम्बर, १८९२) को शिलाँग, आसाममें हुआ था।

प्रश्न : पिताजी का नाम ?

उत्तर : स्व. श्रीभीमराजजी पोद्दार

प्रश्न : (पैतृक स्थान) देशमें कहाँके हैं ?

उत्तर : देशमें हमलोग रतनगढ़ (जो बीकानेर स्टेटमें था) के निवासी है। हमारा व्यापार कलकत्ता और आसाममें था।

परिवारका परिचय

शिलाँग (आसाम) में हमारा कारबार था। मेरे दादाजी कनीरामजी वहाँ रहते थे। पिताजी कलकत्तेका कारबार सँभालते थे। माताजीकी बहुत थोड़ी उम्रमें मृत्यु हो जानेसे मेरी दादीजीने मुझको पाला।

* * * *

जीवनके शिशुकालमें मुझे अपनी दादीजी श्रीरामकौर देवीसे— जिन्होंने मुझे मातासे कहीं अधिक स्नेह-वात्सल्य देकर पाला-पोसा था— बहुत अच्छी शिक्षा मिली। वे साधुओंकी बड़ी भक्त थीं। मैं समझता हूँ कि वे संत थीं। उनपर संतोंका बड़ा अनुग्रह रहता था। नाथ सम्प्रदायके कई संत— श्रीलक्ष्मीनाथजी महाराज, श्रीबखन्नाथजी आदि जो उस समय पहुँचे हुए संत माने जाते थे— उन दिनों रतनगढ़ चुरू आते थे, रहते थे। दादीजीको उनका बड़ा संग रहता था। मैं समझता हूँ— यह कहना नहीं चाहिए पर मेरा विश्वास है कि दादीजीको हनुमान्‌जीका साक्षात्कार हुआ था। हमारे घरमें उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी और आस-पासके लोग भी उन्हें बहुत मानते थे। उनका असर मेरेपर भी पड़ा। महान् संत श्रीबखन्नाथजी महाराजकी कृपा मुझे दादीजीके कारण ही प्राप्त हुई थी। स्वामी हरिदासजी आदि महात्माओंका प्रसाद भी उन्हींके कारण मिला था।

* * * *

मेरी दादीमें बुद्धिमत्ताके साथ सरलता, उदारताके साथ मितव्ययिता, स्वाभिमानताके साथ विनय, साधु-सेवाके साथ सावधानी, सहिष्णुताके साथ परदुःखकातरता —सभी एक-से-एक विलक्षण गुण थे उनमें। वे बड़ी ही निर्भीक और आस्तिक थीं। भगवान्‌की सत्ता तथा कृपापर उनका अटूट विश्वास था। बड़े-बड़े कष्टोंको उन्होंने बड़ी सरलता तथा साहसके साथ सहन किया था। उनकी परदुःखकातरता तथा उदारताका एक प्रसंग यहाँ लिखा जा रहा है—

उन दिनों व्यापारमें कुछ ढिलाई थी। मेरी बुआकी एक लड़कीका विवाह था। विवाहका भार प्रायः हमारे ही ऊपर था। पिताजी चिन्तित थे। किसी प्रकार पाँच हजार रुपयेकी व्यवस्था हुई। विवाहके दिन बहुत समीप थे। रुपये दादीके पास थे, उन्हींको सारी व्यवस्था करनी थी। उनका इतना तेज था

कि अपने घरमें ही नहीं, दूरके सम्बन्धी तक बड़े सम्मानके साथ उनका शासन मानते थे। इसी अवसरमें एक दूर-सम्पर्कीय सम्बन्धीके घरकी एक महिला दादीके पास आयी। उनके कारोबारमें घाटा लग गया था। उसने दादीसे सारी बातें कहीं। दुखियोंका दुःख सुननेमें दादीजी बड़ी दिलचस्पी रखतीं, बड़ी ही सहानुभूतिके साथ उनके दुःखकी बातें सुनतीं। दादीने सब बातें सुनीं। उसको पाँच हजार रुपयोंकी जरूरत थी। उसके पतिने स्वयं न आकर अपनी पत्नीको इसीलिये दादीके पास भेजा था कि दादीका दयालु हृदय सुनते ही द्रवित हो जायगा और वे किसी तरह व्यवस्था कर देंगी। उस महिलाने बड़े करुण स्वरसे कहा— 'ताईजी! आप व्यवस्था न करेंगी तो हमारी बाप-दादोंकी इज्जत चली जायगी।' दादीका हृदय द्रवित हो गया। पर उधर वह विवाहका कार्य भी बहुत ही आवश्यक था। दादीने उससे कहा— 'तुम्हारे पतिको अभी बुला लाओ।' वह तुरंत बुला लायी। उनके आनेपर दादीने उन्हें आश्वासन दिया और तिजोरी खोलकर अपना गहना निकाला। पाँच हजार रुपये नगद निकालकर उन्हें दे दिये और साथ ही अपना गहना देकर कहा कि आप इस गहनेको गलाकर सोना कर लीजिये और इसे बेचकर रुपये तुरंत मुझे ला दीजिये। वे बेचारे गदगद् हो गये। मन तो बहुत सकुचाया, पर उन्होंने पाँच हजार रुपये लेकर अपना भुगतान किया और गहना बेचकर तीन हजार आठ सौ रुपये दादीको ला दिये। दादीने कहींसे बारह सौ रुपये उधारकी व्यवस्थाकी और हमारी बुआकी लड़कीका विवाह भलीभाँति सम्पन्न कराया।

इस घटनाका पता चार साल बाद तब लगा, जब वे सज्जन रुपये लौटानेको आये। तब दादीने पिताजीको यह सब बतायी।

* * * *

मेरी दादीका देहान्त हुए बहुत दिन हो गये। पर उनकी पवित्र स्मृति मुझे बनी ही रहती है। उनका मुझपर जो स्नेह था एवं उन्होंने मेरे लिये जितने कष्ट सहे, उसका बदला मैं हजार जन्म सेवा करके भी नहीं चुका सकता। उनके जीवित रहते मैंने इस ओर पूरा ध्यान नहीं दिया। अब पछतानेसे कोई लाभ नहीं। जिनके माता-पिता आदि जीते हैं, उन्हें बड़ा सौभाग्य प्राप्त है। वे जीभर उनकी सेवा करके आनन्द लूट लें, नहीं तो पीछे मेरी तरह पश्चात्तापके सिवा प्रत्यक्ष सेवाका और कोई साधन नहीं रहेगा।

पिताजी बड़े सात्त्विक पुरुष थे, उनसे भी संयमकी शिक्षा मुझे मिली। मेरे सामनेकी एक बात है, उदाहरणके लिये कहता हूँ। पिताजी प्रायः दुकानपर कहा करते कि देखो भूलसे भी दूसरेका पैसा न आ जाय। दूसरेका पैसा आ जायगा तो वह घरको बरबाद करके छोड़ेगा। एक दिनकी घटना है कि भूलसे एक सौ रुपये एक पुर्जेमें जोड़में अधिक लग गये और भुगतान देनेवालेके यहाँ भी भूल हो गई। एक सौ रुपये अधिक आ गये, शामको हिसाब मिलाया गया तब पता लगा कि रुपये अधिक आ गये। केवलसिंह नामका व्यक्ति था। उसने पिताजीको सारी बात बताई। पिताजी बोले– रुपये अधिक कैसे आ गये? तुम लाये ही क्यों? उसने बताया– जानकारीमें नहीं आये थे, भूलसे आ गये। पिताजी बोले– अभी लौटाकर आओ। उसने कहा– अभी तो शाम हो गई ········ वह बात पूरी नहीं कह पाया था कि पिताजी बीचमें बोले– शाम हो गई तो क्या हुआ? अभी लौटाकर आओ। जबतक रुपये लौटाये नहीं जायेंगे हम रोटी नहीं खायेंगे। रुपये अपने यहाँ रहे इसलिये ब्याज भी देकर आओ।

* * * *

पिताजी बड़े सत्संगी थे। जगदीश्वरानन्दजी भारती, जो कैलाश-आश्रमके महन्त थे, बहुत बड़े विद्वान् तथा सदाचारी महात्मा थे। वे जब संन्यासी होकर पहले होशियारपुर (पंजाब) से आये तो पिताजीके पास ही ठहरे थे। इनसे मुझे बड़ी सत् शिक्षा मिली। उस समय 'सनातन धर्म पुष्टिकारिणी सभा' थी, उसके प्रधान पिताजी ही थे। बीकानेरके दो-चार सज्जन– श्रीशिवनारायणजी व्यास, शिवप्रतापजी आचार्य, मदनगोपालजी कोठारी आदि उनके कई मित्र उसमें सम्मिलित थे। इसी सभाके द्वारा गठित धार्मिक प्रवचनोंके सिलसिलेमें पं. दीनदयालजी शर्मा व्याख्यान वाचस्पति कलकत्ते पधारा करते थे। उन्होंने बड़े ही वात्सल्यभावसे मुझे भाँति-भाँतिकी संयम, सदाचार तथा शास्त्र-विधिके अनुसार जीवन बितानेकी शिक्षा प्रदान की।

* * * *

बचपन

भूकम्पसे प्राणरक्षा

सन् १८९६ ई. (सं. १९५३ वि.) में आसाममें भयानक भूकम्प हुआ था। उस समय मेरी उम्र लगभग चार वर्षकी थी।

मैं दादीजीके साथ शिलाँगमें रहता था। मेरी बुआ भी वहीं आयी हुई थीं। उनके दो सन्तान थीं—एक कन्या और एक पुत्र। वे दोनों मेरे समवयस्क थे। हम तीनों साथ-साथ खेला करते। भूकम्पके दिन हमारे निकटवर्ती श्रीभजनलाल श्रीनिवासके यहाँ किसी व्रतका उद्यापन था। उनके यहाँ हमें भोजन करने जाना था। बुआजीके दोनों बालकोंने जानेसे इन्कार कर दिया। मैं अकेला ही गया। वे घरपर रह गये। सन्ध्याका समय था। लगभग पाँच बजे होंगे। मैंने श्रीभजनलाल श्रीनिवासके गोलेके पीछे रसोईमें जाकर भोजन किया। रसोईसे निकलकर गोलेमें घुस ही रहा था कि धरती बड़े जोरसे काँप उठी। मैं चिल्लाया, मेरे आस-पास पत्थरोंकी वर्षा होने लगी। सारा मकान मिनटोंमें ही ध्वंस हो गया। मैं दब गया, परन्तु आश्चर्य, मेरे चारों ओर पत्थर हैं, उनपर एक तख्ता आ गया और उसके ऊपर पत्थरोंका पहाड़। मैं मानो खोहमें-काली गुफामें पड़ गया। पता नहीं, वायुके आने-जानेका रास्ता कैसे रहा, परन्तु मैं मरा नहीं। भूकम्प बन्द होनेपर मूसलाधार वर्षा हुई और उसी समय हमारे बगलके एक गोलेमें आग लग गयी। चारों ओर हाहाकार मचा था। कौन दबा, कौन बचा, कुछ पता नहीं। दादाजी हम तीनों बालकोंकी खोजमें लगे। मेरी बुआजीके दोनों बालक पत्थरोंके नीचे मरे मिले। मेरी बड़ी बुआजीके पौत्र, मुझसे कुछ बड़ी उम्रके श्रीराम गोयनकाकी भी लाश मिली। ढूँढ़ते और पुकारते दादाजी भजनलाल श्रीनिवासके गोलेके पास आये। वे बड़े जोरसे पुकार रहे थे— 'मन्नू', 'मन्नू'। मैंने आवाज सुन ली। नन्हा-सा बालक था। भयभीत था, रो रहा था। परन्तु न मालूम किस प्रेरणासे मैंने शक्तिभर जोरसे उत्तर दिया— यहाँ हूँ, जल्दी निकालिये। पत्थरोंका ढेर हटाया गया। मैं निकलकर दादाजीके गोदी चढ़ गया, उन्होंने हृदयसे लगा लिया। दोनों रोने लगे। उनके रोनेके कई अर्थ थे। दादीजी तबतक अपने इष्ट श्रीहनुमान्‌जीको याद कर रही थीं। हनुमान्‌जीने उनकी पुकार सुनी। बुआजीके बालकोंके दबनेका दुःख क्षणभरके लिये कुछ हलका हो गया।

* * * *

कलकत्तेका जीवन

भोग-सुखके विरुद्ध त्याग तथा संयमका पाठ

जीवनके प्रारम्भसे ही मुझे भोग-सुखके विरुद्ध त्याग तथा संयमका क्रियात्मक सजीव पाठ मिला।

मुझे याद है, जब मैं बच्चा था, शायद बारह वर्षका था, तब दो आनेमें एक कंघा खरीदकर ले आया। अमृतसरमें हमारी दादीजीका पीहर था, वहाँसे बहुत कंघे आया करते थे– चन्दनके भी और हाथी दाँतके भी। इसलिये कंघे घरमें रहा ही करते थे। मैं नये फैशनका एक लम्बा कंघा ले आया। पिताजीने बड़े प्यारसे पासमें बैठाकर कहा– भैया! यह कंघा तुम खरीदकर लाये क्या? मैंने कहा– हाँ जी, मैं खरीदकर लाया। बोले– कितने पैसे लगे? मैंने कहा– दो आना। तब बड़े स्नेहसे बोले– भैया, देखो अपने घरमें कितने कंघे पड़े हैं। अपने तो लोगोंको कंघे बाँटते हैं। यह दो आना पैसा तुमने व्यर्थ खर्च कर दिया। ऐसा नहीं करना चाहिये। देखो, अपने गंगाजीपर जावें और दो आने गरीबोंको बाँट दें तो कितना लाभ हो? मुझे अभीतक उनके शब्द याद हैं। ऐसी उनकी भावना थी। एक तरफ बड़ी उदारता, दूसरी तरफ अपने लिये खर्च करनेमें बड़े कंजूस।

* * * *

बहुत पुरानी बात है– कलकत्तेकी। उस समय मेरे पिताजी थे। उनके पास संत-महात्मा आया करते थे। वे उनका बड़ा आदर करते थे। एक दिन एक बड़े वृद्ध महात्मा आये। महात्माजीके लिये एक आयोजन हुआ कि वे रातको कुछ उपदेश करें। बड़े सरल हृदयके महात्मा थे, छल-कपट उस जमानेमें बहुत कम होता था। महात्माजी बोले– बताओ किस विषयपर बोलें? ईश्वरका खण्डन करें या मण्डन? पिताजी हँसे और बोले– दोनों चीजें कैसे होंगी? जो सिद्धान्त आप मानते हैं, वही कहिये। बोले– माननेकी बात अलग है। सिद्धान्त कुछ नहीं। हमारे पास विद्या है, युक्तियाँ हैं। तुम कहो तो खण्डन कर दें, तुम कहो तो मण्डन कर दें।

सत्बर्तावसे विरोध धुल गया

मुझे अपने घरकी एक बहुत पुरानी बात याद है। हमारे दादाजी, परदादाजी दो भाई थे, उनके लड़कोंका आपसमें कुछ विरोध हो गया था। किस बातको लेकर हुआ, मुझे पूरा याद नहीं, मैं बच्चा था। कलकत्तेमें वे लोग एक मकानमें ही रहते थे पर आपसमें बोल-चाल बंद थी। एक दिनकी बात है, रातका समय था। पिताजी गद्दीमें बैठे थे। बैठे-बैठे ही उनको पहली बार ऐसा दौरा आया कि वे बेहोश हो गये। उस समय एक मुनीम थे जिनका नाम चाँदमल था। वे डाक्टरको बुलाने दौड़कर गये। जब दौड़कर कोठीसे बाहर निकले तो बाहर हमारे ताऊजीकी दुकान थी, उनका नाम था बिहारीलालजी। वे दुकानपर बैठे थे, बोले— चाँदमल, कहाँ जा रहा है? वे पिताजीसे तो बोलते नहीं थे पर चाँदमल तो काम करते थे इसलिये ऐसे ही पूछ लिया। चाँदमलने उत्तर दिया— बाबू बेहोश हो गये हैं, इसलिये डाक्टरको बुलाने जा रहा हूँ। वे बोले— भीमराज बेहोश हो गया। उनके पास गाड़ी थी। वे पहले डाक्टरके पास पहुँच गये और डाक्टरको लेकर पहले आ गये। चाँदमल तबतक आये ही नहीं थे। चिकित्सा हुई और अपनी गाड़ीमें घर ले आये। उन्हें होश आ गया। जो वर्षोंसे इनका विरोध था वह धुल गया और उनमें आपसमें बड़ा ही प्रेम हो गया। जबतक बिहारीलालजी जीवित रहे इतना प्रेम रहा कि कुछ कहा नहीं जा सकता। उनके एक सत्बर्तावने सारा व्यवहार बदल दिया।

मैं बचपनसे ही कुछ सार्वजनिक कार्योंमें रुचि रखता था। पढ़ा- लिखा नहीं, पढ़ाईकी दृष्टिसे नगण्य, तुच्छ, कुछ भी नहीं। सार्वजनिक कार्योंमें मेरी रुचि थी और सामाजिक कार्योंमें मैं जब तेरह वर्षका था, कलकत्तेमें तबसे भाग लेने लगा था।

क्रान्तिकारी आन्दोलनसे त्यागमय जीवन निर्माणमें सहायता

कलकत्तेमें स्वदेशी-युगके क्रान्तिकारी आन्दोलनसे भी बहुत बड़ी नियमानुवर्तिता, संयम, त्याग, सादगीकी क्रियात्मक शिक्षा मिली; क्योंकि उस समय आन्दोलनका उद्देश्य ही था— देशके लिये तन-मन-धन, सर्वस्व अर्पण कर देना। प्राणोंकी बलि देकर भी देश-सेवा करना। उस प्रसंगमें मुझे बंगालमें श्रीअरविन्द, श्रीसुरेन्द्रनाथ बनर्जी, श्रीविपिनचन्द्र पाल, श्रीचित्तरंजनदास,

श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्रीश्यामसुन्दर चक्रवर्ती, श्रीब्रह्मबान्धव उपाध्याय, श्रीसत्याचरण शास्त्री, श्रीसखाराम गणेश देउस्कर, श्रीशारदाचरण मिश्र, श्रीकृष्णकुमार मिश्र आदि विभिन्न क्षेत्रोंके महानुभावोंसे बार-बार मिलने, किन्हीं-किन्हींके साथ अत्यन्त अन्तरंग सम्पर्कमें आनेका सुअवसर मिला। उससे मुझे त्यागमय जीवन-निर्माणमें बड़ी सहायता मिली।

विद्वानों एवं साहित्यकारोंसे निकटका सम्पर्क

इसीके साथ उस समयके कलकत्तेके धुरीण साहित्यिक पंडित गोविन्दनारायणजी मिश्र, पंडित दुर्गाप्रसादजी मिश्र, श्रीबालमुकुन्दजी गुप्त, पंडित जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी, श्रीअमृतलालजी चक्रवर्ती, श्रीपांचकड़ी बनर्जी, पंडित श्रीअम्बिकाप्रसादजी बाजपेयी, पंडित श्रीझाबरमलजी शर्मा, पंडित श्रीलक्ष्मणनारायणजी गर्दे, श्रीरामकुमारजी गोयनका, श्रीबाबूराव विष्णु पराड़कर आदि विद्वानोंके तथा सफल सम्पादकोंके बहुत निकट सम्पर्कमें रहनेका सौभाग्य मिला।

स्वदेशी आंदोलन : खादीका प्रयोग

मैं सन् १९०६ से स्वदेशी वस्त्र पहनता हूँ। शुद्ध खादी भी मैंने तभी पहनना शुरू कर दिया था, जब महात्माजी मीलका कपड़ा पहनते थे। मैंनें गाँधीजीसे डेढ़ साल पहले खादी पहननी शुरू की थी। मैंने जब खादी पहनना प्रारम्भ किया उस समय खादी मिलती थी—मोटी चद्दर जैसा कपड़ा बनता था। उसकी धोती तो किसी तरह पहन ली पर कपड़ा सिलाई नहीं हो सकता था, इसलिये सालभर मैं केवल चद्दर ओढ़ कर रहा। उस समय स्वदेशी युगकी बात थी। एक दिन इन्साईक्लो- पीडियामें पढ़ा था कि मिलका कपड़ा बनानेमें चर्बी लगती है। इसलिये काम चलाना था। मुझे कोई शर्म मालूम नहीं होती थी। यह शर्म तो हमने पैदा कर ली। बादमें तो गाँधीजीके कारण अच्छी खादी मिलने लगी—कोई कठिनता नहीं रही।

* * * *

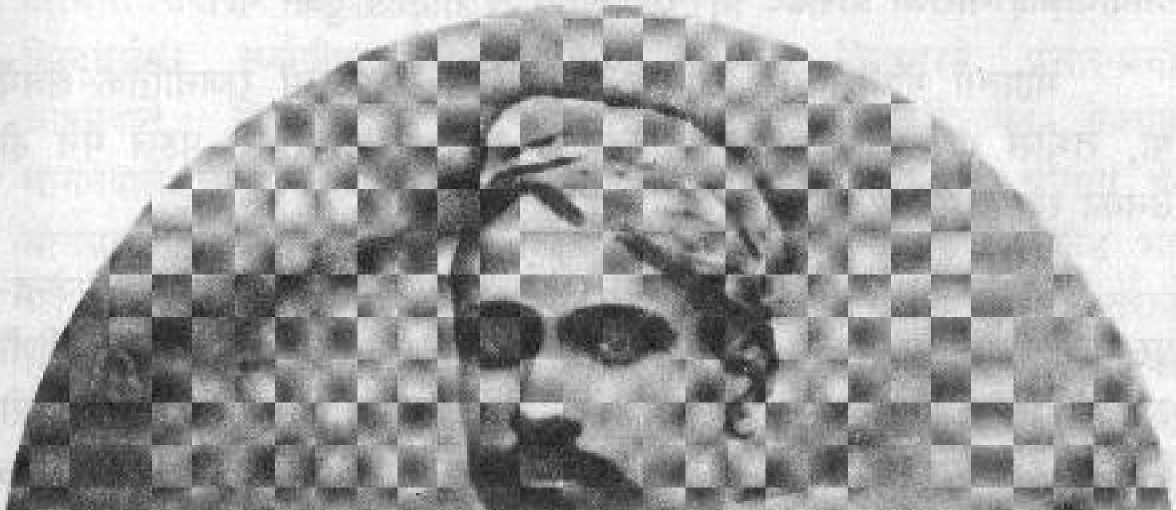

राजस्थानी वेशभूषा में श्रीभाईजी

राजनीतिकी ओर झुकाव

कलकत्तेमें बंग-भंगका आन्दोलन चल रहा था तभीसे मेरा राजनीतिकी ओर झुकाव हो गया था। सन् १९०६ ई. कलकत्ता काँग्रेसमें जिसमें श्रीदादाभाई नौरोजी प्रेसिडेंट थे, पहले-पहल मैं शामिल हुआ था।

महात्मा गाँधीसे मेरा सम्पर्क तो जब मैं कलकत्तेमें राजनीतिक क्षेत्रमें था, तभीसे था। जब वे रंगूनसे कलकत्ता आये थे तो सबसे पहले मैंने ही उनका स्वागत किया था।

उसके कुछ बाद ही महामना पं. मदनमोहनजी मालवीय, डॉ. राजेन्द्र-प्रसादजी, बाबू पुरुषोत्तमदासजी टंडन, लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधीजी आदिसे निकटका सम्बन्ध हो गया। राजनीतिक जगत्के बहुत महानुभावोंसे मिलना हुआ पर उपर्युक्त महानुभावोंसे बहुत समीपता हो गयी। खास करके पूज्य मालवीयजी, महात्मा गाँधीजी तथा श्रीटंडनजीसे तो एक प्रकारका पारवारिक सम्बन्ध हो गया। ये मुझे अपने परिवारका एक विश्वस्त बालक समझते थे। इन लोगोंसे मुझे बहुत कुछ मिला।

कलकत्तेके गणमान्य लोगों द्वारा स्नेहदान

कलकत्तेमें उस समयके गणमान्य पुरुष सर हरीरामजी गोयनका, श्रीरूढ़मलजी गोयनका, श्रीरामजीदासजी बाजोरिया, श्रीजुहारमलजी खेमका, श्रीदौलतरामजी चोखानी, श्रीआनन्दरामजी जयपुरिया, श्रीगुलाबरायजी पोद्दार, श्रीरंगलालजी पोद्दार, सूरजमलजी जालान, श्रीदेवीबक्सजी सराफ, श्रीकिशनदयालजी जालान आदि सभी विचारोंके श्रद्धेय पुरुष मुझपर स्नेह करते। इनमेंसे कुछ वरिष्ठ पुरुष प्राचीन विचारधाराके थे। मैं सुधारक तरुणोंमें था, इसलिये उनका कभी-कभी विरोध भी करता। पर उन्होंने मुझे सदा स्नेहदान ही दिया।

इनमेंसे ही श्रीहरीरामजी गोयनका, श्रीरामजीदासजी बाजोरिया तथा श्रीआनन्दरामजी जयपुरिया विशेष स्नेह करते। बम्बई पहुँचनेके बाद सरकारके द्वारा बंगालमें प्रवेश न करनेका आदेश वापस होनेके बाद जब-जब मैं कलकत्ता गया, तब-तब श्रीहरीरामजी तथा वहाँ हुए तो श्रीआनन्दरामजीसे मैं अवश्य मिलता। न मिलता तो वे आ जाते।

श्रीजुगलकिशोरजी बिड़ला

श्रीजुगलकिशोरजी बिड़लासे मेरा अच्छा परिचय कलकत्तेमें ही हो गया था। श्रीजुगलकिशोरजी शुरूसे ही बड़े सदाचारी, संयमी, साधु-स्वभाव, अत्यन्त उदार, महादानी, साधु-संतोंके सेवक, देशका कल्याण चाहनेवाले, हिन्दूधर्मकी सर्वांगीण उन्नति और उसका विश्वभरमें प्रसार-प्रचार चाहनेवाले, हिन्दूधर्मकी महत्ताको जानकर उसीसे विश्वका कल्याण माननेवाले सत्पुरुष थे। वे एक योगभ्रष्ट पुरुष थे– 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।' मेरे तो शुरूसे ही वे वात्सल्य हृदय आदरणीय भाई थे। मेरे प्रति उनका स्नेह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। वे मेरी हर तरहसे सँभाल रखते, मेरे स्वास्थ्यका ध्यान रखते, मेरे कामोंमें सहायता-परामर्श देते, कभी-कभी पूरी आत्मीयताके साथ उलाहना, कर्तव्यक्षेत्रसे दिग्भ्रम या प्रमाद न हो जाय इससे सावधान करते रहते। वे मूर्तिमान हिन्दू-धर्म थे। मुझे उनसे बहुत कुछ मिला– वे देना ही जानते थे। मैं जब-जब दिल्ली जाता, यदि बिड़लाजी वहाँ होते तो मैं उनके दर्शन अवश्य करता। एक बार मुझे दिल्ली पहुँचे दो दिन हो गए, उन्हें पता लगा तो स्वयं सन्ध्याके समय वे भाई जयदयाल डालमियाके मकानपर, जहाँ मैं ठहरा था, आ पहुँचे। मैं उस समय कहीं बाहर गया हुआ था। वे मेरी प्रतीक्षामें बहुत देरतक बैठे रहे। तबसे मैंने यह नियम-सा बना लिया कि मैं दिल्ली पहुँचता उसी दिन पता लगाकर यदि वे वहाँ होते तो उनके दर्शनार्थ बिड़ला-हाउस पहुँच जाता। इसीसे पता लगता है कि मेरे प्रति उनकी कितनी आत्मीयता थी।

श्रीज्वालाप्रसादजी कानोड़िया

श्रीज्वालाप्रसादजी कानोड़ियासे मेरा बहुत पुराना परिचय है। वे उस समय श्रीहरिवक्षजी साँवलकाके फर्मके इम्पोर्ट विभागमें काम करते थे। श्रीसाँवलकाजीकी दुकानके ठीक सामने पारख कोठीमें हमारी दुकान थी। वहीं परिचय हुआ और वह घनिष्ठ प्रेम तथा आत्मीयतामें परिणत होता गया। आप हमारी गुप्त समितिके प्रमुख थे। हमारे गोविन्द भवन कार्यालयके कर्तव्यपरायण प्रधानमंत्री थे। मेरे लिये तो वे अभिन्न मित्र, दु ख-विपत्तिके साथी, बन्धु, सदा

सब प्रकार देख-रेख रखनेवाले, स्नेहपूर्ण सहोदर अग्रज, मेरी सुख-सुविधाके लिये अपने जरूरी कार्योंका भी त्याग करनेवाले परम आत्मीय थे। श्रीज्वालाप्रसादजी बड़े बुद्धिमान्, कर्मठ, गीतोक्त 'कर्म सदाचार' के सिद्धान्तके माननेवाले, नित्य सावधान, कर्तव्य-परायण, व्यवस्था तथा अनुशासन माननेवाले आदर्श पुरुष थे। उनसे मैंने बड़ा ही लाभ उठाया।

सर हरीरामजी गोयन्का

मैं कलकत्तेमें शिवपुरमें श्रीज्वालाप्रसाद कानोड़ियाके मकानपर ठहरा करता। एक बार मैं श्रीहरीरामजीके यहाँ नहीं जा सका, तो शामके लगभग पाँच बजे मैं घर लौटा तो देखता हूँ वयोवृद्ध सर हरीरामजी पधारे हुए हैं, ऊपर दो तल्ले सीढ़ियोंपर चढ़नेसे उनका दम फूल रहा था। मैं तो देखकर दंग रह गया। मैंने प्रणाम करके कहा— बाबूजी, आपने क्यों कष्ट किया? बोले— तुमसे मिले बिना रहा नहीं गया तुम नहीं आ सके, इसलिये मैं ही आ गया। तबसे मैंने नियम बना लिया, जिस दिन कलकत्ते पहुँचता, उसी दिन उनकी सेवामें उपस्थित होता। सर हरीरामजी बड़े ही विचारशील, गंभीर प्रकृतिके श्रेष्ठ पुरुष थे। उनसे कई प्रकारकी बहुत ही व्यवहारिक शिक्षा मुझे मिली।

पंडित श्रीझाबरमलजी शर्मा

पंडित श्रीझाबरमलजी शर्मा बड़े ही सहृदय, साहसी, बुद्धिमान्, सात्त्विक स्वभावके धार्मिक तथा साहित्यिक पुरुष हैं। मुझपर आरम्भसे ही स्नेह-प्रीति और कृपा रखते हैं। इनके मेरे प्रति जो उपकार हैं और इन्होंने जो सद्भाव मुझे दान किया है और अबतक दे रहे हैं, वह सर्वथा आदरणीय है और मैं उसके लिये उनका सदा ही कृतज्ञ हूँ।

उदार नेता सर चित्तरंजनदास

बहुत पुरानी बात है। कलकत्तेमें सर चित्तरंजनदास थे। वे उस समय बंगालके एक बड़े नेता थे। मेरा उनसे बड़ा निकटका सम्बन्ध रहा। वे बड़े उदार थे— ऐसे उदार हमने बहुत कम लोग देखे है। उनको डुमराँव केस

जीतनेपर एक दिन साढ़े चार लाख रुपये मिले थे। घर पहुँचे तबतक एक पैसा भी पासमें नहीं रहा। साढ़े चार लाख, सबके सब पहलेसे ही चेक लिख रहे थे।

एकबार गाँधीजी बोले– दासबाबू आपका धन बहुत व्यर्थ जाता है। आप ठीक समझकर खर्च नहीं करते। गाँधीजीने उनसे अपने दृष्टिकोणसे ठीक ही कहा। दोनों ही महापुरुष थे पर दृष्टिकोण तो सबका अपना-अपना अलग-अलग होता है। (सर) चित्तरंजनदासने उस बातका हँसकर ऐसा उत्तर दिया कि बापू यदि आप मेरी जगह होते तो आपका धन अवश्य व्यर्थ जाता, पर मेरा धन तो, एक-एक पैसा भगवान्‌की सेवामें खर्च होता है। यही भेद है। मैं सोच-सोचकर एक-एक पैसा भगवान्‌की सेवामें खर्च करता हूँ।

श्रीरुढ़मलजी गोयन्दका : मंत्र जपसे नवीन प्रारब्धका निर्माण

उन दिनों कलकत्तेमें श्रीरुढ़मलजी गोयनकाके तत्त्वावधानमें एक 'आचरण सुधार सभा' कार्य कर रही थी, उससे भी मुझे बड़ा सद्भाव प्राप्त हुआ। श्रीरुढ़मलजी मुझपर स्नेह करते थे। वे बहुत बड़े विद्वान् थे। संस्कृतके बड़े पंडित ओर संस्कृत-साहित्यके रसिक थे। संस्कृतके विद्वानोंका बड़ा आदर करते थे। श्रीमद्भागवतके बड़े प्रेमी थे। भागवतका उनको बड़ा अच्छा अध्ययन था। मेरे सामनेकी ही एक बात है। घरमें कोई नहीं था, उनकी पत्नीका देहान्त हो गया था। कलकत्तेमें बड़तल्लेमें उनका मकान था, उसमें वे रहते थे। उनको एकबार प्लेग हो गया। अब तो प्लेगकी बीमारी प्रायः नहीं रही, उन दिनों कलकत्तेमें हर साल प्लेग होता था। उनको १०५° के ऊपर ज्वर था तथा दोनों ओर गाँठे हो गई थी। कलकत्तेमें उन दिनों एक बड़े नामी बंगाली डाक्टर थे– सर कैलाशचन्द्र बोस। मारवाड़ियोंमें उनका बड़ा प्रचार तथा आदर था। वे थे भी बहुत बड़े निपुण चिकित्सक। दूरसे ही रोगीको देखकर बता देते कि यह जियेगा या मरेगा। बड़े घरोंमें प्रायः वे ही देखने आया करते थे। वे शामको रुढ़मलजीको देखने आये– देखा १०५° ज्वर और दोनों तरफ गिल्टियाँ निकली हुई। कुछ सन्निपातका-सा असर था। नब्ज ठीक नहीं थी। उन्होंने देखकर कहा– बचनेकी आशा बिल्कुल नहीं है, आजकी रात निकलना कठिन है। सावधान रहना चाहिये। उस समय कैलाशचन्द्रबाबूकी बात ब्रह्मा-वाक्य माने जाते थे। वे कहकर चले गये। रुढ़मलजीने डाक्टर साहबकी

बातें सुन ही ली थीं। उन्हें भागवतका प्रसंग स्मरण हो आया।

श्रीरूढ़माजी संस्कृतके पण्डित थे। भागवत पढ़ा करते थे। भागवतके माहात्म्यमें एक जगह नारदजीने श्रीसनकादिसे उनकी प्रशंसामें यह कहा कि 'आप सदा बालक रूपमें इसलिये बने रहते हैं कि आप 'हरिः शरणम्' मन्त्रका जप नित्य करते हैं।' श्रीरूढ़मलजीको वह प्रसंग स्मरण हो आया। उन्होंने अपने सेवक गोविन्दको बुलाया और कहा—'गंगाजल लाओ, शरीर पोछेंगे।' गंगाजल आ गया। उन्होंने अँगोछेको गंगाजलमें भिगोकर सारा शरीर पोंछवाया। कमरा बंद करके भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्ति सामने रख ली और श्रीकृष्णमें मन लगाकर 'हरिः शरणम्' मन्त्रका जप करने लगे। बारह घण्टेतक तो वे जप करते रहे, पीछे उन्हें स्मरण नहीं रहा कि क्या हुआ। लगभग चार बजे जब चेतना हुई, तब उन्हें लगा—शरीर हल्का है, बुखार नहीं है। उन्होंने टटोलकर देखा—दोनों गिल्टियाँ भी गायब है। तब उन्होंने उठकर एवं चलकर देखा—बिल्कुल स्वाभाविकता अनुभव हुई। तब उन्होंने कमरेका दरवाजा खोला और नौकरको आवाज दी। नौकर आया और सेठजी अपने दैनिक कृत्यमें लग गये। अब वे बिल्कुल स्वस्थ थे।

दूसरे दिन प्रातःकाल सर कैलास चन्द्र बोस श्रीरूढ़मलजीके पड़ोसमें एक अन्य रोगीको देखने आये। रोगीको देखनेपर डाक्टर साहबने सेठजीके परिवारके एक सज्जनसे पूछा—आप लोग रात्रिमें कितने बजे श्मशानसे लौटे? उन्होंने पूछा—किसकी अन्त्येष्टिकी बात कह रहे हैं? डाक्टर साहब बोले—श्रीरूढ़मलजीकी हालत रात्रिमें बहुत अधिक खराब थी; रात्रिमें उनका शरीर शान्त हो गया होगा और अन्त्येष्टि भी हो गयी होगी। आपको पता नहीं चला क्या? सेठजीने कहा—हमें तो कुछ भी पता नहीं है। तब डाक्टर साहब पता लगाने श्रीरूढ़मलजीके घरपर आये। आते ही उन्होंने देखा कि श्रीरूढ़मलजी चाँदीकी चौकीपर चाँदीके थालमें पीताम्बर पहने प्रसाद पा रहे हैं। उन्हें इस प्रकार खाते देख डाक्टर साहबको बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उन्हें लगा—इन्होंने रात जैसे-तैसे निकाल दी है और अब थे सन्निपातकी अवस्थामें खाने बैठ गये हैं। डाक्टर साहबने पूछा—सेठजी! किसके कहनेसे खा रहे हैं? सेठजी बोले—जिसकी दवासे ठीक हुए हैं? इतना सुननेपर भी डाक्टर साहबको लगा—ये सन्निपातमें ही बोल रहे हैं। डाक्टर साहब घरवालोंको सावधान करके चले गये कि आपलोग ख्याल रक्खें, ये सन्निपातमें खा रहे हैं। पर

श्रीरूढ़मलजी तो पूर्ण स्वस्थ हो गये थे। उन्होंने छककर प्रसाद पाया और पूर्ण स्वस्थ रहे।

पीछे श्रीरूढ़मलजीने स्वयं पूरी बात सुनायी कि जब डाक्टर साहबने कह दिया कि रात्रि निकलनी कठिन है, तब हमें मरनेका सोच तो रहा नहीं। भागवत-माहात्म्यके अन्तर्गत श्रीनारद-सनकादिका प्रसंग स्मरण हो आया और हमने श्रीसनकादिके प्रिय मन्त्र 'हरिः शरणम्' का जप शुरू कर दिया।

ये जितने भी मन्त्र हैं, यदि ठीक विश्वासपूर्वक इनका जप किया जाय तो इनका फल हाथोंहाथ नवीन प्रारब्धका निर्माण कर देता है। फलदानोन्मुख कर्मके बीचमें ये अपना फल दे देते हैं। ऐसे अनेकों प्रसंग मैंने देखे, सुने तथा अनुभव किये हैं।

प्रार्थना से रोग नाश

बहुत पुरानी कलकत्तेकी बात है। मेरे एक बंगाली मित्र थे, वे नास्तिक थे। वे हमेशा भगवान्‌का खण्डन करते। एक बार वे बहुत बीमार हो गये। बहुत दवा लेते रहे पर अच्छे नहीं हुए। डाक्टर बीमारी असाध्य बताने लगे। एक दिन मुझे बोले– भाई! तुम भगवान्-भगवान् करते हो, तुम्हारे भगवान्‌से प्रार्थना करो। मैंने उनसे कहा– तुम्हीं करो, पर करना विश्वासपूर्वक। बोले– अच्छे हो जायेंगे? मैंने ऐसे ही कह दिया– विश्वासपूर्वक करोगे तो अवश्य अच्छे हो जाओगे। उन्होंने भगवान्‌से प्रार्थना की। कुछ ऐसा चमत्कार हुआ कि दो दिन प्रार्थना करते ही जिस रोगको डाक्टरोंने असाध्य कहा था– वह ठीक हो गया। ठीक होनेपर भगवान्‌को मानने लगे, पहलेवाली न माननेकी बात उन्होंने छोड़ दी।

संगदोष

मेरे एक मित्र कलकत्तेमें थे। बड़े सज्जन पुरुष थे। वे घुड़दौड़में जाया करते थे। घुड़दौड़में जानेके बाद धीरे-धीरे वे क्लबमें जाने लगे। दोष किस तरह आता है –यह बता रहा हूँ। क्लबमें वे जाकर बैठते तो वहाँ उनके मित्र रहते ही, उनसे बातचीत होती। क्लबमें जानेका अर्थ ही है– मनोरंजन करना। कुछ दिनों बाद उनके मित्र कहने लगे– तुम यहाँ आते हो, बातचीत करते हो, हम लोग

खाते हैं तुम कुछ खाते-पीते नहीं, यह अच्छा नहीं लगता। तुम एक काम करो— तुम घरसे खानेका सामान ले आया करो। हमलोग यहाँ बैठकर खायें, तुम अपनी घरकी चीज अपने बर्तनमें निकालकर खा लिया करो। यह बात उनको जँच गई, वे ऐसा करने लगे। अपनी घरकी चीज लाकर अपने बर्तनमें खाने लगे। कुछ दिन बाद फिर मित्र लोगोंने समझाया कि देखो भाई! घरसे रोज-रोज लाते हो, यह अच्छा नहीं लगता। यह कोई कच्ची रसोई तो है नहीं। हमेशा गर्म दाल-चावल थोड़े ही लाना है। यह तो पक्की बनी हुई चीज है, लाकर यहाँ आलमारीमें रख दो। पाँच-सात दिनके लिये एक साथ ले आओ, यहींसे लेकर खा लिया करो। उन्होंने ऐसा ही किया। थोड़े दिन बाद मित्र बोले— तुम लाते हो, आलमारीमें रखते हो, अलग लेकर खाते हो यह अच्छा नहीं लगता। तुम जो चीज खाते हो, वह यहीं बनवा लिया करो, इसमें क्या हर्ज है? तुम्हारे लिये अलग बन जायगी। ऐसा होने लगा, उनके लिये अलग बनने लगी, वे वहीं खाने लगे। होते-होते, विस्तारसे न कहकर संक्षेपमें कहना है— फिर वे अंडा खाने लगे। फिर मांस खाने लगे। वे बिलकुल निरामिष भोजी थे। अंडे, मांससे बड़ी घृणा करते थे। पर होता यही है, पहले उपेक्षा बुद्धि होती है, फिर घृणा निकलती है, फिर उसमें समीचीन बुद्धि हो जाती है, फिर वह आवश्यक लगने लगता है। उसके बिना काम नहीं चलता। इस तरह जीवनमें पाप आ जाता है।

कलकत्तेकी उन दिनोंकी स्थिति

कलकत्तेकी बहुत पुरानी बात मुझे याद है। उस समय व्यापारियोंका बैंकमें बहुत कम काम होता था। दो-एक सरकारी बैंक थे। सेन्ट्रल बैंक, पंजाब नेशनल बैंक, ये पीछे स्थापित हुए थे। कुछ विदेशी बैंक थे। बैंकोंमें केवल जिनके बड़े ऑफिस थे या विदेशियोंके काम होते थे। बाकी सारी लेन-देन नगद रुपयोंमें होती थी। मैं अपनी बात कहता हूँ। हमारा कपड़ेका कारोबार था। रातको बारह बजे, एक बजे, दो बजेतक जमादार लोग नगद रुपयोंकी थैलियाँ झाँकेपर उठाये रातको तंग अँधेरी गलियोंमें लेकर आते। मनमें किसी प्रकारकी शंका ही नहीं थी कि कोई लूट लेगा। आज दिनदहाड़े बैंकमें लूट लेते हैं। हमारा चारित्रिक पतन हो गया है।

इसी तरह स्त्रियाँ पहले अकेली घूमती थीं। कहीं भी घूमें कोई डर-भय नहीं था।

संतप्रवर सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकासे प्रथम मिलन

यों तो मेरे जीवनपर उपनिषदोंका, श्रीमद्भागवतका तथा वैष्णवग्रन्थोंका बड़ा प्रभाव है; महान् आचार्य श्रीशंकराचार्य तथा भगवान् श्रीचैतन्यदेवसे मुझे सर्वाधिक लाभ प्राप्त हुआ है। पर यदि सत्य कहा जाय तो मेरे जीवनपर बहुत बड़ा प्रभाव श्रद्धेय पूज्य श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका है। उनको मेरे पास भगवान्ने ही भेजा था। यद्यपि सम्बन्धमें वे मेरे मौसेरे भाई होते थे, तथापि दूर-दूर रहनेसे मिलनेका काम नहीं पड़ा था। मेरे नानाजी और उनके नानाजी बहुत निकटके भाई थे। लगभग सन् १९१० की बात है, कलकत्तेमें पारख कोठीमें हमलोगोंकी कपड़ेकी दुकान थी। हमारी दुकानके सामने श्रीशिवदत्तरायजीकी दुकान थी, उनके यहाँ श्रीसेठजी आया करते थे। मेरे पिताजी वहाँ जाया करते थे। फिर पिताजीके साथ हमारी दुकानपर वे स्वयं आने लगे और उन्होंने मुझे अपनी ओर खींचा। मेरी भी उनकी ओर रुचि बढ़ी। उन दिनों जब-जब वे कलकत्ता आते तो गणेशदास किशनचन्द नामकी फर्म थी, उनके यहाँ हनुमानबक्सजी गोयन्दका मुनीम थे— उनकी गद्दीमें वे ठहरा करते। उनके चाचा आदि, शायद जोखीरामजी नाम था (पूरा याद नहीं) वे तुलापट्टीमें रहते थे, दलाली करते थे— उन्हींके यहाँ भोजन किया करते थे। मैंने फिर ज्वालाप्रसादजी कानोड़ियासे कहा कि आप भी जाया करें। ज्वालाप्रसादजी भी जाने लगे, वे भी हमारे सत्संगियोंमें प्रधान हुए। और भी मैंने दो-चार व्यक्तियोंसे कहा, वे भी जाने लगे।

कुछ समय बाद राजनैतिक गतिविधियोंके कारण हम लोग गिरफ्तार हो गये। हमारेपर केस तो चला नहीं, केसके लिये तो पुलिसको प्रमाण नहीं मिले। डिफेंस ऑफ इंडिया एक्टके अन्तर्गत हमलोगोंको नजरबंदीमें रखा गया। हमलोगोंसे पूछा गया— कौन कहाँ रहेगा? सेठजीके सम्पर्कके कारण मैंने कह दिया— बाँकुड़ा। मुझे बाँकुड़ा से चौबीस मील दूर एक छोटा-सा गाँव शिमलापाल है, वहीं रखा गया। वहाँ जाते समय मैं बाँकुड़ा गया तो सेठजीके पास ही ठहरा। उस समय सेठजी और उनके मामाजीका एक साथ ही व्यापार था। सेठजीकी राजनीतिमें रुचि नहीं थी। वे जब-जब कलकत्ता जाते मेरी दादीजीसे जरूर मिलते— घरपर जाकर मिलते।

सामाजिक गतिविधियाँ

कलकत्तामें हम कुछ मारवाड़ी नवयुवकोंने मिलकर एक गुप्त समितिकी स्थापना की। उस समितिका उद्देश्य राजनीतिक नहीं था, सामाजिक तथा सेवा करना था, परन्तु उसके सारे कार्य गुप्त रखे जाते थे। हमारी जो मारवाड़ियों (नवयुवकों) की छोटी-सी समिति थी— उसमें भी चार भाग थे। जो चौथा भाग था वह तो केवल सामाजिक कार्य करता था, राजनैतिक कार्य करता ही नहीं था। तीसरा भाग जो था उसको कुछ-कुछ राजनैतिक गतिविधिका पता था। पता भले ही था पर वह भाग नहीं लेता था। दूसरे भागवाले लोग बाहरसे सहायता करते थे। जो प्रथम श्रेणीके थे उनको अपने समितिके कार्योंका पूरा पता था। सबके जिम्मे अपने-अपने काम बँटे हुए थे।

गुप्त समितिमें हम लोग लगभग पच्चीस लड़के थे। जिसमें सदाचार-संयमके नियम पालन कराये जाते थे और समाज-सुधारपर ठोस विचार तथा कार्य होते थे। वह गुप्त समिति भी प्रधान रूपसे सामाजिक कार्य ही करती थी। समाजमें सुधार करना है। हमारे समाजके नेता बड़े प्रतिष्ठित लोग थे, उनका हमारे प्रति सम्मान था, हमारा उनके प्रति सम्मान था। पर उस समय बचपनका जोश था, नौजवानी थी, सुधार चाहते थे। हमलोगोंमें तय हो गया कि अमुक कार्य करवाना है और हमारी उस समितिमें चुने हुए ऐसे लड़के थे जिनमें इतनी शक्ति थी कि हमारी समितिमें जो तय हो गया वह बात समाजके बड़े-बड़े लोगोंको माननी पड़ेगी— ऐसा कुछ ढंग बैठ गया था।

उस समितिके अन्तरंगमें एक समिति और बनी। वह राजनीतिमें रुचि रखती थी, पर वह राजनीति शुद्ध राजनीति थी— काँग्रेसतक जानेकी।

उसके अन्तरंग एक और समिति बनी, वह विप्लववादका समर्थन करती थी। उसका हिंसामें विश्वास था।

चौथी समिति थी उसमें शपथ आदिके कड़े-कड़े नियम थे। यह काम हमारा चल रहा था, मैं उसमें जो चौथी गुप्त समिति थी उसका सदस्य था। मारवाड़ियोंमें तो हम प्रथम थे, बंगालियोंमें तो कहीं दूरमें रहे होंगे। प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका भी उसी समितिमें थे, जो बादमें कलकत्ता हाईकोर्टके वकील बने।

जहाँतक मुझे याद है, इस (समिति) के सदस्य थे– श्रीज्वाला- प्रसादजी कानोड़िया, श्रीफूलचन्दजी चौधरी, श्रीरामकुमारजी जालान, श्रीरामेश्वरजी मुरारका, श्रीविलासरायजी डालमिया, श्रीबनारसीप्रसादजी झुनझुनवाला, श्रीमुरलीधरजी सराफ, श्रीप्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका, श्रीनागरमलजी मोदी, श्रीबैजनाथजी केडिया, श्रीबैजनाथजी धानुका, श्रीमहावीरजी शर्मा, श्रीरामप्रसादजी शर्मा, श्रीकेदारनाथजी पांडिया, श्रीशंकरलालजी रूंगटा, श्रीहरिवक्षजी सांवलका, श्रीरंगलालजी जाजोदिया, श्रीमदनलालजी डालमिया, श्रीआनन्दरामजी जालान, हनुमानप्रसाद पोद्दार। हमलोगोंका एक साथी था– कन्हैयालाल चितलांगिया।

श्रीज्वालाप्रसादजी समितिके प्रमुख थे। हमारी इस समितिमें श्रीशंकरानन्दजी नामक एक मद्रासी महात्माकी बड़ी सहायता मिलती थी। इस समितिके कुछ सदस्योंका बंगाली क्रान्तिकारी समितिसे सम्बन्ध था, जिसमें श्रीविपिनचन्द्र गांगुली, श्रीवैद्यनाथ विश्वास आदि प्रधान थे। उनके साथमें कुछ सदस्य सहयोग कर कुछ काम सँभालते थे। इसी समितिके एक दूसरे विभागके सदस्योंमें श्रीघनश्यामदासजी बिरला, श्रीओंकारमलजी सराफ, श्रीरामकिशनजी मोहता, श्रीमोतीलालजी झँवर, श्रीमोतीलालजी जाजोदिया, श्रीमहादेव डालमिया आदि भी सदस्य थे। समितिकी बैठकें श्रीफूलचन्दजी चौधरीके बगीचे, बेलूर तथा बिरला कोठी, लिलुआमें हर सप्ताह हुआ करती थीं। श्रीघनश्यामदासजी बिरला और श्रीओंकारमलजी सराफ उस समितिमें थे जो राजनीतिमें कुछ-कुछ रुचि रखते थे।

* * * *

समितिके अतिरिक्त बाहर भी कई समितियाँ– संस्थाएँ थीं, जैसे मारवाड़ी सहायक समिति, साहित्य सम्वर्धिनी समिति, हिन्दू क्लब आदि, जिनके द्वारा सेवाके सामाजिक तथा प्रकाशनादिके कार्य हुआ करते थे। 'मारवाड़ी सहायक समिति', वह तो पब्लिक समिति थी। बादमें इसीका नाम 'मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी' हो गया। उस समय एक बड़े त्यागी सदाचारी गृहस्थ महापुरुष थे– श्रीलक्ष्मीनारायणजी मुरोदिया। इनसे बहुत बड़ी प्रेरणा मिलती थी। ये महात्मा आगे चलकर श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अनुयायी होकर उनकी सेवामें रहने लगे थे।

क्रान्तिकारी गतिविधियाँ

डाक्टर श्रीहजारीलाल माहेश्वरीके कथनानुसार किसी समय किसी अंशमें मेरा क्रान्तिकारी जीवन था और लगभग पौने दो वर्ष बंगालके एक गाँवमें मैं नजरबन्दके रूपमें भी रहा था, पर आज न तो वह जीवन है, न वह काल है। उस समय देशभक्ति व्यापार नहीं था, वह बाजारमें बिकती नहीं थी। देशभक्ति सिद्ध करनेके लिये कारागारके प्रमाणपत्रकी आवश्यकता नहीं थी। वह था मातृभूमिकी स्वतन्त्रताके लिये बिना किसी आशा-आकांक्षाके जीवनको उत्सर्ग कर देनेका निर्मल भाव। हजारों-हजारों उगते और चढ़ते सूर्य-जैसे नवयुवकोंने अपनेको उत्सर्ग कर दिया था मातृभूमिकी बलिवेदीपर। सामने चमकनेवाले बहुत हैं, पर जिन्होंने अपना रक्त दिया और मातृभूमिकी स्वतन्त्रताके प्रासादके जो नींवके रोड़े बने, उन्हें कोई नहीं जानता।

* * * *

उस जमानेकी बात दूसरी थी। उस समय था केवल 'विशुद्ध त्याग' और आज है उसके स्थानपर 'अधिकार'की माँग। आज राष्ट्रीयताके नामपर जातिवाद, भाषावाद और प्रान्तवाद चल रहे हैं। अधिकारका भूखा नेतृत्व बुरी तरह झगड़ रहा है एवं निरीह विद्यार्थी एवं जनताको भड़काकर उनके द्वारा देशको लजानेवाले उपद्रव यत्र-तत्र करवाये जा रहे हैं।

हम एक ही ईश्वरको माननेवाले, एक ही भारतमें रहनेवाले एक-दूसरेपर घृणित प्रहार कर रहे हैं। यह हमारे लिये बड़ी ही अशोभनीय और दुर्भाग्यकी बात है। नहीं पता, इसका क्या परिणाम होगा? भगवान् सबका मङ्गल करें, सबको सद्बुद्धि दें। भगवान्‌की प्रार्थना ही एकमात्र उपाय है, और कोई उपाय रह ही नहीं गया है।

* * * *

बंगालमें क्रान्तिकारियोंके उस समय भिन्न-भिन्न स्वरूप थे। उसमें हिंसाको स्थान था। कुछ लोग हिंसाके समर्थक थे, कुछ हिंसा करते थे। उसमें कहीं भी किसी प्रकारका व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं था, बिलकुल शुद्धभाव था।

केवल बदनामीके, जेलके, कष्टके, घरवालोंके द्वारा तिरस्कार पानेके अतिरिक्त कहीं कुछ किसी प्रकारसे मिलनेकी संभावना थी ही नहीं– कल्पना ही नहीं थी। केवल देना ही देना था। बड़ी समिति कोई एक नहीं थी– संगठन देशव्यापक नहीं था। अलग-अलग संगठन थे। सबका उद्देश्य एक ही था। उस समय संगठनमें भिन्न-भिन्न प्रकारके भेद भी थे, पर सबमें त्याग था।

मुझे याद है बहुत पुरानी बात। कलकत्तेसे उस समय एक पत्र निकलता था– 'युगान्तर', बंगलामें निकलता था। 'युगान्तर' निकला तबसे मैं उसका नियमित पाठक रहा और युगान्तरके लेखोंका मुझपर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसकी भाषामें एक शक्ति होती थी। विवेकानन्दके छोटे भाई थे– भूपेन्द्रनाथ दत्त, वे उसके सम्पादक थे। क्रान्तिकारी पत्र था।

पहले वह साप्ताहिक पत्र था। साप्ताहिक होनेपर भी उसकी भाषा अग्निमयी होती थी। निकलते ही सम्पादक तो गिरफ्तार होता नहीं था, प्रकाशक, मुद्रकको गिरफ्तार करके जेल भेज दिया जाता। इसके लिये हर सप्ताह जेल जानेके लिये एक व्यक्ति चाहिये। 'युगान्तर' में एक विज्ञापन निकला प्रति सप्ताह जेल जानेके लिये हमें एक नवयुवक चाहिये। आप विश्वास नहीं करेंगे– इसके लिये हजारों आवेदन पत्र आ गये। अब सबको कैसे जेल भेजा जाय। फिर उन्होंने कहा– अपने खूनसे लिखकर आवेदन-पत्र भेजो। हजारों आवेदन-पत्र अपने खूनसे लिखकर आ गये। यह उनका कितना उज्ज्वल त्याग था। सच पूछिये तो आज उनकी याद करके मनमें बड़े गौरवका अनुभव होता है। इस स्वराज्य महलकी नींवके पत्थर तो वे थे जिन्होंने अपना जीवन दे दिया, बलिदान कर दिया। आज उन लोगोंका नाम कोई नहीं जानता।

प्रेस एक्ट बननेके बाद 'युगान्तर' पब्लिकमें बंद हो गया। उसीके लिये सबसे पहले प्रेस एक्ट बना। वह फिर गुप्त रूपसे निकलने लगा। उसपर लिखा रहता था– 'युगान्तरेर मूल्य फिरंगीर काटा मुण्ड'। इसका अर्थ है कि युगान्तरका मूल्य है 'अँग्रेजका कटा सिर'। युगान्तरमें लिखनेवाले बहुत बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान थे। छिपकर दूसरे नामोंसे लिखते थे– सर गुरूदास बनर्जी, सर चन्द्रमाधव घोष। ये दोनों उस समय कलकत्ता हाईकोर्टके बड़े विख्यात जज थे। ऐसे लोग लिखते थे। उसकी भाषामें आग होती थी– यह

मेरा अपना अनुभव है। भाषा इतनी वीरत्वपूर्ण होती थी कि खूनमें सनसनी पैदाकर देती थी। उसको हमलोग पढ़ने बैठते तो दस-बीस पंक्तियाँ पढ़ते-पढ़ते ही खून उबलने लगता और मनमें आता जल्दी-से-जल्दी देशके लिये मर जायँ। फाँसी हो जाय। मरणोन्माद पैदा हो जाता था।

वह विप्लववादका जमाना था। मेरी भी उस समय रुचि विप्लववादी थी। यद्यपि घरके संस्कार ऐसे नहीं थे पर रुचि हो गई थी। एक ऐसी (और) पत्रिका निकलती थी—'सन्ध्या'। स्वदेशी आन्दोलनमें सबसे पहले मेरा परिचय 'सन्ध्या' के सम्पादक श्रीब्रह्मबांधव उपाध्यायसे हुआ। उसके पश्चात् पं. गणपति काव्यतीर्थ, श्रीश्यामसुन्दर चक्रवर्तीसे परिचय हुआ। उसी समय बंगालके प्रसिद्ध लेखक श्रीसखारामगणेश देउस्करसे मेरी जान-पहचान हुई और उनकी 'देशेर कथा' नामक पुस्तक मैंने पढ़ी। जब श्रीअरविन्द बड़ौदासे आये और कालेज स्क्वायरमें अपने मौसा श्रीकृष्णकुमार मित्रके यहाँ रहते थे तब मैंने उनसे भेंट की और मेरा उनसे काफी परिचय हो गया। मैं उनके 'कर्मयोगिन' नामक अँग्रेजी और 'धर्म' नामक बंगला साप्ताहिक पत्रोंको बड़े ध्यानसे पढ़ता रहा। 'वंदेमातरम्' तो पढ़ता ही था। श्रीबंकिमबाबूके 'आनंदमठ' नामक उपन्याससे भी देशको परतंत्रताकी बेड़ीसे छुटकारा मिले, इस प्रकारकी मुझे बड़ी प्रेरणा मिली। जब अलीपुर जेलमें कन्हाईलाल दत्तने नरेन्द्र गोस्वामीका वध किया, श्रीखुदीराम बोस तथा प्रफुल्ल पकड़े गये और खुदीराम फाँसीके तख्तेपर चढ़ते समय 'वंदेमातरम्' का घोष किया तथा क्रान्तिकारियोंका कार्य बड़े जोरसे चलने लगा। उस समय श्रीयतीन्द्रनाथसे मेरी जान-पहचान हुई और मैं उनकी एक समितिमें प्रतिज्ञाबद्ध सदस्य बन गया। समितिका नाम मुझे ठीक याद नहीं पड़ता। शायद 'स्वदेश बांधव-समिति' था। इसका बाह्यरूप कुछ दूसरा था और भीतरी दूसरा। सभी लोगोंको गीता हाथमें लेकर प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि और निःस्वार्थ भावसे देशके लिये प्राणत्याग करनेका व्रत लेना पड़ता था। ईश्वरमें पूर्ण विश्वासके साथ देशकी सेवाके द्वारा ईश्वरकी सेवा करनेका ही पाठ पढ़ाया जाता था। नास्तिकताका संकल्प ही नहीं था और गीताके निष्काम कर्मयोगकी शिक्षा दी जाती थी। उस समयसे मैं क्रान्तिकारियोंके साथ थोड़ा-बहुत काम करता रहा।

* * * *

हमलोग उस समय बचपनमें आपसमें बात करते, हमको कब फाँसी होगी। यह मैं अपनी बात कहता हूँ। छोटे बच्चेपर क्रान्तिकारियोंके साथ रहनेसे ऐसी भावना बन गई कि हमें फाँसी हो तो बड़ा अच्छा। अमुकको फाँसी हो गयी, अमुकको फाँसी हो गयी– अपनेको भी देशके लिये फाँसी हो जाय तो अच्छा। अब भला कोई फाँसी चाहता है क्या? पर उस समय फाँसी बड़े गौरवकी चीज हो गई– देशके लिये मर जाओ। फाँसीमें जहाँ गौरव-बुद्धि नहीं है, वहाँ तो फाँसीके नामसे डर लगता है।

* * * *

मैं आपको अपने दलकी डकैतीकी बात सुनाऊँ। चरित्र उस समय कितना ऊँचा था। डाका डालते थे, पर डाका डालते थे वहाँ जहाँपर बहुत धनवान लोग होते थे। मैं तो कभी डकैती करने गया नहीं, क्योंकि सच्ची बात मेरी डकैती करनेकी हिम्मत ही नहीं परन्तु मेरेसे बड़ी उम्रके जो साथी थे– वे लोग जाया करते थे। वे क्यों जाते थे? बंगालमें उस समय विप्लववादियोंका जोर था– उसके लिये पैसे चाहिये। चंदा उस समय लोग देते नहीं थे– विप्लववादियोंसे लोग डरते थे। कुछ लोग छिप-छिपकर देते थे। कुछ लोग छिपकर सहानुभूति भी रखते थे। कमाई उनकी कुछ थी नहीं तो क्रान्तिकारियोंके खर्च करनेके लिये पैसा कहाँसे आये? इसलिये सोचा जाता कि जिनके पास बहुत रुपये हैं उनके घरोंसे वसूल किया जाय।

बड़ी विचित्र बात सुनाता हूँ आपको। वे नौजवान लड़के पिस्तौल आदि लेकर डाका डालने जाते। किसीके घरमें गये तो देखा, घरमें बूढ़ी दादी, माँ हैं– तो उनके चरणोंमें जाकर प्रणाम किया। वे पूछतीं– बेटा, कैसे आये। तब वे सच्ची बात कहते– माँजी, देशके लिये धनकी जरूरत है और हमलोग देशके लिये आपकी सेवामें आये हैं। धनकी भिक्षा माँगने आये हैं– डाका डालनेका नहीं कहते। हमें पता लग गया है कि आपके घरमें आवश्यकतासे अधिक धन हैं। आप अपनी इच्छासे हमें जो कुछ दे दें– हम लेकर चले जायेंगे। पुरुषोंसे कहते– यदि नहीं देगे तो हम जबरदस्ती ले जायँगे। आपका धन पवित्र हो जायगा– वह देशके काममें आ जायगा। इस प्रकार कहकर वे यदि कुछ दे देते तो जो भी दे देते उसीमें सन्तोष करके

लौट जाते। डाका नहीं डालना, किसीको सताना नहीं। यदि वे लोग नहीं मानते तो पिस्तौल निकाल लेते। पिस्तौल निकालकर माताओंसे कहते— आप तो अलग हो जाओ— आप हमारी माँ हो। तुम हमारी बहिन, बेटी हो, तुम भी अलग हो जाओ। पुरुषोंसे निबटना है और उनसे कहते— चाबी दो। चाबी लेकर जितना मिलता उसे ले जाते। परन्तु मजाल नहीं कि एक पैसा भी उसमेंसे अपने काममें लेते। मैं यह नहीं कहता कि यह पद्धति अच्छी थी। हिंसाकी पद्धति तो खराब ही है पर उनका भाव बड़ा ऊँचा था। वह भाव आज है ही नहीं। आज तो देशभक्त भी पहले सोचता है कि मुझे क्या मिलेगा? उस समय उन लड़कोंको क्या मिलता था। उनको मिलता था— अपमान, घरवालोंका तिरस्कार। घरवाले उन्हें घरसे निकाल देते थे। उन्हें मिलते थे— पुलिसके डंडे, बिजलीके झटके और फिर जेल हो जाती थी या फँसी हो जाती। यह सब वे हँस-हँसकर सह लेते थे।

उस समय मनमें बहुत उमंग थी। किसी भी बदलेकी, अधिकारकी, कीर्तिकी, यशकी, इन क्रान्तिकारियोंके मनोंमें किसी प्रकारकी कल्पना भी नहीं थी। विशुद्ध देशसेवा और देशके लिये चुपचाप प्राणोंका परित्यागकर देना उनका उद्देश्य था। इनको स्वराज्य-प्रासादकी नींवके रोड़े कहा जा सकता है। सामने चमकनेवाले तो पीछे बहुत निकले और आगे चलकर तो जेल जाना उच्चपद तथा भौतिक सुखका कारण हो गया और बड़ी प्रशंसा लोगोंको मिलने लगी। उस समय समाजमें प्रंशसा नहीं थी, तिरस्कार था। कुछ भी बदलेमें मिलनेकी आशा नहीं थी, तथापि युवकोंके अंदर देशको स्वाधीन करनेकी जो अदम्य लालसा थी, उसने उनको यहाँतक ऊँचा उठा दिया कि फँसीकी तो बार-बार चाह होती थी। देशके लिये हमें कब फँसी होगी, यह लोग चाहा करते थे और फँसीकी सजा सुननेके बाद फँसी होनेके दिनतक आठ-आठ सेर तक खून बढ़ जाता था। कन्हाईलाल दत्तका उदाहरण इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

* * * *

रोड़ा काण्ड

पाठकोंकी जानकारीके लिये श्रीरघुनाथप्रसादजी सिंघानियाका भाईजीको दि. २५ अगस्त, १९५४ ई. को लिखे पत्र का कुछ अंश नीचे दिया जा रहा है –

सन् १९१४ की घटनाका इतिवृत्त –

रोड़ा कम्पनीके नामसे बन्दूक बनानेवालोंका एक फर्म था। उस फर्मसे पिस्तौलोंका चोरी हो जाना बंगालमें क्रान्तिकारी कार्योंमें वृद्धिका सबसे प्रमुख कारण था। २६-८-१९१४ बुधवारके दिन जिस क्लर्कके जिम्मे कस्टम ऑफिससे बन्दूका और गोलियोंके पार्सल छुड़ानेका कार्य था, उसने २०२ पेटियोंको वहाँसे छुड़ाया पर अपने मालिकके बन्सी टोर्ट रो स्थित गोदाममें वह सिर्फ १९२ पेटियोंको ही लेकर आया। उसके बाद वह यह कहकर, वहाँसे चला गया कि बाकी बची हुई पेटियोंको लेकर वह वापिस आ रहा है। वह फिर कभी नहीं लौटा। तीन दिनके बाद इस घटनाकी रिपोर्ट पुलिसमें दी गई। उन दस बक्सोंमें पचास माउजर पिस्तौलें थीं और उनमें काम आनेवाली ४६००० गोलियाँ थीं। ये पिस्तौलें बड़ी साइजकी थी अर्थात् ३०० बोर की थी और प्रत्येक पिस्तौलपर नम्बर दिया हुआ था, जिसका रेकार्ड रोड़ा एण्ड कम्पनीके पास था।

सरकारी अधिकारियोंके पास इस बातका पक्का प्रमाण मौजूद था कि बंगालके नौ विभिन्न दलोंको इनमेंसे चौबालिस पिस्तौलें उसी समय बाँट दी गई थीं और उन पिस्तौलोंको उसके बादके चौवन डाकों और हत्या-काण्डेंमें व्यवहारमें लाया गया था। यह बात आसानीसे कही जा सकती है कि, अगस्त १९१४ के बाद बंगालमें शायद ही कोई क्रान्तिकारी घटना ऐसी घटी हो जिसमें रोड़ा कम्पनी की इन पिस्तौलोंको व्यवहारमें नहीं लाया गया हो। पुलिसने बड़ी सरगर्मीकि साथ इनमें से ३१ पिस्तौलोंकों बंगालके विभिन्न भागोंसे प्राप्त किया था। यह विवरण सन् १९१८ में भारत सरकार द्वारा प्रकाशित सेडिशन कमेटीकी रिपोर्टके पृष्ठ ६६ पर छपा है। पर यह रिपोर्ट इस विषयमें बिलकुल मौन है कि किन-किन लोगोंने इस कार्यको संपादन करनेमें योगदान दिया था।

मैंने इस सम्बन्धमें हिन्दू महासभाके सुपरिचित बाबू आशुतोष

लाहिड़ीसे ता.१३ मार्च, १९५४ को मुलाकातकी उन्होंने जो बातें बताई वे यह हैं—

रोड़ा कम्पनीमें जो क्लर्क काम करता था उसका नाम श्रीशचन्द्र मित्र था। उस समय मलंगा लेनमें क्रान्तिकारियोंका एक बहुत बड़ा केन्द्र था। जिनके नेता श्रीविपिनबिहारी गांगुली और श्रीअनुकूलचन्द्र मुखर्जी थे। श्रीशचन्द्र मित्रने इस दलके अनुकूलबाबूसे कहा कि अनुकूलदा, इस समय रोड़ा कम्पनीमें जो माल आया है वैसा आजतक कभी नहीं आया। अच्छा मौका है, चाहो तो माल तुमको दिया जा सकता है। इनमें स्वीकृति मिलनेपर उसने बचा हुआ माल दो बैलगाड़ियोंपर लादा। बैलगाड़ीके गाड़ीवानकी जगहपर क्रान्तिकारियोंमेंसे ही दो व्यक्ति थे। पन्द्रह-बीस आदमी चारों तरफ सारे रास्तेभर विभिन्न जगहोंमें खड़े होकर इन गाड़ियोंकी चौकसी कर रहे थे। श्रीशचन्द्र मित्र पैदल गाड़ीके साथ थे और उन्होंने सारा माल निरापद अवस्थामें मलंगा लेन पहुँचा दिया। इसके बाद उन्होंने कहा कि अनुकूल दा मेरेसे जो हो सका, माल तुम लोगोंको पहुँचा दिया अब मेरे लिए करनेके लिए कुछ नहीं है। अब मैं जाता हूँ, मुझसे फिर कभी भेंट नहीं होगी। तबसे आजतक चालीस वर्षोंमें ही उनका पता नहीं। कोई कहता है कि वे रंगपुरमें जाकर खेती करने लगे और कोई कहता है कि वे संन्यासी हो गये।

मलंगा लेनसे वह माल गोकुलचंद बड़ाल लेनके एक मकानमें जहाँ श्रीभुजंगधर रहते थे लाया गया। वहाँपर सारा माल खोला गया, छोटी-छोटी टुकड़ियोंमें मालका विभाजन किया गया और नई-नई ट्रँकोमें भरकर घोड़ा गाड़ियोंके द्वारा उस मालको विभिन्न स्थानोंमें पहुँचाया गया।

उस समय मार्क्स स्क्वायरके पास एक मारवाड़ी लॉज था और उसीमें रहकर प्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका वकालतका कोर्स पढ़ते थे। इनका और इनके श्रीनागरमलजी मोदी, श्रीफूलचंदजी चौधरी एवं ओंकारमलजी सराफका सम्बन्ध पहलेसे मलंगा लेनवाले दलसे था। जब माल भुजंगके यहाँसे नाना स्थानोंमें भेजा जाने लगा तब इन लोगोंने भी यह कहा कि कुछ माल ये लोग बड़े बाजारमें सुरक्षित रख सकेंगे।

इसपर आशुबाबू आदि माल लेकर घोड़ा-गाड़ीमें नाईटोलेके पास

आये। पहलेके निश्चयके अनुसार ये लोग भेष बदलकर प्रतीक्षा कर रहे थे। शायद ओंकारमलजी दरबानके भेषमें थे। गाड़ी पहुँचते ही माल शानके साथ उतार लिया गया। और उसीके लिए नाई टोलेमें लिये गये एक कमरेमें ही रखा गया। यहाँ सिर्फ कारतूसें ही रखी गई थी, पिस्तौलें शायद उनके संरक्षणमें नहीं दी गई थी। इन लोगोंने कुछ माल चन्दन नगर भी भेजा। आशुबाबूने कहा कि इस ग्रुपमें श्रीफूलचंदजी चौधरी सबसे अधिक Sincere और कर्मठ व्यक्ति थे। उन्होंने चार ही नाम बताये और कहा कि अन्य लोगोंके विषयमें मेरी जानकारी विशेष नहीं है। मेरा सम्बन्ध इन्हीं चार व्यक्तियोंसे था।

इसके बाद भी मेरा अन्वेषण जारी रहा और मुझे यह पता लगा कि भारत सरकारने सी.आई.डी. के लोगोंकी जानकारीके लिये गुप्तरूपसे पाँच सौ पृष्ठोंकी एक पुस्तक प्रकाशित की थी। उस पुस्तकका नाम 'Political Trouble in India 1907-1917' है। उस पुस्तकसे जो पता लगा वह यह है–

(१) कस्टम हाउससे जिस व्यक्तिने पिस्तौलें और कारतूस गायब कर क्रान्तिकारियोंको सौंपा, उसका नाम श्रीशचन्द्र मित्र था।

(२) सारी बक्सें सात बैलगाड़ियोंपर लादे गये जिनमेंसे छः गाडियाँ कम्पनीके गोदाम पहुँची। सातवीं गाड़ीको लेकर श्रीशचन्द्र मित्र गायब हो गया। इस गाड़ीपर ५० पिस्तौलें और ४६००० कारतूस थे।

श्रीशचन्द्र मित्रपर इसके पहलेसे पुलिसको सन्देह था। और इस घटनाके चार मास पहले उसके घरकी तलाशी भी ली गई थी। यह तलाशी कलकत्तेमें दो यूरोपियनोंकी हत्याके षड्यन्त्रके सम्बन्धमें थी। सदैवकी तरह पुलिसको अपनी जाँच पड़तालमें सर्वसाधारणका कोई सहयोग नहीं मिला। जिन आदमियोंने देखा भी था, सबने इस सम्बन्धमें अपनी अज्ञानता ही सूचित की और जिन गवाहोंने जिन लोगोंके नाम बताये थे, वे उन आदमियोंको अदालतमें दिखाये जानेपर मजिस्ट्रेटके सामने पहचान नहीं सके।

१५ जुलाई, १९५५ को एवं उसके पश्चात श्रीरघुनाथप्रसादजी सिंघानियाको लिखे पत्रोंमें भाईजीने अपने क्रान्तिकारी जीवनकी बहुत-सी बातें लिखी है। पत्रोंके कुछ अंश प्रस्तुत हैं —

गीताप्रेस, गोरखपुर
१५ जुलाई, १९५५

प्रिय श्रीसिंहानियांजी,

सप्रेम हरिस्मरण। ... ...

सन् १९१४ की घटनाका इतिवृत्त जो आपने लिखा है, वह बिलकुल सत्य है। क्लर्कका नाम जहाँतक मुझे याद है श्रीशचन्द्र मित्र था। इस घटनाके कुछ दिनों बाद हमारी दूकानमें, जो पारखजीकी कोठीमें थी, तलाशी हुई थी, पर मेरे श्वसुर श्रीमंगतूरामजी सरावगीका पुलिसवालोंके साथ कुछ सम्बन्ध था और उनके प्रयत्नसे वे सब कागजात उस समय दबा दिये गये थे। भाई फूलचंदजी चौधरीके मकानमें पिस्तौलोंके बंडल मिलनेकी बात जहाँतक मैं समझता हूँ सर्वथा निर्मूल है। यों सम्भव है उनके घरमें कोई पिस्तौल रहा हो, सो पिस्तौल तो हम लोगोंमेंसे कइयोंके पास थे। रोड़ा कम्पनीके पिस्तौल, जहाँतक मुझे मालूम है, हम लोगोंको नहीं दिये गये थे। बंगालियोंमें ही बाँट दिये गये थे। कारतूस कई जगह सुरक्षित रखे गये थे और उनके रखवानेमें कई लोगोंका हाथ था। पं.बाबूराव विष्णु पराड़कर भी उनमेंसे एक थे। यद्यपि वे हमारी समितिके सदस्य नहीं थे।

१३४, हरिसन रोड, शिवठाकुर गली, नाई टोला, कन्नूलाल लेन तथा एकाध जगह और भी कारतूस रखे गये थे। श्रीफूलचंदजी चौधरीके घरमें कारतूस नहीं मिले थे। जहाँतक मुझे मालूम हैं श्रीओंकारमलजी सराफ दरवानके वेशमें कहींपर भी कभी नहीं थे। नाई टोलावाले मकान और कन्नूलाल लेनवाले मकानमें कारतूसोंके उतरवाने और रखवानेका काम करनेवाला था सुखलाल नामक हमारा अत्यन्त विश्वस्त जमादार। पहले उसके दो मामा कालीचरन और शिवदीन हमारे यहाँ रहते थे, फिर वह रहने लगा। उन्नाव जिलेके नारायणदासखेड़ा नामक गाँवका वह निवासी था। बड़ा बहादुर और विश्वस्त आदमी था। नाईटोलाके मकानमें और

कन्नूलाल लेनके मकानमें उसीने कारतूस रखवाये थे और वही उन्हें हटवानेके काममें भी प्रधान था। उसीकी सहायतासे चंदननगर भी कुछ माल भेजा गया था। मेरा तो उसमें इतना ही हाथ था कि मेरे जमादारने यह सब काम किया और कारतूसोंके दो ट्रंक श्रीबनारसीप्रसादजी झुझुनूवालाकी गद्दीमें जो चितपुर रोडमें थी, आये थे। वहाँसे दोनों पेटियोंको झाँकेपर बनारसीबाबूने ओंकारमलजी सराफकी सूतापट्टीके मकानमें पहुँचा दिया गया था और वहाँसे दूसरे झाँकेमें वे पेटियाँ हमारी दूकानपर आयी थीं। यह अनुमानतः रात्रि ७ से ९ बजेके बीचमें काम हुआ था। उन पेटियोंके कारतूसोंको कन्नूलाल लेनमें रखवाया गया था। रोडा कम्पनीके इस काँडसे तो मेरा, ओंकारमलजी सराफका और श्रीबनारसीप्रसादजी झुझुनूवालाका इतना ही सम्बन्ध था। बनारसीबाबू जिस झाँकेपर सूतापट्टी माल पहुँचा गये थे, वह झाँकेवाला पुलिसको नहीं मिला। परंतु श्रीओंकारमलजीके घरसे हमारी दूकानपर जो झाँकेवाला आया था, वह पुलिसको मिल गया। इसलिये ओंकारमलजीका और मेरा इस घटनाके साथ सम्पर्क पुलिसको मालूम हो गया था। बनारसीबाबू और सुखलालके सम्बन्धमें पुलिसको कभी, कुछ मालूम नहीं हो सका। इसके बाद सन् १९१६ के मार्च या अप्रैलमें सी.आई.डी. के एक बंगाली पुलिस आफिसरने श्रीफूलचंदजी चौधरीसे भेट की और उन्हें बतलाया कि किसी बंगाली क्रान्तिकारी युवकने पुलिसके सामने सारा भेद खोल दिया है और उसमें आपलोगोंके नाम है। नामोंमें श्रीफूलचंदजी चौधरी, प्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका, ज्वालाप्रसादजी कानोड़िया, घनश्यामदासजी बिरला, ओंकारमलजी सराफ और हनुमानप्रसाद पोद्दार, ये नाम बताये और उसने कहा कि दस हजार रुपये हमें दे दिये जायँ तो हम उन सारे कागजोंको नष्टकर दें। सलाह हुई। रुपये देनेकी बात हम लोगोंको नहीं जँची। इसके विपरीत कांड हुआ। फूलचंदजी चौधरी आफिशियल एशायनी आफिसमें काम करते थे। उसके बड़े साहब फूलचंदजीको बहुत मानते थे और वे बड़े साहब शायद पुलिस कमिश्नर (शायद मिस्टर टेगर्ट) के बहनोई लगते थे। फूलचंदजीने अपने बड़े साहबसे कहा कि इस तरहसे सी.आई.डी. का अमुक कर्मचारी रुपये ठगनेके लिये हम लोगोंपर इलजाम लगा रहा है, इसकी जाँच होनी चाहिये। सोचा गया था कि इससे मामला दब जायगा

परन्तु पुलिस कमिश्नरने जाँच करके उस अफसरको तो मुअत्तलकर दिया पर हमलोगोंके सम्बन्धमें उनकी धारणा दृढ़ हो गयी कि इनका सम्पर्क इस घटनासे अवश्य रहा है। अतएव हमलोगोंको गिरफ्तार करना सुनिश्चित हो गया। प्रभुदयालजी तो जहाँतक मुझे याद है पहले ही गिरफ्तार हो गये। घनश्यामदासजी बम्बई थे और जहाँतक मुझे याद है श्रीवैजनाथजी केडियाको उनके पास भेज दिया गया था कि वे जाकर उनसे सारी बातें बता दें और वे फिर जैसा उचित समझें, अपने लिये व्यवस्था करें। मालूम हुआ था कि वे हमलोगोंकी गिरफ्तारीके समय गुप्त रूपसे दक्षिण, उटकमंड चले गये थे और पीछे कैलाशचंद बोसके प्रयत्नसे उनको गिरफ्तार करनेका संकल्प बंगाल सरकारने त्याग दिया और वे उटकमंडसे लौट आये। संक्षेपमें ये बातें हैं।

क्रान्तिकारी दलसे तो मेरा सम्बन्ध था और क्रान्तिकारी आन्दोलनमें यथासाध्य सम्मिलित भी था, परन्तु रोडा कंम्पनीके इस कांडसे मेरा इतना ही सम्बन्ध था जितना ऊपर मैं लिख चुका हूँ।

अँग्रेजी सरकार द्वारा गिरफ्तारी – अलीपुर जेलमें

सन् १९१६ में बंगालकी अँग्रेजी सरकारने मुझे गिरफ्तार किया था। एक धारा थी– 'Waging war against the king', जिसका अर्थ होता है–'बादशाहके विरूद्ध युद्ध-घोषणा करना'। यह धारा लगाकर हमलोगोंको गिरफ्तार किया।

मेरी गिरफ्तारी शायद १ अगस्त १९१६ को या इससे दो-तीन दिनों पहले हुई थी और उस समय मैं बिरला सराफ कम्पनी, क्लाइव स्ट्रीटके आफिसमें था। गिरफ्तार होनेके बाद लगभग पन्द्रह दिन तो मैं डुलेंडर हाउसमें रखा गया। उस समय बहुत अधिक गिरफ्तारियाँ हुई थीं। डुलेंडर हाउसकी सारी कोठरियाँ भरी थीं। उस समय बंगालमें लगभग सोलह सौ व्यक्ति गिरफ्तार हुए थे। गिरफ्तारीमें मेरे साथ प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका, कन्हैयालाल चितलांगिया, ज्वालाप्रसादजी कानोडिया, फुलचन्द चौधरी, बाबूराव विष्णु पराड़कर और ओंकारमल सराफ थे। घनश्यादासजी बिड़लापर भी वारण्ट था पर वे गिरफ्तार नहीं हुए, उटकमंड चले गये, फिर वहाँसे वारण्ट रद्द हो गया। उस समय मेरे साथ

अलग-अलग कोठरियोंमें श्रीफूलचंदजी चौधरी और ज्वालाप्रसादजी कानोड़िया भी थे। पन्द्रह दिन वहाँ रखनेके बाद हमलोगोंको अलीपुर जेल भेज दिया गया और वहाँ एकान्त कोठरियोंमें रखा गया। शायद चौदह दिन वहाँ रहे। एक महीना तो मुझे कलकत्तेके डुराण्डा हाउस और अलीपुर जेलमें रखा।

पहले-पहल जेलमें पहुँचा तो वहाँ मन घबराया। जवान था, चौबीस वर्षकी उम्र थी। घबराहट हुई तो मनमें आया भगवानका नाम जपें। उससे पहले भगवानका कुछ नाम तो घरमें भी मैं लेता था—मेरी दादी भी नाम-जप करती थी, पिताजी भी जप किया करते थे पर मेरा इतना अभ्यास नहीं था। वह एकान्त कोठरी थी, बाहर ताला लगा हुआ था। बुद्धि भी नहीं। सोचा, बिना मालाके कैसे जपें? जेलमें सींखचोंके सामने एक संतरी पहरा दे रहा था—प्रौढ़ उम्रका यू.पी.का हिन्दू ब्राह्मण था। मैंने उसको बुलाया और कहा कि एक माला दे दीजिये, मुझे जप करना है। उस पहरेदारके अलावा दिनभरमें और कोई दिखाई नहीं देता था। वह कोठरी एकान्तमें थी। उसने कहा—माला तो मैं ला नहीं सकता। मेरे पास तो माला है नहीं, और जेलमें कहाँसे लाऊँ? उसने एक युक्ति बताई। वह युक्ति मेरे ध्यानमें आई नहीं। मैं भी कर सकता था पर बुद्धिमें वह बात आई नहीं। उसको मैं गुरू मानता हूँ। उसने कहा— अँगुलियोंपर गिनती कर लो और जब १०८ पूरे हो जायँ तो एक मैं लोहेकी कील देता हूँ उससे दीवालपर एक लकीर खेंच दो, एक माला हो गई। मैंने कहा—ठीक है। उसने मुझे लोहेके सीखचोंके अन्दर एक कील दे दी। इस प्रकार मैं अलीपुर जेलमें जप करने लगा। लम्बे कालतक नाम-जपका अभ्यास पहले-पहल वहाँ जेलमें हुआ। वह जेलका अभ्यास फिर नजरबंदीमें चला।

इस बीचमें कई बार पुलिसके इंटेलिजेंस डिपार्टमेंटमें मुझको ले जाया गया पर धमकानेके सिवा 'उम्रभरकी कैद दी जायगी, फाँसी होगी, घरवाले भूखों मरेंगे, तुम्हारा अभी-अभी विवाह हुआ है, तुम्हारी पत्नीकी बड़ी दुर्दशा होगी, पुलिसवाले मारेंगे' इत्यादि रूपसे धमकाया गया, परन्तु मुझको कहीं किसी अफसरने न तो मारा और न कोई अन्य कष्ट दिया। मैंने सुना कि कुछ बंगाली तरुणोंको बिजलीके धक्के दिये गये थे और मारा भी गया था। जहाँतक मुझे मालूम है श्रीज्वालाप्रसादजीको भी सताया

नहीं गया परन्तु फूलचंदजी चौधरीको उनके घर पंजाब प्रान्तमें भेज दिया गया था और पंजाबकी पुलिसने उनको बहुत कष्ट दिया था। उसके बाद सरकारने केस नहीं चलाया, केसके लिये पुलिसको पूरे प्रमाण नहीं मिले—यद्यपि प्रमाण थे, पर पुलिसको मिले नहीं। बिना प्रमाणके केस चल नहीं सका। तब सरकारने हमें 'डिफेंस आफ इंडिया एक्ट'में नजरबंद कर दिया। हमलोगोंसे पूछा गया—कौन कहाँ रहेगा? सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) के सम्पर्कके कारण मैंने कह दिया—बाँकुड़ा।

शिमलापालमें नजरबंदी एवं साधना

ता. २७ अगस्त (सन १९१६) को मुझे बंगाल गवर्नमेंटके सेक्रेटरी श्रीकमिंग महोदयका एक आर्डर मिला जिसमें मुझे बाँकुड़ा जाकर बाँकुड़ा जिलेमें शिमलापाल नामक स्थानमें रहनेका आदेश था और उस आर्डरमें कहा गया था कि डी.आई.जी. महोदयके बताये हुए समयपर तुम बाँकुड़ाके पुलिस सुपरिंटेंडेंटसे मिलो और वे बाँकुड़ा से चौबीस मील दूर एक छोटा-सा गाँव शिमलापालमें जब जहाँ रहनेको कहें, रहो। आर्डर देकर मुझको छोड़ दिया गया और मैं घर आ गया और उसी रातको घरसे चलकर बाँकुड़ा पहुँचा और श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पास ठहरा। दूसरे दिन २८ ता. को पुलिस सुपरिंटेंडेंटसे मिला। उन्होंने मुझे शिमलापालमें जाकर अमुक मकानमें रहनेका आदेश दिया।

अब तो वहाँ बाँकुड़ासे बस जाती है पर उस समय तो बैलगाड़ीसे जाना पड़ता था। दो स्थानोंपर छोटी-छोटी नदियाँ पार करनी पड़ती थी। अब तो नदियोंपर भी पुल बन गये हैं। रातको नौ बजे बाँकुड़ासे रवाना हुआ तो दूसरे दिन बारह बजे पहुँचा। वहाँके पुलिस अधिकारीके बताये हुए छोटे-से झोपड़ेमें जिसको उन्होंने पहलेसे तैयार कर रखा था, रहने लगा। वहाँ मैं लगभग पौने दो सालतक रहा। सरकार अस्सी रुपये महीना खर्चके लिये देती थी। तीस रुपया मुझको और पचास रुपया कलकत्तेके मेरे घरवालोंको। उस समय बहुत सस्ती चीजें थीं, इसलिये तीस रुपया मेरे लिये बड़े ठाट- बाटसे रहने योग्य थे। तीस रुपयेमें उस समय मैं राजाकी तरह रहता था। मैं अकेला कितना खाता, तो बाकी जो पैसा बचता वह वहाँ गरीबोंमें बाँट देता। वहाँपर भी मेरे पास कभी पैसा बचता

बचता वह वहाँ गरीबोंमें बाँट देता। वहाँपर भी मेरे पास कभी पैसा बचता नहीं था। इतना ही नहीं, शिमलापालमें गेहूँ, आटा, मूँगकी दाल नहीं मिलती थी। और सब चावल आदि तो मिलते थे—चावल डेढ़ रुपयेका एक मन और बढ़िया चावल उस समय तीन रुपयेका एक मन मिलता, दूध दो पैसेका सेर, घी एक रुपयेका पौने दो सेर मिलता। एक पैसेका चावल कई दिनतक चलता। तो मेरे लिये गेहूँका आटा, दाल, देशी चीनी, आचार, पापड़ आदि ये मारवाड़ी घरकी चीजें श्रीजयदयालजी गोयन्दका और श्रीशिवबक्सजी बाजोरिया बराबर बैलगाड़ीमें भेजते रहते। बिना किसी डर या संकोचके पौने दो सालतक भेजते रहे।

मेरे गिरफ्तार होनेके बाद कलकत्तेमें घरपर कोई पुरुष नहीं था। केवल मेरी बूढ़ी दादी, मेरी माँ, पत्नी और दो छोटी बहिनें थी। पैसा पासमें था नहीं। दादीजीने सब सँभाला, एक पैसा किसीसे लिया नहीं। घरवाले, परिचयवाले, मित्र-दोस्त सब अलग हो गये—किसीने घरवालोंसे सम्पर्क नहीं रखा। समाजके अच्छे-अच्छे लोग जिनसे मेरा सम्पर्क था, उन लोगोंने घरवालोंसे मिलना बंद कर दिया। उन लोगोंने चुपकेसे दादीजीको कहला दिया कि हमारे पास कोई तुम्हारा आदमी न आवे। इसका यह अर्थ नहीं है कि परिवारवालोंके मनमें द्वेष आ गया था। प्रेम था, पर भय इतना था कि इनसे सम्पर्क रखनेमें हमारेपर विपत्ति न आ जाय। यहाँतक भय था कि हमारी 'साहित्य-संवर्द्धिनी समिति' थी, उसने गीता प्रकाशित की थी। गीताके मुख-पृष्ठपर हमलोगोंने भारतमाताका चित्र छापा था जिसके एक हाथमें गीता थी, दूसरे हाथमें तलवार। हमारी उस समितिके मन्त्री नारायणदासजी बाजोरिया थे। इतना भय हुआ कि उनके चाचाजी श्रीरामलालजीने वह गीता जला दी, क्योंकि उसके ऊपर वैसा चित्र था। श्रीजयदयालजी गोयन्दका जब-जब बाँकुड़ासे आते, तब मेरी दादीसे अवश्य मिलते। इनके अतिरिक्त उस समय दादीसे मिलकर उनके सुख-दुःखकी बात पुछनेवालोमें 'कलकत्ता समाचार'के सम्पादक पं.झाबरमलजी शर्मा, श्रीरामकुमारजी गोयनका, श्रीबनारसीप्रसादजी झुन्झुनूवाला और श्रीमोतीलाल जाजोदिया थे। इन लोगोंकी उस समयकी यह सहानुभूति मुझे हमेशाके लिये उन लोगोंका कृतज्ञ बनाये हुए हैं।

शिमलापाल छोटा-सा गाँव था, सब बंगाली-ही-बंगाली थे। केवल

पुलिसमें दो सिपाही बिहारके और एक यू.पी.के थे। शिमलापालमें रहते-रहते लोगोंसे बड़ी आत्मीयता हो गयी और वह मेरा घर-सा बन गया। मेरेसे सभी बड़ा प्रेम करते, घरका व्यक्ति मानते। पासमें ही थाना था तो पहले तो प्रतिदिन प्रातः सात बजे थानेमें जाकर हाजिरी देनेका नियम था, मेरी डाक भी पुलिसके मार्फत आनेका नियम था, पर बादमें मैं इतना हिलमिल गया कि जब थानेदार बाहर रहता तो उसका सारा काम मैं करता। थानेदार श्रीराजाराम मण्डल और उसके परिवारके लोग मुझे अपने घरका ही सदस्य मानते। डाक मैं खोलता, उत्तर मैं लिखवाता, लिखनेवाले मेरे नीचे काम करते। रजिस्टर मैं लिखता। मेरे लिखे हुए रजिस्टर अभीतक वहाँ पड़े हैं। अभी कुछ वर्ष पहले मैं गया था तो देखे थे। छः महीनेमें ही वहाँसे मेरी अच्छी-से-अच्छी रिपोर्ट जाने लगी। रिपोर्ट भेजनेवाले तो थानेके ही लोग थे तो मेरे आचरणके बारेमें जो भी रिपोर्ट सरकारके पास जाय, वह बढ़िया-से-बढ़िया जाने लगी। सरकारको इससे विश्वास हो गया कि यह आदमी राजनीतिक तो जरूर है, क्रान्तिकारी भी है, पर बेईमान नहीं है।

वहाँपर एक छोटी-सी झोपड़ीमें रहता था। कच्ची जमीन, उसपर छानछाई हुई थी, दिवालें भी कच्ची थी। अभीतक वह झोपड़ी वैसी ही है। उसका तीन रुपये किराया देता था। सरकार पचास रुपया मासिक खर्चके लिये घरवालोंको देती तथा तीस रुपये मासिक मेरे को। सरकारका नियम था कि मैं किसी गाँवके बाहरके आदमीसे न मिलूँ। उस ग्रामके आदमीसे भी शामको छः बजेके बाद न मिलूँ। शामको छः बजेसे प्रातः छः बजेतक झोपड़ीसे बाहर न निकला जाय। किसी भी शिक्षा-सम्बन्धी व्यक्तिसे न मिलूँ, चाहे अध्यापक हो या विद्यार्थी। सरकारके मनमें भय था कि कहीं विद्यार्थियोंको बिगाड़ देगा।

वहाँ पहले तो मेरे पास तीन काम थे—नाम जप करना, ध्यान करना और स्वाध्याय करना। रोटी बनानेका तो काम था ही। रोटी तो अपने-आप बनाया करता था। कभी दोनों समय बनाता, कभी एक समय ही बनाता, पर बनाना सीख गया था। अभी भी मैं अपनी रोटी बना सकता हूँ, इतना अभ्यास है। चौथा काम फिर आ गया होमियोपैथिक दवा वितरण करनेका। एक वृद्ध अंग्रेज सिविल सर्जन वहाँ आया करते थे।

वे हर महीने मुझे देखने आते। वे बड़े ही दयालु, साधु-स्वभावके सज्जन पुरुष थे। उन्होंने कहा—तुम यहाँ क्या काम करते हो? मैंने कहा—कुछ नहीं करता। उन्होंने मुझसे कहा कि तुम्हें दो काम बताता हूँ। तुम्हारे पीछे जो जमीन खाली पड़ी है उसमें तुम फूलोंके पेड़ लगाओ। मैं तुमको बीज भेज दूँगा। तुम्हारे पीछे बड़ी सुन्दर फुलवारी तैयार हो जायगी। दूसरा यहाँ आस-पासमें कोई अच्छा डाक्टर नहीं है, तो तुम होम्योपैथिक दवा वितरण किया करो। मैंने कहा कि मैं जानता नहीं और मैंने यह काम कभी किया नहीं। वे बड़े प्रेमसे बोले कि मैं तुम्हें इसके लिये साहित्य भेज दूँगा। मैं हूँ तो एलोपैथिक सर्जन, लेकिन होम्योपैथिक दवा तुम्हें भिजवा दूँगा। तुम भगवानका नाम लेकर निःशंक दवा दिया करना। तुम सफल होओगे—यह आशीर्वाद भी वह वृद्ध पुरुष दे गया। उनका नाम मि.वास था। वे बंगला बोलना जानते थे। उन्होंने फिर मुझे होम्योपैथिक दवाएँ और पुस्तकें भेज दी। फिर मैं यह काम और करने लगा। पुलिसकी लगातार अच्छी रिपोर्ट जानेके कारण सवा साल बाद सरकारने मेरी पत्नीको वहाँ रखनेकी छूट दे दी। तबसे वह मेरे पास रहने लगीं और मैं रसोई (भोजन) बनाने वगैरहसे मुक्त हो गया और साथी मिल जानेसे मुझको भी बड़ा आराम रहा। मेरी पत्नी, जो एक प्रकारसे निराश-सी हो चुकी थी, मेरे पास रहकर बहुत सुखी हो गयी। छः महीने वह भी उसी झोपड़ीमें रही। वह होम्योपैथिक दवाकी पुड़िया बाँधनेमें मेरी मदद करने लगी। वहाँ शिमलापालमें एकबार मेरी दादीजी और मेरे मामा श्रीमेघराजजी बाजोरिया मुझसे मिलने आये थे। सरकारने उनको अनुमति दे दी थी।

वहाँ मुझे नाम-जपके चमत्कार भी देखनेको मिले—एकबार वहाँ मुझे टायफाइड हो गया। वहाँ कोई विशेष डाक्टर, वैद्य नहीं थे। एक बंगाली वैद्य थे, वे बेचारे आया करते। एक पुराने कम्पाउण्डर थे। वे दो-चार दवा अपने पास रखते थे। हमारे पड़ोसमें ही उनका छोटा-सा घर था। वे बराबर आया करते थे। अकेला था, इसलिये एक दिन मनमें घबराहट होने लगी। मनमें आया कि क्या भगवानके नाममें इतनी शक्ति नहीं कि मेरी घबराहट मिटा दे। बस, मैंने जोरसे जप करना शुरू किया। थोड़ी ही देरमें मुझे केवल मानसिक शान्ति ही नहीं मिली, मेरा ज्वर भी उतरने लगा। नाम जपने मेरा ज्वर उतार दिया, मुझे अच्छा कर दिया।

एक और अनुभव हुआ। समाचार मिला कि मेरी दादी कलकत्तामें बीमार हैं और वे मेरेसे मिलना चाहती हैं। वे आनेकी स्थितिमें नहीं थी। नियमानुसार मैं बाहर जा नहीं सकता था और उसके लिये बंगाल सरकारकी आज्ञा चाहिये। कलक्टर भी मुझे भेज नहीं सकते थे। कलक्टरके मार्फत पत्र जाये तब कहीं काम बने। मेरे मनमें बड़ी व्याकुलता हुई और इसी निमित्तसे मैंने भगवानके नामका जप शुरू किया। आप आश्चर्य करेंगे कि एक डिप्टी कलेक्टर मुआयनेके लिये आये। वे कभी-कभी थानेमें आया करते थे। मेरेसे मिलने आये। वे चरगाँवके मुसलमान थे, पर थे बड़े सुहृदय व्यक्ति। उनकी बड़ी पहुँच थी। मैं राजनीतिक बंदी था लेकिन लोगोंके मनमें बड़ा सम्मान था कि ये लोग देशके लिये कष्ट उठा रहे हैं। उस जमानेमें जो राजनीतिक बंदी थे, मैं अपने लिये तो क्या कहूँ, वे सभी स्वार्थ रहित थे। उनका केवल एक ही स्वार्थ था कि देशकी स्वतन्त्रताके लिये अपने प्राण दे देना। अच्छे लोगोंके मनमें उनके प्रति सम्मान था। यद्यपि सरकारका मनमें बहुत डर था, पर मनमें सम्मान था। इसलिये वे थे तो मुसलमान, पर उनके मनमें बड़ी अच्छी भावना थी। उनसे मैंने सारी बातें बताई कि दादी बीमार होनेसे मैं कल ही जाना चाहता हूँ। उन्होंने कहा कि कल ही आर्डर आ जायगा। मैंने कहा—आर्डर तो कलकत्तासे आयेगा, कल कैसे आयेगा? वे बोले कि आप देखिये तो सही। उन्होंने अपनी यात्राके सारे कार्यक्रम स्थगित कर दिये। उसी दिन वे बाँकुड़ा गये और बाँकुड़ासे कलकत्ता गये। कलकत्ते जाकर वे गवर्नरके सेक्रेटरीसे मिले। मिलकर उन्होंने कहा कि ऐसी-ऐसी बात है, मैं देखकर आया हूँ कि उनकी बूढ़ी दादी बीमार है और उसे पन्द्रह दिनोंके लिये जल्दी-से-जल्दी पेरोलपर छोड़ना चाहिये। दूसरे ही दिन आर्डर आ गया। यह मैंने भगवन्नामका चमत्कार देखा। इसी तरह मुझे एक बार और पेरोलपर जानेकी अनुमति मिली। दो बार कलकत्ते गया—एक बार सात दिनके लिये और दूसरी बार पन्द्रह दिनोंके लिये। केवल वहाँ थानेमें जाकर रिपोर्ट करके आ गया कि मैं जा रहा हूँ और लौटकर रिपोर्ट कर दी कि मैं आ गया हूँ।

इसके पश्चात् मार्च (या शायद अप्रैल) १९१८ के शेष सप्ताहमें मुझे बाँकुड़ाके कलक्टरने बाँकुड़ा बुलाया और एक दस्तावेज (बॉण्ड) पर

सही करनेका अनुरोध किया, जिसमें लिखा था कि मैं भविष्यमें किसी भी राजनीतिक आन्दोलनमें भाग नहीं लूँगा। उन्होंने बड़े स्नेहसे मुझे समझाया भी कि तुम्हारे आचरण-व्यवहारसे सरकार बहुत संतुष्ट है। तुम्हें इस प्रकारके कार्योंमें नहीं पड़ना चाहिये। परन्तु मैं उनकी बात मान नहीं सका और मैंने उनसे स्पष्ट कह दिया कि मैं राजनीतिसे अलग रहनेका आपको वचन नहीं दे सकता। मैंने कहा कि मेरी बुद्धिमें अब उग्रता तो नहीं है, पर राजनीतिमें भाग नहीं लूँगा– यह बात नहीं लिखूँगा। उन्होंने कहा– अच्छी बात हैं। इसपर उन्होंने फिर मुझे शिमलापाल लौटा दिया परन्तु उसके बाद ही ४ मई,१९१८ का बंगाल सरकारके एडिशनल सेक्रेटरी श्रीस्टेफेन्सन महोदयका आदेश, मुझे १४ मईको मिला और उसमें यह कहा गया था 'तुम बंगाल छोड़ दो और जबतक दूसरी आज्ञा न मिले फिर बंगालमें प्रवेश मत करो।' पाँच-छः दिन बाद दूसरा आर्डर (सन् १८१८ का ईस्ट इंडिया कम्पनीका एक रेगुलेशन था उसके अन्तर्ग) मुझे बाँकुड़ा आनेपर दिया गया जिसमें मुझे चौबीस घंटेके भीतर बंगाल छोड़ देनेका आदेश था।

मेरी दादीजी आदि कलकत्तामें थी। उनको समाचार भेज दिया कि मैं रतनगढ़ जा रहा हूँ। मैं वहाँसे आसनसोल होकर सीधा रतनगढ़ (राजस्थान) चला गया। कलकत्तासे मेरे परिवारके लोग भी चलकर रास्तेमें मेरे साथ हो गये। मैंने मालवीयजीको पत्र लिखा कि मैं जा रहा हूँ। मालवीयजी मुझे पुत्रवत् मानते थे। उन्होंने बीकानेर महाराजाको पत्र दे दिया कि हनुमानप्रसाद रतनगढ़ जा रहा है, यह राजनीतिक बन्दी रहा है, पर इसे किसी प्रकारसे तंग न किया जाय। यह अपने घरका ही व्यक्ति है। बीकानेर महाराजा मुझे कुछ बोले नहीं। मैं कुछ दिन रतनगढ़ रहा। रतनगढ़ कुछ समय रहनेके बाद भाई श्रीजमनालालजी बजाजके अनुरोधसे मैं बम्बई जाकर रहने लगा और लगभग डेढ़ वर्ष बाद बंगाल सरकारने अपने उस आदेशको वापिस ले लिया।

* * * *

बम्बई का जीवन

कुछ महीने रतनगढ़ रहनेके बाद भाई जमनालालजी बजाजके अनुरोधसे, जिनसे मेरा परिचय कलकत्तेमें ही हो गया था, बम्बई चला गया। घरवाले रतनगढ़ ही रहे। बम्बईमें जमनालालजीने मेरे साथ जैसा सद्व्यवहार किया उसको मैं कभी नहीं भूल सकता। जमनालालजीसे परिचय तो पहलेका था, पर बम्बईमें तो वे (केवल) मेरे परिचित जमनालालजी नहीं थे। जमनालालजी थे मेरे सहायक, मेरे संरक्षक, मुझमें गुण देखकर उनका विस्तार करनेवाले, सच्चे आत्मीय, मेरे दुःख-सुखके साथी, अकारण सुहृद और मेरे अन्तरंग मित्र। उन्होंने मुझे हर तरहसे अपनाया, बढ़ाया और मुझपर इतना विश्वास किया कि अपना हृदय खोलकर मेरे सामने रख दिया। वे अपने जीवनकी, मनकी गुप्त-से-गुप्त बातें मुझे बतलाते, मेरी सुनते, सलाह-परामर्श देते-लेते।

आरम्भमें उन्हींकी हिस्सेदारीमें मैंने शेयर बाजारमें काम शुरू किया। उनके साले तथा प्रधान मुनीम श्रीचिरंजीलालजीकी हिस्सेदारीमें मैंने रूईका काम आरम्भ किया। पीछे 'ताराचन्दजी घनश्यामदास' फर्मके भाई श्रीनिवासदासजी पोद्दारकी, श्रीबालकृष्णलालजीकी हिस्सेदारीमें शेयर बाजारमें काम किया। भगवान्के मंगलमय विधानके अनुसार मुझे व्यापारमें सफलता नहीं मिली, मिलती तो पैसेवालोंका-सा ही जीवन होता, पर श्रीजमनालालजी, श्रीचिरंजीलालजी, श्रीश्रीनिवासदासजी तथा श्रीबाल-कृष्णलालजीने मुझसे जो आदर्श व्यवहार किया, वह सदा स्मरणीय है। मेरे द्वारा श्रीश्रीनिवासदासजी तथा श्रीबालकृष्णलालजीकी आर्थिक हानि हुई, पर उसके लिये उन्होंने कभी एक शब्द भी उलाहनेका तो कहा ही नहीं, मृत्युके अन्तिम क्षणतक दोनों भाई मुझे प्यार ही नहीं देते रहे, मेरा हृदयसे आदर करते रहे।

श्रीर्षस्थ नेताओंसे घनिष्ठ सम्पर्क

बम्बईमें महात्मा गाँधीसे बहुत निकटका घरेलू सम्बन्ध हो गया। वहाँ कई बार वे मेरे घरपर भी आये। वहीं श्रीविट्ठलभाई पटेल, श्रीवल्लभभाई पटेल, श्रीकाका कालेलकर, श्रीविनोबाजी, श्रीदादा धर्माधिकारी, श्रीश्रीकृष्णदासजी जाजू, श्रीउमर सोमानी, श्रीमौलाना शौकतअली, श्रीमौलाना मुहम्मदअली आदि नेताओंसे सम्बन्ध बढ़ा। श्रीजमनालालजीकी पैढ़ीके ऊपर एक बड़ा हाल जमनालालजीने नेताओंके ठहरनेके लिये सुरक्षित कर रखा था। जमनालालजी वर्धामें हों या बम्बईमें, नेतागण उनके हालमें स्वच्छन्द ठहरते। पैढ़ीवालोंको यह आदेश था कि वे नेताओंके लिये खान-पान, बम्बईमें भ्रमण आदिकी तथा आवश्यकता होनेपर रेल-किराया तथा अन्यान्य खर्चकी आदरपूर्वक व्यवस्था करें। जमनालालजी मानो उस समय देशके प्रायः सभी नेताओंके आश्रय-स्थल थे। वे बड़े-बड़े नेताओंके परिवारमें जाकर उनसे घरेलु सम्बन्ध स्थापित करते।

बम्बईमें पूज्य मालवीयजीसे मेरा सम्पर्क बहुत बढ़ा। उनके दो पुत्र श्रीराधाकान्त मालवीय और मुकुन्द मालवीय प्रायः मेरे पास ही रहा करते थे। उस समय मालवीयजी महाराजकी आस्तिकताका कई घटनाओं द्वारा मुझपर बड़ा असर पड़ा।

बम्बईमें ही श्रीकन्हैयालालजी मुंशी, श्रीजिन्ना, श्रीभूलाभाई देसाई, श्रीपुरुषोत्तम दास, श्रीठाकुरदास आदि महानुभवोंसे मेरा न्यूनाधिक निकटका सम्बन्ध हुआ। तिलक महाराजके साथ भी मेरा सम्बन्ध रहा।

उसके कुछ बाद ही महामना पं.मदनमोहनजी मालवीय, डॉ.राजेन्द्रप्रसादजी, बाबू पुरुषोत्तमदासजी टंडन, लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधीजी आदिसे निकटका सम्बन्ध हो गया।

* * * *

सन् १९२१ की बात है। मैं उस समय बम्बईमें था। लाला लाजपतराय आये थे। वे मेरे पास ही ठहरे थे। उस समय जुहूमें एक ज्योतिषि रहते थे। मुझे कौतुहल था, मैं उस ज्योतिषिके पास चला गया।

शामको लौटकर आया तो लाला लाजपतरायने कहा—भैया! तुम कहाँ गये थे? मैंने कहा— जुहू गया था, एक ज्योतिषिके पास। उस समय बहुतसे लोग— सर सी.आर.दास आदि गिरफ्तार हो चुके थे, पर ये अभीतक गिरफ्तार नही हुए थे। लालाजीने कहा—अच्छा ज्योतिषि है? ठीक बताता है? मैंने कहा—बताता तो है। बड़ी विनोदकी भाषामें बोले— यार! कल जाओ तो पूछकर आना लाजपतराय कब पकड़ा जायगा। अब बताइये, यह क्या बात है? यह गिरफ्तार होनेकी इच्छा क्यों? उसमें सुखकी प्रतीति हो गई। महात्मा गाँधीके लेख उन दिनों 'नवजीवन'में प्रकाशित हुए थे कि देशके लिये जल्दी-से-जल्दी गिरफ्तार होना चाहिये। उनके लेखों और व्याख्यानोंके द्वारा उस समय एक ऐसे वातावरणका निर्माण हो गया कि देशके लिये जेल जाना गौरवकी बात हो गई। लाला लाजपतराय सरीखे व्यक्तिके लिये जेल जानेमें गौरवकी भावना हो गई।

संतप्रवर पूज्य सेठजीकी आज्ञा मानकर बम्बईमें सत्संगकी शुरुआत

बम्बई जानेके बाद पूज्य सेठजी (जयदयालजी गोयन्दका) से सम्पर्क और बढ़ा। दो-तीन बार उनको बम्बई बुलाया था। पूज्य सेठजी जब पधारे तो कई दिन सत्संगका लाभ मिला।

लौटते समय वे बोले— यहाँ भी सत्संग चालू रखना चाहिये। प्रश्न आया कि हमेशा कौन बोलेगा? सेठजीने कहा—तुम बोला करो। उस समय मुझे बोलना नहीं आता था। लिखनेका तो कुछ अभ्यास था, पर बोलनेका अभ्यास नहीं था। मेरी हिम्मत बोलनेकी नहीं थी। उनकी आज्ञा मानकर थोड़ा बोलनेके लिये खड़ा हुआ तो पैर काँपने लगे, पसीना आ गया। कुछ दिन बोलनेके बाद कोई दिक्कत नहीं हुई, खूब बोलने लगा—फिर बहुत लोग आने लगे। वहाँ बोलनेसे एक लाभ हुआ। जो बोलना है, वह यदि सचमुच मनसे बोलता है तो बोलनेवालेपर जिम्मेदारी आती है। वह कहता है सत्य बोलो और यदि वह असत्य बोलता है, तो आत्मा उसे कचोटती है तुम किस मुँहसे कहते हो कि सत्य बोलना चाहिये। सत्संगमें बात वही कहनी पड़ती है जो अच्छी हो और अच्छी बात जो कहता है उसके पल्ले पड़ती है। इस तरह मुझे वहाँ बोलनेसे लाभ होता चला गया। कमजोरियाँ तो अपनेमें बहुत हैं, पर लाभ होता गया। वहाँ सत्संग भवन बना।

बम्बईमें सत्संग भवन (श्रीशिवनारायणजी नेमाणीकी बाड़ी) में प्रतिदिन गीतापर मेरा प्रवचन होता। गीताकी पढ़ाई भी होती। सत्संगमें कुछ लोग नियमित रूपसे गीता पढ़ते। सत्संगके लिये प्रतिदिन अच्छी संख्यामें लोग आते। बीच-बीचमें बम्बई तथा बाहरके बड़े-बड़े गणमान्य विद्वान् पुरुष भी आया करते।

वहीं मारवाड़ी विद्यालयमें एक गीता क्लास खोला गया था। वह मैं चलाया करता। बड़ी निष्ठाके साथ विद्यार्थी विद्या अध्ययन करते। उन्हीं विद्यार्थियोंमें हमारे समाजवादी सच्चे नेता, जिनका कुछ ही दिन पहले दुःखद निधन हुआ था, श्रीरामनोहर लोहिया भी थे, जो समय-समयपर अपने भाषणोंमें इसका वर्णन किया करते।

श्रीसेठजी द्वारा ऋषिकेशमें सत्संग

बहुत पुरानी बात मुझे याद आती है, जब गीताभवन नहीं बना था। षिकेशमें कालीकमलीवालेकी स्वर्गाश्रम हमलोग आते भी नहीं थे। धर्मशालामें ठहरा करते थे। वहीं सत्संग होता था। एक बात अवश्य थी, उस समय जो लोग सत्संगमें आते थे प्रायः विशुद्ध सत्संगके लिये ही आते थे और सत्संगकी ही चर्चा होती थी। पूज्य श्रीसेठजीका यह महान् कार्य था। उनके द्वारा कितना कार्य हुआ यह चाहे इतिहासके पन्नोंमें न लिखा जाये पर भगवान्के यहाँ लिखा हुआ है ही। उनके द्वारा कितनोंको कितनी, कैसी प्रेरणा मिली, यह जिनको मिली, वे ही जानते हैं।

निराकारकी साधना एवं स्थिति

भाईजी द्वारा पूज्य सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाको लिखे निम्नलिखित पत्रोंमें इसका विवरण प्राप्त होता है—

मेरे ध्यानकी स्थिति ठीक मालूम होती है। कार्य करते समय समष्टि चेतनमें स्थिति निरन्तर बनी रहती है। यों भी शायद कहा जा सकता है कि कार्य कालमें क्रिया सहित और जो कुछ भी भान होता है वह स्वप्नकी सृष्टिवत् होता है। साथ-ही-साथ यह प्रत्यक्ष-सा भास होने लगता है कि स्वप्नवत् भी नहीं है। वास्तवमें परमात्मा-ही-परमात्मा है। वैसी स्थितिमें

किसी-किसी समय बिल्कुल अचिन्त्य अवस्था हो जाती है, तब कार्यमें रुकावट भी आती है। ध्यान करते समय तो अब प्रायः बाहरके शब्दोंका भी ख्याल नहीं रहता है। सारे आकारोंका अभाव करनेवाली वृत्ति भी शान्त होकर अचिन्त्यके अस्तित्वमें विलीन हो जाती है। केवल बोधस्वरूप आनन्दघन ही रह जाता है। ध्यानके बाद और समय जो स्थिति रहती है, वह ऊपर लिखी गयी है। शरीरको या जगत्‌को साथ मानकर तो शरीरमें स्थिति कभी होती ही नहीं, पर न मालूम क्यों जगत्‌की क्रियाओंमें जो शरीरद्वारा होती है और जो समय-समयपर केवल स्वप्नकी सृष्टि या आकाशके तिरमिरोंके समान ही अपना अस्तित्व रखती है, उनसे भी उपराम होनेकी स्फुरणा होती है। ऐसी स्फुरणा होती है कि ये क्रियाएँ भी न हों तो अच्छा है। आपके साथ या किसी गंगास्थित देशमें रहा जाय तो ठीक है। ऐसी स्फुरणा हुआ करती है। संभवतः यह सब अपनी कमजोरियाँ होंगी, पर ऐसी स्फुरणा होते समय भी जगत्‌का अस्तित्व स्वप्नवत् ही रहता है। यह अच्छी बात है और जो कुछ मेरे लिये ठीक समझें, लिखना चाहिये। ध्यानकी स्थिति निरन्तर गाढ़ बनी रहे, जगत्‌की स्वप्नवत् स्फुरणा भी न हो।

* * * *

……… रातमें सोनेके अतिरिक्त अन्य समयमें अधिकांश कालमें प्रायः इस प्रकारकी भावना हुआ करती है। किसी समय भूल हो जानेपर फिर तत्क्षण भावना जागृत हो जाती है। भूलकी स्थिति अधिक कालतक नहीं रहती है। जगत् स्वप्नवत् मृगतृष्णाके जलवत् प्रतीत होने लग जाता है। इस प्रकारकी स्थिति है। हर्ष-शोकका विकार बहुत ही कम होता है। अब मेरे लिये जो कुछ ठीक समझा जावे उसी तरह करना चाहिये।

पत्र लिखते समय आनन्दमय बोधस्वरूप परमात्मामें प्रत्यक्षवत् स्थिति है। कलमसे अक्षर लिखे जा रहे हैं। लिखनेकी जो स्फुरणा हो रही है, वह सच्चिदानन्दके अन्तर्गत कल्पित रूपसे भास रही है। कभी-कभी यह भी नहीं भासती। एक परमात्माके अतिरिक्त किसी वस्तुके अस्तित्वका अनुभव नहीं रह जाता—मानो अनन्त जलके अथाह समुद्रमें एक बरफ

पिण्डके आकारकी प्रतीति हो रही थी, वह भी मिट गयी, केवल जल ही जल रह गया ········ फिर भी कलम चल रही है, लिखी जा रही है। हाँ, बोध स्वरूप आनन्द, भूमानन्दमें स्थितिमें कोई अन्तर आता हुआ नहीं दीखता। स्थिति क्या है, वह लिखी नहीं जा सकती ······· बहुत देर बाद फिर लिखनेकी स्फुरणा-सी अनुमान होती है, पर भाव उसी तरह है ······· इस समय जैसी स्थिति है, वह सदा ऐसी नहीं रहती। बीच-बीचमें कुछ परिवर्तित-सी दीखती है, पर परिवर्तनकालमें भी अधिक-से-अधिक इतना ही परिवर्तन होता है– अचिन्त्यकी स्थितिमें एक प्रकारके अनुभवगम्य आनन्दकी स्थिति तथा इससे भी कुछ नीचे आनन्दकी स्थितिसे द्रष्टाकी स्थिति होती है, काम करते समय जिस समय विषयोंकी स्फुरणा होती है, उस समय उस शरीरके सहित और सारे विषय अपने समष्टि, सर्वव्यापी चेतन स्वरुपमें कल्पित भ्रमवत ही प्रतीत होते हैं, पर प्रतीत अवश्य होते हैं। हाँ, कभी-कभी इस तरह होते-होते विषयोंके अस्तित्वकी प्रतीति भी सर्वथा नष्ट हो जाती है। कोई वृत्ति अवशिष्ट नहीं रहती। एक अनुपम, अनिर्वचनीय, अप्रमेय आनन्दकी इन्द्रिय, मन, बुद्धिसे अतीतकी अवस्था प्राप्त हो जाती है। वह अवस्था पीछे अच्छी तरह स्मरण भी नहीं रहती, विस्मृत भी नहीं होती, शब्दोंमें उसका वर्णन नहीं कर पाता ········।

* * * *

बम्बईमें मैं श्रीसेठजीके बताये अनुसार अचिन्त्य ब्रह्मका ध्यान करता था। मैं उसमें निपुण था। मेरी ऐसी स्थिति थी कि मैं व्युत्थान कालमें भी जगतको ब्रह्ममय देखता था। मुझे यह कहना नहीं चाहिये। समष्टिमें स्थापना करके मैं व्यष्टिके अपने कार्योंको देखा करता। यह मेरी उस समय स्थिति थी, अब वैसी बात नहीं है। अब तो भगवान् राधाकृष्णने सब कुछ छीन लिया। उसका फल मिल गया।

* * * *

दादीजी श्रीरामकौरदेवीका देहावसान

बम्बईमें ही मेरी दादीजी श्रीरामकौरजीका देहावसान हुआ।

वहीं रहनेके समय मेरी छोटी बहिन श्रीपुरनीबाई तथा चन्दाबाईके विवाह हुए।

भगवान् रामके दर्शन

बम्बईकी बात है। मैं श्रीसागरमल गनेड़ीवालेके साथ सूरदासका नाटक देखनेको जानेवाला था। सागरमलका घर रास्तेमें ही था। सागरमलने कहा—चलो घर चलकर पानी पी ले। मैंने स्वीकार कर लिया और हम दोनों उसके घर पहुँचे। घर पहुँचनेपर श्रीभगवन्नामके सम्बन्धमें बात चल पड़ी। सागरमलका कहना था कि भगवन्नाम जप, भगवत्-स्मृतिके साथ होनेसे ही विशेष फल होता है। मैं कहता था कि नहीं, किसी भावसे जाने या अनजानेमें अन्त समय यदि ''रा'' और ''म'' ये दो अक्षर मुखसे निकल गये तो प्राणीकी सद्गति होगी ही। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इस मंत्रके अक्षरोंमें ही ऐसी शक्ति है। यह सुनकर सागरमलने कहा—राम (RAM) का अर्थ अँग्रेजीमें मेंढ़ा होता है। यदि कोई अँग्रेज मरते समय मेंढ़ेके भावसे ''राम'' पुकार उठे तो क्या उसकी सद्गति हो जायेगी? उसके ज्ञानमें रामका अर्थ मेंढ़ेके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। बोलो, क्या उत्तर हैं? मैंने कहा—मेरे विश्वासके अनुसार तो उसकी गति हो ही जानी चाहिये। यह बात हो ही रही थी कि हठात् मेरा बाह्य ज्ञान जाता रहा। मेरे नेत्र तो खुले हुए थे, पर बाहरसे कुछ भी होश नहीं रहा। नेत्र खुले हुए मैं ज्यों-का-त्यों उसी स्थानपर बैठा रहा। मुझे इतना स्मरण है कि उस समय मुझे बनवेषधारी भगवान् श्रीराम, लक्ष्मण और सीताके दर्शन हुए। कितनी देरतक दर्शन होते रहे, यह याद नहीं। बातें भी हुई थीं, पर सब बातें स्मरण नहीं रही। केवल दो बातें याद रहीं। एक तो भगवान्‌ने कहा था—किसी प्रकार भी नाम लेनेवालेकी सद्गति ही होगी। दूसरी यह कि भगवान्‌ने भक्त विष्णुदिगम्बरजी गायनाचार्यका इसी सिलसिलेमें नाम लिया था। इसके अतिरिक्त और कुछ भी याद नहीं रहा। होश आनेपर दूसरे दिन सागरमलने मुझसे कहा कि तुम उस समय कह रहे थे कि 'यह भगवान् हैं,

इनके चरण पकड़ लो' आदि-आदि। पर मुझे न तो बाहरका ज्ञान था, न मैंने अपने ज्ञानमें कुछ कहा ही था। अस्तु, इस प्रकार सारी रात बीत गयी। मुझे बाह्यज्ञान नहीं हुआ। अब सागरमल घबड़ा गया कि इसे क्या हो गया? आखिर उसने मेरा हाथ पकड़कर खड़ा किया, पकड़े हुए ही मुझे सीढ़ियोंसे नीचे उतार लाया। फिर उसी तरह मेरे घर मुझे ले आया। घर आनेपर मुझसे कहा कि शौच हो आओ, पर मुझे तो बिल्कुल ही होश नहीं था कि बाहर क्या हो रहा है। इसलिये मैंने उसे कोई उत्तर नहीं दिया। मुझे उसी तरह बाह्यज्ञान शून्य देखकर उसने मुझे पानीके नलके नीचे बिठा दिया। मेरे सरपर जलकी धार गिरने लगी और स्वयं सागरमलजी नाम-कीर्तन करने लगे। तब जाकर मुझे कहीं धीरे-धीरे बाह्यज्ञान हुआ। उसी दिन दोपहरके समय श्रीविष्णुदिगम्बरजी मुझसे मिले। मैंने उन्हें सारी घटना सुना दी, सुनकर वे रोने लग गये।

संगीताचार्य श्रीविष्णुदिगम्बरजी पलुस्कर

आप लोग शायद श्रीविष्णुदिगम्बरजीका नाम सुन चुके होंगे। ये संगीतके बहुत बड़े आचार्य, अतुलनीय संगीत कला कुशल रामभक्त थे। बम्बईसे उनसे मित्रता हो गई थी। उन्होंने संगीत सिखानेका 'गान्धर्व महाविद्यालय' खोल रखा था। उनपर भगवानकी बड़ी कृपा थी। उन्होंने जीवनमें यह नियम ले लिया कि विद्यालयमें जो भी संगीत सीखने आयेगा उसको संगीतकी शिक्षा दी जायगी संतोंके पदोंके माध्यमसे। संगीत सीखने मुसलमान भी आते, ईसाई भी आते, पारसी भी आते, हिन्दू भी आते, पर सभीको संतोंके पद गान करने ही पड़ते, और कोई चीज वहाँ नहीं गायी जाती। वे संगीतके अद्‌भुत आचार्य थे। एक-एक शब्दमें राग बदल सकते थे तथा एक ही पदमें वे एक साथ ३६ राग गा सकते थे।

'रघुपतिं राघव राजाराम, पतित पावन सीताराम' इसका गान वे बड़ा ही मधुर करते थे। मेरे आँखों देखी बात है– काँग्रेस अधिवेशनमें गाँधीजी उनको सबसे पहले बुलाते थे और उनका यह गान सबसे पहले होता था, सब गाते थे। उन्होंने इसको नाम दे दिया था– राष्ट्रीय गान। गाँधीजी कहते– यह हमारा राष्ट्रीय गान है। उनके गानेमें इतना माधुर्य था कि हिन्दू,

मुसलमान, पारसी, ईसाई, कोई हो, वह चाहे नामके ढंगसे न गायें परन्तु उनके स्वर-माधुर्यके कारण सब लोग गाते। अहमदाबादके काँग्रेस-अधिवेशनमें जनता बेकाबू हो गई थी— लाखों आदमी थे। मैं भी उस अधिवेशनमें गया था। एक बहुत ऊँचा मंच बना हुआ था— लगभग चालीस फुट ऊँचा होगा— उसपर गाँधीजीने चढ़कर बहुत समझाया, पर शान्ति नहीं हुई। गाँधीजीने कहा— विष्णुदिगम्बरजीको बुलाओ। विष्णुदिगम्बरजी आये और उन्होंने मंचपर चढ़कर 'रघुपति राघव राजा राम' शुरू किया कि सारी जनता शान्त हो गई, स्तब्धता छा गई।

उनका एक नियम और था जो अन्तिम दिनोंतक निभा। वह नियम था कि उनके कानोंमें निरन्तर राम नाम पड़ता रहे। दो-दो घंटे दो-दो विद्यार्थी उनको 'रघुपति राघव राजा राम' सुनाते रहते— रातको सो जाते तब भी सुनाते रहते। यहाँतक कि वे शौच जाते तो बाहर दो विद्यार्थी तानपूरा लिये खड़े-खड़े सुनाते रहते। एकबार कुम्भके समय अपना गीता-ज्ञान यज्ञ हुआ था। उसमें वे आये थे तो वहीं ठहरे थे, उनकी रामायणकी कथा होती थी। नेहरूजीकी माताजी प्रतिदिन उसमें आती थी— आधा घंटा पहले आकर बैठ जाती थी। बादमें उन्होंने एक 'राम नाम आधार मण्डल' बनाया था जिसकी स्थापना नासिकमें हुई थी। यह जो 'पत्र-पुष्प' (भजन संग्रह) का पाँचवां भाग है— इसमें जो पद हैं, ये पद उन्हींके लिये बनाये गये थे। वे इनको गाया करते थे। सबसे पहले उन्होंने इसे गान्धर्व महाविद्यालयसे 'पत्र-पुष्प' के नामसे प्रकाशित किया था। पदोंपर राग भी उन्होंने ही बैठायी थी।

श्रीविष्णुदिगम्बरजी जैसे संगीतके आचार्य मुझे संगीत सिखानेके लिये महीनोंतक आये थे। यह मेरा दुर्भाग्य कि मैंने नहीं सीखा। इतना उनका मेरे प्रति प्रेम था। रामभक्ति रसमें झूमनेवाले और सतत आँसू बहानेवाले श्रीविष्णुदिगम्बरजी धन्य हैं।

* * * *

बम्बई निवासके दौरान संत-महात्माओंसे निकटका सम्पर्क

साथ ही बम्बई निवासके समय ही गंगातट-निवासी श्रीस्वामी अच्युतमुनीजी, श्रीभोलेबाबाजी, श्रीउड़िया (बाबा) स्वामीजी, श्रीहरिबाबाजी, स्वामी शिवानन्दजी, ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजीसे निकटका सम्पर्क हुआ। बम्बईमें आनेवाले अन्यान्य महात्माओंका भी सत्संग प्राप्त हुआ। बम्बईके श्रीरामानुज-सम्प्रदायके आचार्यश्री श्रीअनन्तचार्यजी महाराज, बल्लभ सम्प्रदायके आचार्यश्री श्रीगोकुलनाथजी महाराज मुझे अपना ही मानते तथा स्नेह करते। वहीं श्रीयादवजी महाराज, श्रीकबुभाईजी महाराज आदि सत्संगियोंसे सम्पर्क प्राप्त हुआ। पं. श्रीरमापतिजी मिश्र, पं. श्रीमथुरानाथजी भट्ट, प्रसिद्ध विद्वान श्रीयादवजी, श्रीभीकमजी आचार्य आदि विद्वानोंके सम्पर्कका लाभ मिला। आचार्य श्रीयादवजी मुझपर बड़ा ही स्नेह करते थे।

बम्बईके गणमान्य लोगोंसे स्नेह सम्बन्ध

बम्बईमें कुछ समय बाद मेरा राजनीति तथा समाज-सुधारके कार्योंसे मन हट गया। फिर मैं शुद्ध सत्संग तथा सेवा, शिक्षा सम्बन्धी सार्वजनिक कार्योंमें लग गया। साथ ही मेरा भजन-साधन-ध्यान आदि भी चलता रहा। मैं अभी नवयुवक था, पैसेवाला भी नहीं था और न बहुत पढ़ा-लिखा था, परंतु भगवत्प्रेरणासे बम्बईके धनी, मानी, विद्वान, वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध सभीने मुझे स्नेहदान दिया, सम्मान दान दिया। उनमें थे बम्बई मारवाड़ी समाजके श्रीरामनारायणजी रूइया, श्रीरामेश्वरदासजी बिड़ला, श्रीश्रीरामजी झुनझुनवाला, श्रीआनन्दीलालजी पोद्दार, राजा श्रीगोविन्दलालजी पित्ती, श्रीखेमराजजी बजाज, श्रीलच्छीरामजी चूड़ीवाला, श्रीहजारीमलजी सोमानी, श्रीलक्ष्मणदासजी डागा, श्रीगोविन्दरामजी सेक्सरिया, श्रीकेशवदेवजी नेवटिया, पं. माधवप्रसादजी शर्मा, श्रीरामचन्द्रजी, रामेश्वरजी लोयलका, सालीसीटर श्रीजयनारायणजी दानी।

बम्बईके सेठ लच्छीरामजी चूड़ीवालाकी मेरे प्रति बड़ी श्रद्धा तथा प्रीति थी। उन्होंने मेरे कहनेसे आर्थिक स्थिति बहुत बड़ी न होनेपर भी लाखों रुपये लगाकर लक्षमनगढ़में ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रमकी स्थापना की थी।

नवयुवकोंमें श्रीजमुनालालजी अड़ूकिया, श्रीबैगराजजी गुप्त, श्रीश्रीनिवासजी

बजाज, श्रीचिरंजीलालजी लोयलका, श्रीमहावीरप्रसादजी दधीच, श्रीजुगलकिशोरजी लोयलका, श्रीगुलाबरायजी नेमाणी, श्रीमदनलालजी जालान आदि सभी श्रेणीके लोगोंका मैं प्रेमास्पद तथा सम्मानास्पद बन गया। वहाँकी शिक्षा तथा सेवा-संस्थाओंमें मुझे नगण्यको अग्रगण्य स्थान दिया गया।

बम्बईमें मित्रोंकी प्राप्ति

बम्बईमें कई मित्रोंकी प्राप्ति हुई। श्रीजमनालालजी तो इनमें थे ही, श्रीबनारसीप्रसादजी झुँझनूवाला (जो हमारी कलकत्तेकी गुप्त समितिके सदस्य थे– उस समय बम्बई रहते थे), श्रीरामकृष्ण डालमिया, श्रीश्रीनिवासजी बजाज, श्रीबालकृष्णलालजी पोद्दार आदिसे भी मैत्रीका सम्बन्ध गाढ़ा हो गया। भाई बनारसीप्रसाद, भाई रामकृष्ण तथा मेरा दीर्घकालतक चौका भी साथ चला। भाई रामकृष्णसे जो उस समय प्रेम हुआ, वह उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ चला ही आ रहा है। मेरे प्रति भाई रामकृष्णका जो भाव था, है, उनके उपकार हैं– उसके लिये मैं उनका सदा ही कृतज्ञ हूँ।

भाई रामकृष्णके छोटे भाई श्रीजयदयाल, जिनमें मेरा पुत्रवत् भाव है, छोटेपनसे बम्बईसे ही मेरे प्रति सद्भाव, पूज्यभाव रखते हैं।

पंडित श्रीहरिवक्षजी जोशी

बम्बई जानेके कुछ ही समय बाद ही मुझे वहाँ एक ऐसे विद्वान मित्र मिले, जिनसे मुझे बहुत सहायता मिली। वे हैं पं. हरिवक्षजी (हरीबक्सजी) जोशी। उस समय आप श्रीवेंकटेश्वर औषधालयमें प्रधान वैद्यपर नियुक्त थे। आप निपुण वैद्य तो है हीं, संस्कृतके बड़े विद्वान्, सदाचारी, विनोदी, श्रीमद्भागवतके रसिक विद्वान् हैं। आप मेरे पास कृपा करके आते थे, मुझे भागवत सुनाते थे। आपके साथ घनिष्ठ सम्पर्क बढ़ा, अबतक वह बढ़ता ही चला जा रहा है। आपने मुझे कईबार ऐसे सत्परामर्श दिये जिनको मैं कभी भूल नहीं सकता। आप मेरी स्तुति- निन्दामें अपनी स्तुति-निन्दाका-सा अनुभव करनेवाले मित्र तो हैं ही, सन्मार्गपर चलनेके लिये उत्साह देनेवाले तथा पथ-प्रदर्शक भी हैं। समय-समयपर बड़ी सुन्दर आत्मीयतापूर्वक सम्मति देते रहते हैं।

पंडित श्रीलालजी याज्ञिक

पं.श्रीलालजी याज्ञिकसे बम्बईमें मिलना हुआ। ये बड़े ही आस्तिक, वेदान्तके अभ्यासी विद्वान् महात्मा श्रीअच्युतमुनीजीके शिष्य थे। बड़े सदाचारी, सच्चे पुरुष थे। इन्हींके कारण प्रसिद्ध विद्वान् श्रीगौरीशंकरजी गोयनकासे मेरा निकटका सम्पर्क हुआ। ये बहुत दिनोंतक मेरी साथ ही काम भी करते थे। इनसे मुझे बड़ा स्नेह मिला।

ग्वालियरके महाराजा श्रीमाधवराव सिंधिया

ग्वालियरके पुराने महाराज थे माधवराव सिंधिया। वे बम्बई आया करते थे। मेरी उम्र तो छोटी थी पर मैं उनके पास जाया करता था। वे बड़े सज्जन थे, सहृदय व्यक्ति थे। एक दिन वे बोले– देखो हनुमानप्रसाद, तुमलोग समझते होगे कि हमलोग जो राजा है, ये बहुत बड़े सुखी होंगे। परन्तु तुम हमारी स्थितिमें आओ तब तुम्हें पता लगे कि हमको किस-किस प्रकारके दुःख हैं तुम्हें उन दुःखोंका अनुमान ही नहीं हो सकता, क्योंकि तुम उस स्थितिमें नहीं हो। हमें एक तरफ तो वायसरायको प्रसन्न रखना पड़ता है। किसी भी कारणसे वायसराय अप्रसन्न न हो जाय इसलिये अँग्रेजी नीतिके अनुकूल चलना है। दूसरी ओर प्रजाको प्रसन्न रखना है, तीसरी ओर अपने ऑफिसरोंको प्रसन्न रखना है। चौथी ओर अपने महलको ठीक रखना है। यह तो तुम्हें संक्षेपमें बताया है। तुम विस्तारसे सुनना चाहो तो और भी सुना दूँगा कि हमें कितने दुःख हैं।

साधकको इस दोषसे बचना चाहिये

एक साधु थे। जब मैं बम्बईमें रहता था, उस समय वे आये थे। वे बड़े सज्जन, महात्मा, सब तरहसे योग्य, विद्वान थे। एक बार उज्जैनमें या कहीं किसीने व्याख्यान देते समय उनका तिरस्कार कर दिया था। वह अपमान उनसे भूला नहीं जाता था। बात ऐसी हुई कि अपमान करनेवालेके व्यापारीके फर्मका दिवाला निकल गया। यह सच्ची घटना है। वे महात्मा उस समय बम्बईमें थे। उन्होंने जब दिवाला निकलनेकी बात सुनी तो उनको प्रसन्नता हुई। उन्होंने कहा– देखो, भगवान् न्याय करते हैं। मैं छोटा ही था, सत्संगमें

उनके पास बैठा था। मैंने प्रश्न किया कि महाराजजी! यह सम्भव है कि यह उनके किसी दूसरे पापका फल हो। यह क्या पता कि आपका अपमान किया, उसीका यह फल मिला। वे बोले— हाँ, यह हो सकता है। फिर मैंने कहा कि आपने इस बातको जो यों कहा कि हमारी निन्दाकी थी उसका यह फल मिला, तो आप चाहते थे कि उनको फल मिले। वे बड़े साधु, सरल हृदयके थे। बोले— भाई यह तो तुमने ठीक कहा। यह दोष तो था। मेरे मनको उसकी हानिकी बात सुनकर प्रसन्नता हुई। साधकको इससे बचना चाहिये।

पारसी प्रेतसे साक्षात् मिलन एवं अन्य लोकोंको सम्बन्धमें जानकारी

मैं उस समय बम्बईमें था। साधना प्रारम्भ होनेपर उसमें तीव्रता आने लगी थी। मैं प्रतिदिन सायंकाल भोजन करनेके पश्चात् चौपाटीमें समुद्रके किनारे चला जाता था। बहुत-सी बेन्चें पड़ी रहती थी, वहाँ बैठकर नाम-जप एवं भगवत्चिंतन करता था। एकान्त रहता था, कुछ अँधेरा-सा रहता था। एक दिन मैं बेन्चपर बैठा नाम-जप कर रहा था। अचानक मेरी बेन्चके ठीक सामने मेरे पैरोंकी तरफ एक पारसी सज्जन खड़े दिखायी दिये। पारसियोंके पुरोहित जो विशेष प्रकारकी पोशाक पहनते हैं, वैसी पोशाक पहने हुए थे। बहुत देरतक मैं नाम-जप करता रहा, वे खड़े रहे। फिर सभ्यतावश मैंने कहा— साहेबजी! आप बैठ जाइये, खड़े-खड़े आपको बहुत देर हो गयी। वे बोले— आप डरियेगा नहीं, मैं प्रेत हूँ। यह सुनते ही मैं भयभीत हो गया, मुझे पसीना आ गया। उन्होंने फिर कहा— आप डरिये नहीं, मैं आपका अनिष्ट नहीं करूँगा। मैं आपसे सहायता चाहता हूँ, आपका मंगल होगा। यह सुनकर मैं कुछ आश्वस्त हुआ। उन्होंने कहा— यदि आप पहले मुझसे बात नहीं करते तो मैं बोल नहीं पाता। मुझमें ऐसी ताकत नहीं है कि यहाँके लोगोंसे मैं पहले बोल सकूँ। इसलिये मैं प्रतीक्षा करता रहा कि आप बोलें। प्रेतलोकमें अनेक स्तर हैं, प्रेतोंकी बिभिन्न शक्तियाँ हैं। मैं सब जगह जा सकता हूँ, हर एकको दिखायी दे सकता हूँ, पर मुझसे कोई पहले नहीं बोले तो मैं बोल नहीं सकता। प्रेत-लोकमें मेरी स्थिति अच्छी नहीं है। आप कृपा करके किसीको भेजकर गयामें मेरे लिये पिण्डदान करवा दें तो मेरी सद्गति हो जायेगी। मैंने उनसे कहा— आप पारसी हैं, आप लोग श्राद्धपर विश्वास नहीं करते, फिर श्राद्ध करनेकी बात कैसे कहते हैं? उन्होंने उत्तर दिया— सत्य यदि सत्य है तो

जाति सापेक्ष नहीं है। जीवमें जातिका भेद नहीं होता। उन्होंने अपने बम्बईके निवासस्थानका नाम-पता बताया। इसके पश्चात् वे अन्तर्धान हो गये। दूसरे दिन उनके कथनानुसार मैंने उनका पता लगाया। वे बम्बईके बांदरा नामक अँचलमें रहते थे। छः महीने पहले उनकी मृत्यु हुई थी। उनके नाम-पता आदि सब मिल गया। वे पारसी होनेपर भी गीतापाठ किया करते थे। सब बातोंका ठीक-ठीक पता लग जानेपर मैंने अपने पास रहनेवाले हरीराम ब्राह्मणको गया भेजकर उनका श्राद्ध एवं पिण्डदान करवाया। जिस दिन गयामें उनके लिये पिण्डदान हुआ, उसी दिन चौपाटीमें ही मुझे उनके फिर दर्शन हुए। उन्होंने कहा– मैं आपके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने आया हूँ। आपने मेरा काम कर दिया। अब मैं प्रेतलोकसे उच्च लोकमें जा रहा हूँ। उनकी बात सुनकर मुझे बड़ा सन्तोष हुआ।

मैंने प्रेतसे प्रेतलोककी स्थिति, वहाँके जीवन, कर्मोंके फल आदिके बारेमें बहुत-सी बातें पूछीं। उन्होंने सब बातोंका सविस्तार उत्तर दिया। उन्होंने बताया– किसीके प्रति बैर लेकर मरनेवालेकी बहुत दुर्गति होती है। उसे नरकोंमें बड़ा कष्ट होता है। सब नरक सत्य है। नाना प्रकारके पाप करनेवालोंकी बहुत दुर्गति होती है। प्रेतलोकमें बहुतसे सद्भावना युक्त प्रेत हैं, बहुत-से दुर्भावनायुक्त। वृत्तिके अनुसार उनके स्वभाव एवं कर्म होते हैं। इस जीवनके सम्बन्ध उनको स्मरण रहते हैं और उसी प्रकारका बर्ताव यहाँके व्यक्तियोंके प्रति करनेकी चेष्टा करते हैं। अच्छे प्रेतोंको कुछ दिन वहाँ रखकर पितृलोकमें भेज दिया जाता है। वहाँ भी पहलेके अभ्यासके अनुसार भजनकी प्रवृत्ति होती है। प्रेतलोकके प्राणियोंके लिये अन्न-जल वस्त्रादिका दान उनके नामपर घरवालोंको सदा करते रहना चाहिये। प्रेतोंको सद्गति प्राप्त करानेके लिये गयाश्राद्ध, पिण्डदान, गायत्री-जप, भागवत-पारायण, विष्णुसहस्रनाम-पाठ और अपने-अपने धर्मानुसार भगवान्‌की प्रार्थना करनेसे उन्हें बहुत लाभ होता है।

भगवत्कृपा एवं भगवन्नामकी महिमा

मेरेपर भगवान्‌की अनन्त कृपा है – यह मुझे अनुभव होता है। बहुत अनुभव हुआ है। मेरे अन्दर कोई अच्छी चीज आजतक आई है तो वह केवल दो ही बातोंका प्रताप है एक भगवत्कृपापर विश्वास, दूसरा भगवन्नाम।

मुझे जब भगवान्‌के नामपर कुछ बोलनेका प्रसंग आता है, तो मैं प्रायः अपने काबूमें नहीं रह सकता। क्योंकि नामसे मुझे इतना लाभ हुआ कि मेरे सब प्रकारके दुर्गुण नामसे हटे, गिरनेके स्थलपर नामने रक्षा की—एक-दो स्थानपर नहीं, बहुत स्थानोंपर नामने मेरी सांसारिक विपत्तियोंको हटाया। नामने मेरी निष्ठा भगवान्‌में की, वेदान्तके श्रवणमें नामने निष्ठा की। और बात तो छोड़िये, जब मैं अचिन्त्यका चिन्तन करता, व्यष्टिसे यह अहंकार निकालकर जब समष्टिमें स्थापन करके सोचता—यह अनुभव होता कि तमाम समष्टिका खेल है, इसमें सारा जगत् कल्पित प्रतीत होता। इस प्रकार व्युत्थानकालमें भी और ध्यानके समय भी मेरे लिये जगत् रहता ही नहीं। उस समय भी नामका जप चलता।

.... मुझे अपने जीवनमें दो ही चीजोंका अनुभव है। मुझे कहना नहीं चाहिये, पर सबके कामकी बात है अतः कह देता हूँ—

एक तो भगवान्‌की कृपापर विश्वास। दूसरा नामका जप।

जब-जब बाधायें आईं, लौकिक भी, पारलौकिक भी, तब-तब चित्तने याद दिलाया भगवान्‌की कृपापर विश्वास करो। भगवत्कृपासे मेरे जीवनमें अनेक बार असंभव संभव हो गया।

भगवत्कृपाकी अनुभूतियाँ

भाईजीको अपने जीवनकालमें अनेकों बार भगवत्कृपाकी अनुभूतियाँ हुईं। कुछ संस्मरण उन्हींके शब्दोंमें पढ़ें —

(१)

सन् १९१९ ई. की बात है। मैं बम्बईमें रहता था। रातको अपने फूफाजी श्रीलक्ष्मीचन्दजी लोहियाके घरपर, जो बम्बईसे कुछ दूर बी.बी. एण्ड सी.आई. रेलवे (आजकल पश्चिम रेलवे) के सान्ताक्रुज स्टेशनके (समीप) पं.शिवदत्तरायजी वकीलके बँगलेमें रहते थे, जाकर खाया और सोया करता था। एक दिनकी बात है, रातको करीब आठ बजे थे। कृष्ण पक्षकी अँधेरी रात थी। मैं लोकल ट्रेनसे जाकर सान्ताक्रुजके प्लेटफार्मपर उतरा। अब तो दोनों ओर प्लेटफार्म है, उस समय एक ही ओर था। और रोशनीका भी

प्रबन्ध नहीं था। न इंजिनकी सर्चलाइट थी। श्रीशिवदत्तरायजीके बँगलेमें जानेके लिये रेलवे लाइन लाँघकर उस ओर जाना पड़ता था। मैंने बेवकूफी की। दौड़कर इंजिनके सामनेसे लाइन पार करने चला। लोकल ट्रेन एक ही मिनट ठहरती है, मैं नया था, मैंने समझा, गाड़ी छूटनेके पहले ही मैं लाइन पार कर जाऊँगा, परंतु ज्यों ही मैंने लाइनपर पैर रखा, त्यों ही गाड़ी छूट गयी। परंतु ईश्वरीय प्रेरणा और प्रबन्धसे उसी समय किसी अज्ञात पुरुषने मेरा हाथ पकड़कर जोरसे खींच लिया। मैं दूसरी लाइनपर जा गिर पड़ा। गाड़ी सरटिसे निकल गयी, तीन काम एक साथ हुए— मेरा लाइन लाँघना, गाड़ी छूटना और अज्ञात व्यक्ति द्वारा खींचे जाना। एक ही दो सेकेंडके विलम्बमें मेरा शरीर चकनाचूर हो जाता परन्तु बचानेवाले प्रभुने उस अँधेरी रातमें उसी जगह पहले ही मुझे बचानेका प्रबन्ध कर रखा था। मैं थर-थर काँप रहा था। ईश्वरकी दयालुतापर मेरा हृदय गदगद् हो रहा था। आँखोंसे आँसू बह रहे थे, मैंने स्टेशनके धुधँले प्रकाशमें देखा, एक नौजवान बोहरा खड़ा हँस रहा है और बड़े प्रेमसे कह रहा है, आइन्दे ऐसी गलती न करना आज भगवान्‌ने तुम्हारे प्राण बचाये। मैंने मूक अभिनन्दन किया, कृतज्ञता प्रकट की। लाइनपर रोड़ोंमें गिरा था, पर दाहिने पैरमें एक रोड़ा जरा-सा गड़नेके सिवा मुझे कहीं चोट नहीं लगी। मैं दौड़कर घर चला गया। और ईश्वरको याद करने लगा।

(२)

सन् १९२६ की बात है। मैं लक्ष्मणगढ़के भाई श्रीलच्छीरामजी चूड़ीवालेके धन और परिश्रमसे स्थापित ऋषिकुलके उत्सवमें-शरीक होने बम्बईसे जा रहा था। अहमदाबादसे दिल्ली ऐक्सप्रेसके द्वारा रवाना हुआ। मैं सेकेण्ड क्लासमें था। मेरे साथ एक ब्राह्मण बालक ऋषिकुलमें भर्ती होने जा रहा था। मैं इधरकी एक सीटपर सोया था और सामनेकी सीटपर वह सोया था। दूसरे दिन सुबह अन्दाजसे पाँच बजे थे। ब्यावर स्टेशनपर एक टी.टी. महोदय हमारे डिब्बेमें सवार हुए। मैं जिस सीटपर सोया था, उसी सीटपर मेरे पैरोंके पास वे बैठ गये। मैं जग रहा था। अपने पैरोंके पास किसीका बैठना मुझे अच्छा न लगा। इससे शिष्टाचारके नाते मैं उठ बैठा। सोया था, तब मेरा सिर सीटकी अन्तिम तीसरी खिड़कीके पास था, जागकर बैठा तो वह खिड़की खाली हो गयी। मैं बीचकी खिड़कीके पास बैठ गया और टी.टी. महोदय इधरकी तीसरी खिड़कीके पास बैठे थे। तीनों खिड़कियाँ बन्द थीं। मैं टी.टी.

महोदयके साथ बातें कर रहा था। इतनेमें ही पीछेसे बड़े जोरकी आवाज हुई और दूसरी सीटपर सोये हुए ब्राह्मण-बालकने एक चीख मारी। हमलोग भौंचक्के रह गये। पीछे घूमकर देखा तो मालूम हुआ कि एक बहुत बड़ा पत्थर खिड़कीके काँचको लगा। खिड़कीका बहुत मोटा काँच टूटकर चूर-चूर हो गया। और उसके टुकड़े उछल-उछलकर सब तरफ बिखर गये। उसीका एक जरा-सा टुकड़ा बालकके सिरमें लगा था। इसीसे उसने चीख मारी थी। मैं सोया होता तो अवश्य ही खिड़कीके पास मेरा सिर रहता और वह जरूर ही पत्थर और काँचकी चोटसे टूट जाता, परंतु बचानेवालेने टी.टी. महोदयको भेजकर मुझे प्रेरणा की। मैं बैठ गया और बच गया। यह घटना अजमेरके पास मकरेरा और सरघना स्टेशनके बीचकी है।

(२)

मेरे एक साथी थे हरिराम शर्मा। वे रूईकी दलाली करते थे। वे मेरे पास ही रहते थे, मेरे घरपर ही भोजन करते थे। भाई श्रीरामकृष्ण डालमिया उन दिनों सट्टा करते थे। इस काममें उन्हें कुछ घाटा लग गया था। मैंने भाई हरिरामको सावधान कर दिया था– तुम गरीब आदमी हो। अतएव भाई रामकृष्णके सट्टेका काम मत करना। भाई रामकृष्णको कुछ घाटा लगा हुआ है, और लग जायेगा तो वह तो दे सकेगा नहीं और तुम्हारा फर्म फेल हो जायगा। पर भाई रामकृष्ण सट्टेका बड़ा काम करता था और इससे हरिरामको दलालीसे अच्छे पैसे मिल जाते थे। बस, दलालीके लोभमें वह मेरी बात न मान सका और वह भाई रामकृष्णका काम करवाता रहा। जब नफा होता रहा, तबतक हरिरामको दलाली मिलती रही, परन्तु विधाताका विधान कुछ और था। एक सप्ताहमें करीब पचास-साठ हजारका घाटा हो गया। भाई रामकृष्णके पास देनेको था नहीं। श्रीहरिरामको उनका भुगतान करना था। वह मेरे पास आया और बोला– श्रीरामकृष्णजीका इस प्रकार काम करवा दिया था, उसमें इतने रुपये घाटेके लग गये हैं। अब क्या करें? मैंने कहा– भाई, तुमने क्यों करवाया? मैंने तो तुम्हें पहले ही सावधान कर दिया था, परन्तु तुमने माना ही नहीं। अब तो वह बहुत कातर हो गया और पूछने लगा– अब क्या करें? मेरे मुँहसे निकला– भगवान्‌के सामने रोओ, और क्या करोगे? बस, उसने बात पकड़ ली। वह गद्दीके समीपवाले कमरेमें जाकर बैठ गया और उसने क्या प्रार्थना की, क्या रोया, क्या कहा, मुझे कुछ पता नहीं। उसके थोड़ी देर बाद

'ताराचन्द घनश्यामदास' फर्मके बालकिशनलाल पोद्दारका फोन आया कि यदि आप अपोलो बन्दरकी ओर घूमनें चलें तो मैं मोटर लेकर आ जाऊँ। मैंने कहा– आ जाइये। (अब जिस भागका नाम मेरीन ड्राइव है, वह पहले अपोलो बन्दर कहलाता था।) वे मोटर लेकर आ गये और मैं उनके साथ घूमने चला गया। श्रीहरिरामकी बात मैं भूल गया। घूमकर हमलोग रात्रिमें करीब आठ बजे लौटे। मुझे छोड़नेके लिये वे घरतक आये। जब हमारी मोटर घरके सामने रुकी तो अचानक बालकिशनलालको हरिरामकी याद आयी। वे बोले– भाईजी! आपका हरिराम आजकल कहाँ है? मैंने कहा– वह तो रो रहा है। उन्होंने पूछा– रो क्यों रहा है? मैंने कहा– भाई रामकृष्णका उन्होंने सौदा करवा दिया था। उसमें घाटा लग गया। भाई रामकृष्णके पास पैसा देनेको है नहीं। हरिरामका काम फेल होगा, इसलिये वह रो रहा है। वे पैसेवाले व्यक्ति थे, पर पैसेके सम्बन्धमें कुछ अनुदार थे। किन्तु भगवान्‌की माया। वे तुरन्त बोले– कल सुबह आदमी भेज दीजियेगा, चेक मँगवा लीजियेगा। ये शब्द सुनते ही मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने कहा– आप किसको दे रहे हैं? यह पैसा फिर आनेवाला नहीं है। बोले– हम आनेके लिये थोड़े ही दे रहे हैं। हमारे मनमें आ गया, इसलिए दे रहे हैं। मैंने कहा– अच्छी बात है। बालकिशनलाल अपने घर लौट गये।

अब मेरे मनमें विचार हुआ कि रुपया मँगवाना चाहिये या नहीं। मैंने अपने मित्र श्रीविरधीचन्द पोद्दारको बुलाया और उनसे सलाह ली कि क्या करना चाहिये? वे बड़ी सात्विक प्रकृतिके व्यक्ति हैं। आजकल वे नागपुरमें हैं। उन्होंने कहा– भाईजी, द्रौपदीकी चीर आपने बढ़ायी थी क्या? भगवान्‌की प्रेरणासे बालकिशनलाल आये हैं और रुपया भी उन्हींकी प्रेरणासे मिल रहा है, आप रोकनेवाले कौन होते हैं? एक-दो मित्रोंसे और भी सलाह ली। सबकी यही राय रही। मैंने भाई रामकृष्णको बुलाया। उसे पूरी बात बता दी। भाई रामकृष्णने हैण्डनोट लिख दिया तथा राजस्थानमें उनके जो मकान हैं, उनके पट्टे दे दिये और कहा कि ये सब चीजें उन्हें दे दी जायँ और रुपये मँगवा लिये जायँ। मैंने हैण्डनोट एवं मकानोंके पट्टे रखवा लिये। सुबह हैण्डनोट एवं मकानोंके पट्टे देकर एक आदमीको बालकिशनलालके पास भेजा। बालकिशनलालने ब्लैंक चेक हस्ताक्षर करके दे दिया और कहलाया– जितने रुपये चाहिये, उतने चेकमें नोटकर दिये जायँ। इस समय बैंकमें हमारे खातेमें

दो लाख रुपये हैं। उन्होंने हैण्डनोट एवं मकानोंके पट्टे लौटा दिये और कहलाया— हम पट्टे तथा हैण्डनोट रखकर रुपया नहीं दे रहे हैं। मैं तो भगवान्‌की लीला देखकर मुग्ध हो रहा था। बैंकसे रुपये आ गये और हरिरामका भुगतान हो गया। इसके बाद भगवान्‌की कृपासे दो-तीन महीनेमें भाई रामकृष्णने रुपये कमा लिये और बालकिशनलालको रुपये व्याजसहित लौटा दिये गये। यह भगवत्कृपाका चमत्कार हुआ। यह हरिरामकी प्रार्थनाका फल था।

(४)

लगभग पैंतालिस साल पहलेकी बात हैं। मैं उस समय बम्बईमें व्यापार करता था। यद्यपि व्यापारमें मुझे सफलता कम ही मिली थी, पर बड़े-बड़े व्यापारियोंके तथा समाजके सुप्रतिष्ठित पुरुषोंके मनमें मेरे प्रति बहुत श्रद्धा, प्रेम तथा आदरका भाव था। मेरी बातका बहुत बड़ा विश्वास था— सभी लोगोंके हृदयोंमें। मेरे एक परिचित मित्र सज्जन थे, वे एक बड़े फर्ममें प्रधान व्यवस्थापक थे, पर वे अपना सट्टेका काम भी करते थे— बड़े पैमानेपर। लोग जानते भी थे, परंतु उनकी ईमानदारीमें भी लोगोंको विश्वास था। एक बार उनको बहुत घाटा लगा। भुगतानकी और व्यवस्था तो हो गयी, पर लगभग साठ हजार रुपयेकी कमी पड़ रही थी। ये जिस फर्ममें काम करते थे, उसके मालिक इनके सट्टेके व्यापारसे जानकार तो थे, परंतु उनका विश्वास था कि ये ऐसा काम कभी नहीं करेंगे कि जिससे इज्जतमें कोई बाधा आवे। पर यह नियम कर रक्खा था कि फर्ममेंसे ये अपने नाम लिखकर व्यापारके लिये एक पैसा भी कभी नहीं उठायेंगे। यह बात भी प्रसिद्ध थी कि ये लाखों रुपये कमा चुके हैं, पर इधर कई दिनोंसे उनको घाटा लग रहा था, इससे पासकी पूँजी समाप्त हो गयी थी। सट्टेबाज लोग प्रायः घाटा भरनेके लिये दूना-चौगुना काम किया करते हैं, यद्यपि यह कमजोरी है। मेरे इन मित्रमें यह कमजोरी भी नहीं थी, इससे ये घाटा दिखते ही सौदा काट देते थे। परंतु होनहारकी बात— इधर इनको उलटी सलाह मिलती रही; घाटेमें सौदे खड़े रहे और बढ़ते रहे— इसीसे इनकी पूँजी समाप्त हो गयी और इस समय साठ हजार रुपयोंके लिये इनका भुगतान अटकनेकी सम्भावना हो गयी। ये घबराये। असली हालत ये किसीको न बतलाना चाहते थे, न बतलानेमें लाभ ही था। मुझसे भी ये कम ही बताते थे, पर कभी बता देते थे और यद्यपि मेरे पास पैसे नहीं थे, पर काम

अटकनेपर कभी-कभी मेरे द्वारा इनका काम निकल भी जाता था। पर इन दिनों मैं बाहर गया हुआ था। इनको जब कोई रास्ता नहीं दिखायी दिया, तब इन्होंने दुःसाहस करके मेरे नाम लिखवाकर साठ हजार अपने फर्मसे लेकर अपना भुगतान कर दिया। इस फर्मसे मेरा लेन-देनका सम्बन्ध नहीं था, पर मुझपर श्रद्धा-विश्वास होनेके नाते फर्मके मालिकने इनसे कह रक्खा था कि 'मुझे कभी आवश्यकता होनेपर उनसे बिना पूछे ये एक लाख रुपये तक मुझे दे सकते हैं।' इसीका इन्होंने लाभ उठाया। इनका भुगतान हो गया। इसके पंद्रह-बीस दिन बाद फर्मके मालिकने खातेमें मेरे नाम साठ हजार रुपये देखे तो उन्होंने पूछा तब इन्होंने कह दिया कि 'उनको आवश्यकता थी, इसलिये रुपये दे दिये गये थे। आपकी अनुमति थी ही।' मैं उस दिनतक बाहरसे नहीं लौटा था। इधर लोगोंकी कानाफूसीके जरिये यह बात कुछ-कुछ फैल गयी थी कि मेरे इन मित्रको इधर बड़ा घाटा लगा है। इससे इनके फर्मके मालिकके मनमें कुछ संदेह पैदा हो गया कि 'शायद रुपये मैंने नहीं लिये हैं, उनके व्यवस्थापकजीने ही मेरे नाम लिखकर ले लिये हैं।' उन्होंने फिर पूछा तो इन्होंने कहा कि 'रुपये उन्होंने ही लिये हैं, उनके हाथकी रसीद मेरे पास है। घरपर रक्खी है। मैं कल ला दूँगा।' मैं उसी रातको आनेवाला था, यह मेरे इन मित्रको मालूम था। अतएव रात्रिको जब मैं लौटकर आया, तभी ये मेरे पास आये और सारी बात सुनाकर कहे कि 'मैंने यद्यपि आपके विश्वास तथा प्रेमका दुरुपयोग किया है, बड़ा पाप किया है, पर मजबूर होकर मुझे ऐसा करना पड़ा। अब तो आप साठ हजार रुपयोंकी प्राप्तिकी रसीद लिख दें, तभी मेरी इज्जत बच सकती है।'

मैंने सारी बातें शान्तिपूर्वक सुनीं। मैंने सोचा, होना था सो हो गया। मैंने मन-ही-मन भगवान्‌से प्रार्थना की— वे सद्बुद्धि दें। तत्काल मेरे हृदयमें स्फुरणा हुई— रसीद लिख देनी चाहिये। मैंने उनकी बतायी हुई तारीख डालकर अपने हाथसे रसीद लिख दी और उसपर टिकट लगाकर हस्ताक्षर करके उनको दे दी। साथ ही, उनके कथनानुसार फर्मके मालिकके नाम एक पत्र लिख दिया कि 'मैंने आपके व्यवस्थापक महोदयसे कहकर उस दिन साठ हजार रुपये मँगवाये थे। पाँच-सात दिनके लिये आवश्यकता थी। मुझे उसी दिन बाहर जाना था, इसलिये मैं आपसे बात नहीं कर सका। रसीद उन्हें दे दी थी, पर अब एक अनुरोध है, बड़े संकोचके साथ लिख रहा हूँ— मुझे एक

बड़ी अड़चन आ गयी, इसलिये मैं छः महीने बाद रुपये लौटा सकूँगा। आशा है आप इसे स्वीकार करेंगे।'

पत्र उन्हें दे दिया गया। शामको ही मेरे पास फर्मके मालिक महोदयका फोन आया कि 'आप इतना संकोच क्यों करते हैं? आपके रुपये तो मेरे घरमें ही पड़े हैं, सुरक्षित हैं। जब सुविधा हो, भिजवा दीजियेगा। मैंने स्वयं मिलकर आपसे इसलिये बात नहीं की कि कहीं आपको संकोच न हो। आपको आवश्यकता हो तो और रुपये भिजवा दूँ।' मैं तो उनकी बात सुनकर दंग रह गया। मैंने किस कामके लिये रुपये मँगाये यह भी नहीं पूछा— वरन् और देनेको तैयार। ऐसे मानव ही तो देवता हैं।

मैंने पत्र इसीलिये लिखा भी था कि वे रुपयोंके लिये तकादा न करें। मेरे इन मित्रने कहा था कि 'छः महीनेमें मैं कहीं व्यवस्था कर सकूँगा।' मैंने इनसे यही कहा था कि 'मेरे पास रुपये होते तो मैं इसी समय दे देता, आपके पास जब आते तब आप लौटा देते; पर मेरे पास नहीं है, इसलिये मैं पत्र लिख रहा हूँ।' इनको बड़ा संकोच हो रहा था कि इनके कारण मुझको मिथ्या रसीद देनी पड़ी तथा रुपयोंके लिये पत्र लिखना पड़ रहा है। पर ये भी निरुपाय थे। मेरे कथनानुसार इन्होंने भागवतोक्त ''गजेन्द्रस्तवन'' (भागवत अष्टम स्कन्ध, तृतीय अध्याय) का पाठ आरम्भ कर दिया। मैं भी चेष्टा करता रहा। भगवान्‌की कृपासे चार ही महीनेमें कुछ उन्होंने व्यवस्था की, कुछ मैंने— इनके मालिकके रुपये व्याजसमेत लौटा दिये गये। भगवान्‌ने लाज तथा इज्जत रक्खी।

(५)

लगभग सन् १९३० के आसपासकी बात है। मालवीयजीके भतीजे श्रीकृष्णकांत मालवीय नैनी जेलमें थे। नैनी जेलसे उनकी बदली बस्ती जेलमें हुई। नैनीसे बस्ती जानेका रास्ता गोरखपुर होकर ही है। उन्होंने तार दिया कि गोरखपुर स्टेशनपर पन्द्रह व्यक्तियोंके लिये भोजनकी व्यवस्थाकर दीजिये। उस समय इलाहाबादसे आनेवाली गाड़ी शामको करीब पाँच बजे गोरखपुर पहुँचती थी। तार गीताप्रेसमें आया था। मैं उस समय गोरखनाथके पास बगीचेमें रहता था। उस समय न टेलीफोन था, न मोटर थी, रिक्से भी उस समय नहीं थे। इक्का भी जल्दी वहाँ मिलता नहीं था। वहाँसे स्टेशन करीब तीन मील होगा।

प्रेसवालोंने भूल यह की कि भोजनका प्रबन्ध तो किया नहीं, एक साइकिलवालेके साथ तार मेरे पास भेज दिया। तार मेरे पास लगभग पौने पाँच बजे पहुँचा। अब उस समय न हमारे पास भोजन तैयार, न कोई सवारी उपलब्ध—गाड़ी आनेमें करीब पन्द्रह मिनट बाकी थे। अब क्या करें? मनमें कुछ चिंता हुई, प्रेसवालोंपर भी मनमें झुंझलाहट हुई कि इन्तजाम नहीं किया। तार खोलकर पढ़ ही लिया था, ऐसे ही यहाँ भेज दिया। हे भगवान्! अब क्या करूँ? इतनेमें ही बाबूबालमुकुन्दजी जिनका वह मकान था, उनके यहाँ उस दिन प्रसाद था। उसी समय दो इक्के आये और उसमें पूड़ी, साग, मिठाई, फल आदि सब चीजें थीं। कोई बीस-पच्चीस व्यक्तियोंका सामान था। मेरे मनमें आया कि यह तो भगवान्ने ही भेजा है। उन्हीं इक्कोंमें वही सामान ज्यों-का-त्यों आदमी देकर स्टेशन भेज दिया। गाड़ी पन्द्रह मिनट देरसे आयी। वे लोग सोलह व्यक्ति थे, सभीने बड़े मजेसे खाया और बड़ी प्रसन्नता प्रकट करके गये। अब सोचिये एक घण्टे बाद सामान आता तो उनके काम नहीं आता और दो घण्टे पहले आ गया होता तो घरवाले लोग खा लेते। भगवान्‌के मंगल विधानसे सब ठीक हो गया।

(६)

एकबार मैं दिल्लीमें बीमार था। पहले श्रीज्वालाप्रसादजीके पास था, फिर भाई रामकृष्ण डालमिया मुझे ले गये। बोले—अब आप कुछ अच्छे हो गये, मेरे पास चलिये। मैं उनकी कोठीमें ठहरा हुआ था। मैं नाम तो नहीं बताऊँगा, एक सज्जन मेरे पास वहाँ मिलने आये जो पहले बड़े अच्छे घरानेके थे। उस समय उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी, बहुत खराब थी। उन्होंने अपनी लड़कीके जेवर कहीं बन्धक रख दिये थे। उस लड़कीको लेने ससुरालवाले आ गये थे। उनको जेवर बन्धकसे छुड़ाकर लड़कीको देना था, रुपये उनके पास थे नहीं। वे आये थे रामकृष्णके पास। रामकृष्णके पास उस समय रुपये थे नहीं या उसकी इच्छा नहीं थी—उन्हें कह दिया हम नहीं कर सकेंगे। मैं जिस कमरेमें था, वे आकर मेरे पास बैठ गये। उन्होंने अपनी सारी कथा मुझे सुनाई। मेरे पास कोई व्यवस्था थी नहीं। मैं उन्हें नहीं ही कहनेवाला था। उनकी आँखोंसे आँसू बहने लगे। इतनेमें ही एक महिलाने मेरे कमरेमें प्रवेश किया। वे अब मर गई हैं इसलिये नाम बतानेमें आपत्ति नहीं है। कलकत्तेमें एक फर्म था 'नौरंगराय नागरमल'। नागरमलजी मेरे पिताजीके

मामाके लड़केके लड़के थे—मेरे बड़े भाई लगते थे तो वे मेरी भाभी थीं। वे कलकत्तेसे रतनगढ़ जा रही थी, सबेरे स्टेशनपर किसीने उन्हें कहा कि भाईजी यहीं है, बीमार हैं। उसने सोचा, चलो उनसे मिल आवें। वह बिचारी ढूढ़ते-ढूढ़ते रामकृष्णके घर पहुँचीं। जब उन्होंने मेरे कमरेमें प्रवेश किया तो सज्जन बैठे हुए थे। उन्होंने देखा कोई महिला आ रही हैं तो वे बाहर निकल गये। उन्होंने आँसू देख लिये। वह मेरे पास आकर बैठ गईं। उन्होंने सबसे पहले मुझसे पूछा— ये कौन हैं? मैंने उनका नाम बता दिया। बोलीं— ये रो क्यों रहे थे? मैंने सारी बातें बता दी। वह बोलीं— कितने रुपये थे? मैंने जितने रुपये थे, बता दिये। आप सुनकर आश्चर्य करेंगे, उन्होंने अपने पाससे ठीक उतने ही नोट निकाले, जितनेकी उनको आवश्यकता थी। वह बोली— उनको दे दीजिये। मैंने कहा— ये तुम क्यों देती हो? वह बोली— जब मैं कलकत्तेसे रवाना हुई तो मेरे पास पेटीमें इतने ही रुपये इकट्ठे थे। मैंने सोचा कि किसी अच्छे काममें लगा देंगे। आपके सामने बात चली, यह अच्छा काम तो है ही, आप इन्हें अच्छा बताते ही है, इसमें लगा देना बड़ा अच्छा। अब मेरे मनमें आया कि इनको किसने भेजा। वे तो मेर पास अभी आये और इसकी तैयारी दो दिन पहलेसे हुई। दो दिन पहलेसे ठीक उतने ही रुपयोंकी व्यवस्था करके भेजनेवाला कौन है? यदि वह एक घंटा बाद आतीं तो इनसे बात चलती ही नहीं। अथवा पहले आकर चली जातीं तो कोई बात ही नहीं थी। ठीक उसी समय आईं और उनके आँसू देख लिये। यह भगवान्‌का मंगलमय विधान है। हमें यह सोचना चाहिये कि भगवान्‌का मंगल विधान है। प्रारब्धके अनुसार जो अच्छा या बुरा फल होना है, वह होगा ही। पाप करनेसे, चिंता करनेसे न वह बदलेगा, न कोई लाभ होगा।

भगन्नामकी कृपानुभूति

नामसे मुझे ऐसे अनुभव हुए हैं जिससे मैं कह सकता हूँ कि असंभव संभव हो गया। यह भगवान्‌के नामकी महिमा है। छोटी-सी चीज लगती है। यह महिमा भी पूरी महिमा नहीं। मैं अपने जीवनकी कुछ एक घटना बताता हूँ—

बम्बईकी बात है। हमारा एक पार्टनरशिप फर्म था। एकबार एक सज्जनको कष्टके समय मैंने अपने साझीदारको बिना पूछे रोकड़से दस

हजार रुपये दिला दिये। वे रुपये उन्होंने कहींसे ला तो दिये पर जहाँसे लाये उनपर कोई बड़ी आफत आ गई। वे सज्जन मेरे पास आकर बहुत रोये कि कैसे भी एकबार दो-तीन महीनोंके लिये रुपये मिल जाय तो बादमें वे रुपये कहींसे मँगवा देंगे। वे बहुत ऊँचे घरानेके आदमी थे। देशके बहुत ऊँचे महान् पूज्य नेताके घरानेके व्यक्ति थे। मेरे मनमें आई कि किसी तरह इनका काम निकाला जाय। अब मैं क्या करूँ? मेरे पास तो बस भगवान्‌का नाम था। उन दिनोंमें सकाम जप कभी-कभी करता था, पर बहुत कम। यह बात सन् १९२४ के पहलेकी है। उसके बाद तो मैंने सकाम जप नहीं किया। उसके बादके अनुभव तो मुझे नहीं बताने हैं। तो मैंने जप शुरू किया। वे बेचारे बड़े उदास थे। मैं उनके साथ अपनी गद्दीसे नीचे उतरा। हमलोग साथ-साथ उनके ऑफिसकी तरफ जाने लगे। हमलोग इण्डिया बैंकके सामने पहुँचे तो हमारे एक मित्र मिले। उन्होंने कहा— आप दोनों उदास क्यों हैं? मैंने सारी बातें बता दी। उन्होंने सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा कि सामने ही इण्डिया बैंक है, इसमें मेरा खाता है। मेरे रुपये अफ्रीकासे आनेवाले है, यदि आ गये होंगे तो रुपये मैं अभी दे देता हूँ। उनका अनुमान था कि रुपये दो सप्ताह बाद आयेंगे, इस तरह रुपये देने भी नहीं पड़ेंगे और मित्रोचित व्यवहार भी हो जायगा। भगवान्‌की लीला बड़ी विचित्र होती है। रुपयोंकी जरूरत तो आज हुई और व्यवस्था भगवान् पहलेसे ही कर देते हैं। हमलोग सामनेके फुटपाथपर इण्डिया बैंकमें गये। उन्होंने पूछा कि हमारे खातेमें कितने रुपये हैं। उत्तर मिला कि कलतक तो कुछ नहीं थे, आज अभी-अभी अफ्रीकासे बीस हजारका ड्राफ्ट आया है। उत्तर हमलोग पासमें खड़े सुन ही चुके थे। अब वे बेचारे क्या बोलते, उनको रुपये देने पड़े। उन्होंने दस हजार रुपये दे दिये। उनका काम निकल गया। फिर रुपये उन्हें वापिस दे दिये गये। भगवान्‌के नामने यह काम किया। इस तरह भगवान्‌के नामके पहले-पहलेकी उम्रके मेरे बहुत-से अनुभव हैं।

बम्बईसे 'कल्याण'के प्रकाशनका शुभारम्भ

बम्बईमें लगभग नौ वर्ष रहा। बम्बई छोड़नेके करीब डेढ़ वर्ष पूर्वमें दिल्ली अग्रवाल महासभामें गया था। वहाँ भाई श्रीघनश्यामदासजी बिड़लाकी प्रेरणा मिली, श्रीजयदयालजी गोयन्दका तथा श्रीलक्ष्मीनारायणजी मुरोदियासे

प्रोत्साहन मिला और बम्बई लौटनेपर श्रीश्रीनिवासदासजी बजाजसे व्यवस्था, संचालन, छपाई आदिके सम्बन्धमें अयाचित पूर्ण सहयोग मिला। इसीके फलस्वरूप बम्बई सत्संग भवनसे सन् १९२६ (४ अगस्त १९२६) श्रावण कृष्ण ११ को 'कल्याण' का प्रकाशन आरम्भ हो गया। 'कल्याण'के तेरह महीनेके अंक बम्बईसे निकले।

१३ वाँ यानी दूसरे वर्षका पहला अंक श्रीगम्भीरचन्दजी दुजारीकी प्रेरणासे विशेषांक 'भगवन्नामांक' निकला। जिसके प्रचारमें श्रीगम्भीरचन्दजी दुजारी तथा श्रीरामकृष्णजी मोहतासे बड़ी सहायता मिली। उसके बाद मैं बम्बई छोड़कर गोरखपुर चला गया और 'कल्याण' भी गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित होने लगा।

*'कल्याण'*के लिये गाँधीजीका आशीर्वाद

'कल्याण'के लिये गाँधीजीका आशीर्वाद प्राप्त करने मैं एवं सेठ जमनालालजी बजाज दोनों गये थे। गाँधीजी बड़े प्रसन्न हुए और बोले— 'कल्याण' में दो नियमोंका पालन करना— बाहरी कोई विज्ञापन नहीं देना तथा पुस्तकोंकी समालोचना मत छापना। विज्ञापन न छापनेके सम्बन्धमें उन्होंने हेतु यह बताया कि तुम अपनी जानमें पहले-पहले यह देखकर विज्ञापन लोगे कि वह किसी ऐसी चीजका न हो, जो भद्दी हो और जिसमें धोखा देकर ठगनेकी बात हो, पर जब तुम्हारे पास विज्ञापन आने लगेंगे और लोग उनके लिये अधिक पैसे देने लगेंगे, तब तुम्हारे विरोध करनेपर भी ····· साथी लोग कहेंगे— देखिये, इतना पैसा आता है, क्यों न यह विज्ञापन स्वीकार कर लिया जाय? बस, पैसेका प्रलोभन आया कि फिर जनताके लाभ-हानिकी बात एक ओर रह जायगी। अतएव आरम्भसे ही यह नियम बना लो कि बाहरी विज्ञापन स्वीकार करना ही नहीं है। समालोचनाके सम्बन्धमें यह बात है कि— जो लोग समालोचनाके लिये अपनी पुस्तकें तुम्हारे पास भेजेंगे, उनमेंसे अधिकांश इसीलिये भेजेंगे कि तुम्हारे पत्रमें उनके ग्रन्थकी प्रशंसा निकले। यथार्थ समालोचना करानेके लिये अपनी पुस्तक भेजनेवाले बिरले ही होते हैं। ऐसी स्थितिमें पुस्तक चाहे जैसी हो या तो उनकी झूठी प्रशंसा करनी होगी या उन साहित्यकारों, लेखकोंसे झगड़ा मोल लेना पड़ेगा। इसलिये समालोचना मत छापना। मैंने कहा— बापू! आपका आशीर्वाद चाहिये, भगवान् शक्ति देंगे। इन

दोनों नियमोंका दृढ़तासे पालन होगा। बापूने 'कल्याण' की सफलताके लिये हृदयसे आशीर्वाद दिया। तबसे आजतक 'कल्याण' की वही नीति चली आ रही है। गाँधीजीने जो आशंका व्यक्त की थी, आगे चलकर वह सामने आ गई। ज्यों-ज्यों 'कल्याण' का प्रचार बढ़ने लगा, त्यों-त्यों विज्ञापनवालोंके आग्रह आने लगे। जब इसके एक लाख ग्राहक हो गये, तब तो लोग खूब अधिक पैसा देकर विज्ञापन छपानेको तैयार हो गये। समालोचनाके लिये भी बहुत-सी पुस्तकें आयीं, बहुत तरहसे दबाव डाले गये, पर भगवान् रक्षा करते चले आ रहे हैं।

* * * *

'कल्याण'के प्रारम्भिक वर्षोंमें सम्पादकके रूपमें भाईजी द्वारा श्रीगम्भीरचन्दजी दुजारीको लिखे गये दो पत्र–

बम्बई
श्रावण सुदी ५, सं. १९८३
(१३ अगस्त १९२६)

भाई श्रीगम्भीरचन्दजी दुजारी,

सप्रेम राम-राम। ....

मासिक 'कल्याण' का प्रथमांक प्रकाशित हो चुका है, बाहर भेज भी दिया गया है। मेरे द्वारा संचालनमें सज्जनोंका सन्देह अवश्य ही साधार है। परन्तु सारी बातें परमात्माके आधीन हैं। मैं कुछ भी नहीं कह सकता कि भविष्यमें मैं क्या कर सकूँगा। इसमें तो सन्देह नहीं है कि मैंने 'कल्याण' का भार केवल एक-दो अंकोंके लिये ही नहीं लिया है। जहाँतक सर्वप्रेरक प्रभुकी प्रेरणाके अनुसार कार्यके सम्पादनकी सामर्थ्य है वहाँतक संचालनमें त्रुटि न हों इसी विचारसे यह काम किया गया है। परन्तु भविष्य परमात्माके अधीन है, मनुष्य क्या लिख सकता है।

यह आवश्यक है कि छपाने और ग्राहकोंके यहाँ पहुँचाने वगैरहके झंझटसे मुझे जितना शीघ्र मुक्त कर दिया जाय उतना ही सम्पादनका कार्य सुचारू रूपसे होना संभव है। यहाँ छपानेमें मूल्य अधिक पड़ता है, छपनेमें अशुद्धियाँ रहती हैं और सब कार्य सम्हालनेमें, लेखादि लिखनेके लिये समय

भी पूरा नहीं मिलता, अतएव अच्छा सम्पादन तो इसका कार्यालय गोरखपुर जानेके बाद हो सकता है। परन्तु इससे पूर्व भी यथासाध्य यही प्रयत्न हो सकता है कि जिससे प्रतिमास ठीक समयपर पत्र प्रकाशित हो जाय।

जहाँतक दो हजार ग्राहक नहीं हो जाते, वहाँतक कम-से-कम बम्बईसे पत्र निकालनेमें तो घाटा ही रहेगा। इस समय पत्रके ग्राहक तीन सौ अनुमान ही हुए हैं। चेष्टा करके स्थान-स्थानसे ग्राहक बढ़ाना चाहिये।

पत्रमें विषय सर्व साधारणोपयोगी रखे बिना प्रचार कम होगा। इसीलिये केवल दुरूह विषय न रखकर, सभी विषय थोड़े-थोड़े रखे गये हैं। ज्वालाप्रसादजी तथा आपलोग मिलकर पत्रके सम्बन्धमें कुछ परिवर्तन करना हो तो सूचना देवें। श्रीज्वालाप्रसादजी वगैरहसे पत्रके लिये लेख भेजनेकी मेरी तरफसे प्रार्थना करें। दूसरे अंकके लिये पूरे लेख प्रेसमें दिये जा चुके हैं। संभव है कि दूसरा अंक आगामी भाद्र वदी ११ को ठीक समयपर प्रकाशित हो जाय।

'कल्याण' कल्याणमयके हाथमें है और वह जो कुछ करता है सो कल्याण ही करता है। विलम्ब कल्याण कामियोंका है, कल्याण करनेवालेका नहीं।

आपका
हनुमान

* * * *

बम्बई,
२०-८-२६

भाई गम्भीरचन्दजी दुजारी,

सप्रेम जय श्रीकृष्ण ....। भाषा तथा विषयकी क्लिष्टताके सम्बन्धमें लिखा सो ठीक है। मासिक पत्र यथासंभव सर्वोपयोगी बनाना चाहिये, इसी दृष्टिसे कहीं सरल और कहीं क्लिष्ट विषयानुसार भाषा रखी जाती है। भविष्यमें सरलताकी तरफ विशेष ध्यान रखनेका विचार है। 'स्वाभाविक किसे कहते हैं' यह महात्माजीका लेख है और 'नवजीवन' से उद्धृत है, विशेष क्लिष्ट तो नहीं जान पड़ता। अस्तु, एक मित्र लिखते

हैं– 'भाषा और अभिप्राय प्रौढ़ नहीं है। भाषा तो सरल ही ठीक है। पर अभिप्राय खूब गहन होने चाहिये।' इस प्रकार भिन्न-भिन्न तरहकी सम्मितियाँ मिल रही हैं। आपलोग त्रुटियाँ सुझाते रहें तो यथासाध्य उन्हें सुधारनेकी चेष्टाकी जा सकती है। उपनिषद्-गाथामें श्लोकांक कहीं जानकर नहीं लिखे, कहीं सुन्दरताके लिये, कहीं आधे श्लोक थे इसलिये नहीं लिखे। बात यह है कि यह आख्यायिका है, उपनिषद्का अनुवाद नहीं है। इसीसे मन्त्रोंके अर्थमें भी आपको केवल शब्दानुवाद नहीं मिलेगा। स्थान-स्थानपर अधिक बातें भी हैं जो शंकर भाष्य या अन्यन्य टीकाओंसे ली गई हैं। उपनिषद और भक्त-गाथा तथा नाम-महात्म्य प्रत्येक अंकमें रखनेका विचार-सा है, निश्चय कुछ भी नहीं समझना चाहिये।

सम्पादकका नाम तो सरकारी कानूनके अनुसार प्रकाशित करना अनिवार्य है, इसलिये दूसरे पृष्ठके नीचे अँग्रेजीमें दिया गया है। ····· इस समय इसका प्रायः सारा कार्य केवल मैं ही देखता हूँ इससे अड़चन और त्रुटियाँ अधिक रहती है। छपाई और कार्यालय-कार्य दूसरेके सुपुर्द होनेपर लेखादिमें विशेष उन्नति संभव है। अब भी इसके लिये विद्वानोंकी सम्मतियाँ बहुत अनुकूल और अच्छी आ रही हैं। ····· पत्रपर आपकी (श्रीसेठजीकी) सम्मति लेकर परिवर्तन करना हो तो सूचना देनी चाहिये।

आपका
हनुमानप्रसाद पोद्दार

प्रपञ्चसे उपरामता : बम्बई छोड़नेका निश्चय

बम्बई लगभग नौ वर्ष रहा। सन् १९२७ में मेरी इच्छा ऐसी हुई कि कारबार छोड़ दूँ, समाज छोड़ दूँ, राजनीति छोड़ दूँ और गंगाजीके तटपर कहीं एकान्तमें रहूँ। मैंने पूज्य श्रीसेठजीको लिखा। इसके पहले 'कल्याण' बम्बईसे एक सालसे अधिक निकल चुका था। सेठजीने उत्तर दिया– 'कल्याण' बन्द नहीं करना है। तुम गोरखपुर जाओ। गोरखपुरमें गीताप्रेसकी स्थापना कुछ समय पूर्व हो चुकी थी। सेठजीने कहा कि दो-तीन महीने गोरखपुर रह जाना, लादूरामजीको काम सँभला देना। फिर जहाँ तुम्हारी इच्छा हो चले जाना।

* * * *

गोरखपुर आगमन

सन् १९२७ में व्यापारके सारे कामकाजसे सम्बन्ध तोड़कर जब मैं बम्बईसे चला तब यही निश्चय था कि एक बार गोरखपुर जाकर फिर सदाके लिये कहीं पवित्र गंगातटपर निवास करके जीवनके शेष दिन केवल भजनमें ही बिताना। साधारण खर्चकी व्यवस्था भी भाई रामकृष्ण डालमियाके सहयोगसे हो गई थी पर होता वही है जो भगवान्‌के मंगलमय विधानके अनुसार होना होता है।

* * * *

श्रीसेठजीने यही कहा था कि 'कल्याण' बंद नहीं करना है, तुम गोरखपुर जाओ। गोरखपुरमें गीताप्रेसकी स्थापना कुछ समय पूर्व हो चुकी थी। श्रीसेठजीने कहा—गोरखपुरमें तुम दो-तीन महीने रहकर सारा काम श्रीलादूरामजीको सँभला देना, फिर तुम चले जाना, पर होता वही है जो श्रीभगवान्‌के मंगलमय विधानके अनुसार होना होता है। 'कल्याण'को गीता-प्रेससे प्रकाशित करानेकी व्यवस्था हो जाय—इतने ही कामके लिये मैं गोरखपुर आया था, पर 'प्रेस' तथा 'कल्याण'का काम उत्तरोत्तर बढ़ता गया। आसक्ति या वासनावश उसीमें मेरा मन अधिक-से-अधिक लगने लगा और मेरी एकान्तवासकी इच्छा धरी रह गयी और मैं गोरखपुरका ही हो गया—'करी गोपालकी सब होय'।

भगवद्दर्शनकी उत्कंठा

गोरखपुर आनेके बाद सारा कार्य सुचारु रूपसे करते हुए पूज्य भाईजीके हृदयमें भगवद्दर्शनकी लालसा प्रतिपल तीव्र होती जा रही थी। अन्य कुछ भी उन्हें सुहाता नहीं था। तीव्र उत्कंठासे भरे हृदयके भाव एक पदके रूपमें प्रकट हुए। वही मारवाड़ी बोलीका पद नीचे उद्धृत किया जा रहा है—

अब तो कुछ भी नहीं सुहावे, एक तूँहीं मन भावे है।
तनै मिलणने आज मेरो, हिवड़ो उझल्यौ आवे है।।

तड़फ रह्यौ ज्यूँ मछली जल बिन, अब तूँ क्यूँ तरसावै है।
दरस दिखाणेमें देरी कर क्यूँ, अब ओर सतावे है॥
पण, जो इसी बातमें तेरो, चित राजी हो तो होवै।
तो कोई भी आँट नहीं, मने चाहे जितणो दुख होवै॥
तेरे सुखसें सुखिया हूँ मैं, तेरे लिये प्राण रोवे।
मेरी खातर प्रियतम! अपणे सुखमें मत काँटा बोवै॥
पण या निश्चे समझ, तनें मिलणेकी खातर मेरा प्राण।
छिण-छिणमें ब्याकुल होवे हैं, दरसणकी है भारी टाण॥
बाँध तुड़ाकर भाग्या चावै, माने नहीं किसीका काण।
आठों पहर उड्या-सा डोले, पलक-पलककी समझे हाण॥
पण प्यारा! तेरी राजीमें है नित राजी मेरो मन।
प्राणाधिक, दोनूँ लोकाँको, तूँ ही मेरो जीवन-धन॥
नहीं मिले तो तेरी मरजी, पण तन-मन तेरे अरपन।
लोक-बेद है तूँ ही मेरौ, तूँही मेरो परम रतन॥
चातककी ज्यूँ सदा उड़ीकूँ, कदे नहीं मुँहने मोड़ूँ।
दुख देवे, मारे, तड़पावे, तो भी नेह नहीं तोड़ूँ॥
तरसा-तरसाकर जी लेवे, तो भी तनैं नहीं छोड़ूँ।
झाँकूँ नहीं दूसरी कानी, तेरेमें ही जी जोड़ूँ॥
(पद रत्नाकर पद सं. ४१८)

जसीडीहमें भगवान विष्णुके साक्षात् दर्शन

भाईजीको सर्वप्रथम भगवान् विष्णुके साक्षात् दर्शन जसीडीह (बिहार) में पूज्य श्रीसेठजीके समक्ष १५-२० महानुभवोंकी उपस्थितिमें आश्विन कृष्ण ६, शुक्रवार, वि.सं. १९८४ (१६ सितम्बर १९२७) को हुए थे। इसका संकेत उसके पश्चात्की पद रचना और पत्रसे मिलता है जो नीचे दिये जा रहे हैं –

भाग्यवती जिन आखोंने वह देखी रूप-छटा अनुपम।
तृप्त हो गयीं, नहीं बता सकती हैं, वर्णनमें अक्षम॥
रुकी लेखनी, बंद हो गयी, चलता नहीं हाथ आगे।
क्षमा कीजिये प्रेमी पाठक, सरल पाठिके सद्भागे॥
(पद रत्नाकर पद सं. ८५९)

भगवद्दर्शनके बादकी स्थिति

गोरखपुर
आश्विन कृष्ण ३०, सं.१९८४
(२५ सितम्बर १९२७)

भाई रामेश्वर,

सप्रेम हरिस्मरण। तुम्हारे दो कार्ड मिले। मैं जसीडीहसे आज आया हूँ, तीन-चार दिन बाद शहरसे बाहर बगीचेमें जानेका विचार है। यह विचार किया गया है कि महीनेमें अधिक-से-अधिक चार बार शहरमें आया जाय, बाकी सब समयमें वहीं एकान्तमें भजन और लेखन वगैरहका कार्य हो, इस समय कहीं भी जानेका विचार नहीं है।

पूज्य माताजीकी इच्छा देशमें रहनेकी हो तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है, उन्हें समझा देना, वे आनेकी जल्दी न करें। मेरे रसोई वगैरहके लिये ब्राह्मण रक्खा जा सकता है या हाथसे बनाई जा सकती है, परन्तु उनके सबकी राजीके प्रतिकूल कार्य नहीं होना चाहिये।

यद्यपि उन लोगोंको मेरे पास रहनेसे पारमार्थिक लाभ बहुत पहुँच सकता है, क्योंकि मेरा जीवन अब दूसरे ढंग का हो चला है। पारमार्थिक स्थिति कुछ विलक्षण है, ऐसी स्थितिमें वे जितनी ही मुझसे अलग रहती हैं उतनी ही उसकी आध्यात्मिक हानि है, परन्तु मैं उनके मनके प्रतिकूल करना नहीं चाहता।··· ···

तुम्हारा
हनुमानप्रसाद पोद्दार

* * * *

जसीडीहसे गोरखपुर आनेके पश्चात भाईजी द्वारा श्रीसेठजीको लिखा पत्र—

परम पूज्यवर,

हृदयसे प्रणाम। जसीडीहकी अभूतपूर्व घटनाके सम्बन्धमें हम लोगोंके पहुँचनेसे पहले ही कलकत्तेसे समाचार आ गये थे। यहाँके लोगोंने उक्त घटना जाननेके लिये बड़ी उत्सुकता दिखलायी। कल प्रातःकाल तो विशेष कुछ-न-कुछ कहकर केवल साधनापर जोर दिया गया। रातको संकोच रहनेपर भी विवश होकर कितनी बातें कहनी ही पड़ीं। कलकत्तेमें बड़ा आन्दोलन हो गया दीखता है। सुननेमें आया है कि वहाँ श्रीहीरालालजीने भवनमें व्याख्यान देते हुए इस बातको कह दिया है।

भगवान् जैसा कुछ करना, करवाना चाहते हैं, वही सर्वथा न्याय-संगत है।

यहाँ लोगोंने कहा कि हमें भी दर्शन होने चाहिये। इसपर उनसे कहा गया कि जिनके बल और प्रतापसे दर्शन हुए हैं, उनसे ही आपलोग भी दर्शनके लिये प्रार्थना कर सकते हैं।

शेषमें उनसे कहा गया कि आपलोग जसीडीहकी आज्ञानुसार साधना करनेके लिये तैयार हों तो वहाँ लिखकर साधनाका क्रम पूछा जा सकता है, परन्तु आपलोगोंको कड़े-से-कड़े साधनके लिये तैयार रहना चाहिये। जो साधन वे बता दें, वही करना पड़ेगा। ऐसी धारणा कर लेनी चाहिये। इस बातको लोगोंने प्रायः स्वीकार किया। स्त्रियोंकी ओरसे भी कहा गया कि हम भी तैयार हैं। हमारी बात पीछे न रह जाय। इसीके अनुसार 'उन सबकी ओरसे' यह पत्र आपकी सेवामें लिखा जाता है। अब आपके जचे जैसी बात लिखनी चाहिये, जिससे उन सबको बहुत शीघ्र परमात्माके दर्शन हों, ऐसा तीव्र साधन बतलाना चाहिये।

अनुगत
हनुमान

* * * *

गोरखपुरमें पुनः भगवत् साक्षात्कार एवं भगवानसे वार्तालापके चार प्रसंग

प्रथम प्रसंग (भाईजीकी डायरीसे)

तिथि– सं. १९८४ वि., आश्विन शुक्ल ६, रविवार, ता. २-१०-१९२७ ई.

स्थान– कान्तिबाबूका बगीचा (गोरखपुर शहरके बाहर) दक्षिण तरफसे कमरेके पासवाला बीचका बड़ा कमरा।

समय– प्रातःकाल करीब साढ़े सात बजे

उपस्थिति– सत्संगके समय कई लोग थे, उनमेंसे कुछके नाम ये हैं– श्रीचेतरामजी, बद्रीप्रसादजी, रामेश्वरजी, घनश्यामदासजी, शंकरलालजी।

ध्यानकी बात हो रही थी, ध्यान भी हो रहा था। अकस्मात् परम प्रकाश हो गया, भगवान् श्रीविष्णु प्रकट हुए। आकाशमें खड़े हुए थे। करीब पाँच-छः मिनटोंतक दर्शन होते रहे। मुझसे कुछ भी बोला न गया। उनके मुखारविन्द ओर नेत्रोंसे कृपा झलक रही थी। जैसे पिता अपने पुत्रको और मित्र अपने मित्रको स्नेह और प्रेमकी दृष्टिसे देखता है, ऐसा भाव प्रत्यक्ष प्रतीत होता था। यह भी अनुभव हो रहा था कि भगवान् कुछ कहना चाहते हैं और फिर भी उनकी या मेरी जब कभी इच्छा हो पधारकर दर्शन देनेके लिये प्रस्तुत हैं। कुछ समय बाद अकस्मात् अन्तार्धान हो गये। दिनभर उपरामता रही।

इस घटनाकी सूचना देते हुए भाईजीने श्रीसेठजीको पत्र लिखा–

यहाँ प्रतिदिन प्रातःकाल ध्यानकी बातें होती हैं। कल प्रातःकाल ध्यानके समय छः सात मिनिट आँखें खुले हुए जसीडीहकी तरहसे ही श्रीभगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन होते रहे। कोई बुलाने या दर्शन करनेकी भावना भी जागृत नहीं हुई थी, परन्तु बड़ा ही विलक्षण आनन्द रहा। बुलानेकी इच्छा तो नहीं होती, परन्तु अब ऐसा विश्वास होता है कि गुरुचरण-कृपासे जब इच्छा हो तभी भगवान्‌के दर्शन और उनसे वार्तालाप हो सकते हैं। कल दिनमें एकबार आपके चरणोंमें आनेकी स्फुरणा हुई थी, कारण कुछ पता नहीं। मुझे कभी कोई स्वप्न भी नहीं आते। सालभरमें शायद एक-दो स्वप्न आते हो, परन्तु परसों रातको स्वप्नमें आपके दर्शन हुए। मानो मैं तथा

बहुतसे अन्य लोग आपके साथ कहींपर गये हुए हैं। पूरी बातें स्मरण नहीं हैं।

अनुगत
हनुमान

द्वितीय प्रसंग (भाईजीकी डायरीसे)

तिथि– सं.१९८४ वि., मिति आश्विन शुक्ल १२, शनिवार, ता.८-१०-१९२७ ई.

स्थान– कान्तीबाबूका बगीचा, दरवाजेके सामनेवाली दक्षिणाभिमुखी कोठरी, जिसमें आफिस था।

दिनके करीब बारह बजे उपरामताने जोर पकड़ा। मैं बाहर बैठा हुआ था। घरमें चूना पोतनेवाले मजदूरोंका काम देखनेकी चेष्टा कर रहा था कि अचानक किसीके द्वारा खिंचा-सा जाकर कोठरीके अन्दर चला गया और अन्दरसे किंवाड़ बन्द कर लिया। उत्तरकी खिड़कीके पास कुर्सीपर बैठ गया और मनकी भावनाके अनुसार किसीके बैठनेके लिये सामने एक कुर्सी और रख ली। अकस्मात् प्रकाश हो गया। महान् शान्ति-सी प्रतीत होने लगी। मेरी उस समयकी अवस्थाका मैं वर्णन नहीं कर सकता हूँ। तत्काल ही भगवान्‌का आविर्भाव हो गया। मेरे सामनेकी कुर्सीपर एकबार उनका चरण स्पर्श हुआ। फिर आकाशमें ही उनकी स्थिति रही। मैं मंत्रमुग्ध-सा हो रहा था। मेरे आनन्दका पार नहीं था। प्रभु मेरे सामने स्थित हुए करुणा और प्रेमके साथ महान् आनन्दकी वर्षा कर रहे थे। मैं कुछ बोल नहीं सका, न स्तुति कर सका, चरणस्पर्श मैंने उसी समय कर लिये। मन-ही-मन भगवान्‌की इस अयाचित कृपाको देखकर परम आह्लादित हो रहा था। बहुत देरतक यह स्थिति रही। फिर भगवान् बोले, मानो आनन्दका समुद्र उमड़ा– तेरी कुछ इच्छा बाकी हैं? बड़ी हिम्मतसे एक-दो वाक्य मेरे मुँहसे निकले–कुछ नहीं, केवल आप ··· ··· ···।

इस समय भगवान्‌की मधुर मुस्कान कुछ अनोखी ही थी। भगवान्‌ने हँसकर मानो मेरा समर्थन किया। फिर धीरे-धीरे बीच-बीचमें रुककर इतनी बातें कहीं–

(१) दर्शनोंकी बातें गुप्त रखनेमें ही लाभ है।

(२) धर्मके नामपर परस्पर लड़नेवाले मेरा प्रभाव नहीं जानते।

(३) पूरी गोरक्षामें अभी विलम्ब है।

(४) मेरे अवतारका समय अभी बहुत दूर है।

(५) जगत्का कुछ भला करना हो तो भेद छोड़कर नामका प्रचार कर, लोगोंसे कह दे कि इस कालमें नामसे ही सब कुछ हो जायगा। मेरे अवतारमें भी नाम ही हेतु होगा।

(६) जो लोग नामका सहारा लेकर पापको आश्रय देते हैं, उनको सावधानकर कि उनकी शुद्धि यमराज भी नहीं कर सकता।

(७) पापोंका नाश तथा भोगोंकी प्राप्तिके लिये नामका प्रयोग करना मूर्खता है। पापका नाश तो फलभोग और प्रायश्चितसे भी हो जाता है। क्षणिक भोगोंकी तो परवाह नहीं करनी चाहिये। भोगोंके आने-जानेमें तो हानि ही क्या है?

(८) नाम तो प्रियसे भी प्रियतम वस्तु है। इसका प्रयोग तो इसीके लिये करना चाहिये।

(९) दम्भ बहुत बढ़ गया है। दम्भ मेरी प्राप्तिमें सबसे बड़ा बाधक है। दम्भियोंसे सावधान रह और उनको भी सावधान कर दे कि उनकी बुरी गति होगी। काम-क्रोधसे भी दम्भ बुरा है।

(१०) किसीको भी मेरे दर्शनोंका पक्का आश्वासन मत दे।

(११) जसीडीहके सिवा इन बातोंका मेरे नामसे प्रचार न कर।

(१२) अब इस तरह नहीं आऊँगा। तेरे बिना बुलाये तो दो बार आ गया। मुझे ये बातें कहनी थीं। इसलिये जब चाहे स्मरण कर बुला सकता है, परन्तु भूल मत करना।

इसके बाद भगवान् चुप हो गये। मैं बड़े हर्षके साथ उनकी ओर ताकता रहा। उस समय जगत्में उनके सिवा मानो मुझे और कुछ नहीं भासता था। किसीकी स्फुरणातक भी नहीं थी। अकस्मात् श्रीभगवान् अन्तर्धान हो गये। मेरी स्थिर दृष्टि विचलित हो गयी। मैं देखता हूँ कि पूर्व ओरकी खिड़कीसे श्रीरामेश्वरजी

ताकके देख रहे हैं। मैंने सामनेकी कुर्सी अलग हटाकर किवाड़ खोल दिये। उस समय घड़ीमें करीब सवा दो बजे थे। इसके बाद करीब चालीस घंटेतक उपरामता बनी रही।

तृतीय एवं चतुर्थ प्रसंग (भाईजी द्वारा श्रीसेठजीको लिखा पत्र)

गोरखपुर,
कार्तिक कृष्णा १४, सं. १९८४ वि.
(२४ अक्टूबर १९२७ ई.)

श्रीपूज्य चरण,

हृदयसे प्रणाम। गत शुक्रवार, कार्तिक कृष्ण ११/१९८४ (२१ अक्टूबर, १९२७) को मैं यहाँ पहुँच गया था। आपकी आज्ञानुसार प्रश्नोंका उत्तर जाननेकी भावना मनमें थी। कार्तिक कृष्ण १२/१९८४ (२२ अक्टूबर, १९२७), शनिवारको प्रातःकाल करीब साढ़े पाँच बजे स्नान, सन्ध्याके उपरान्त मैं एकान्तमें बैठा था। बैठे-बैठे ही नींद या बेहोशी-सी हो गयी। उसमें श्रीभगवान् दीख पड़े। उन्होंने मानो इस भावके शब्द कहे—

(१) जिन सात विषयोंके प्रचारकी बात तुम लोगोंने तय की है, उनकी प्रचार जितने अधिक देशों और अधिक लोगोंमें हो, वैसी चेष्टा करो। लोगोंको समझा दो कि इसके माननेसे ही कल्याण हो सकता है।

(२) धर्मग्रन्थोंमें दूसरा धर्म माननेवालोंके लिये किसी धर्मग्रन्थका नाम न लेकर गीतोक्त भक्तियुक्त निष्काम कर्मका भाव माननेके लिये कहो।

(३) एकबार जिसने मेरा नाम ले लिया, उसका भला होनेमें कोई शंका नहीं करनी चाहिये।

(४) मेरी प्रेरणाके अनुसार कितना प्रचार हुआ है और हो रहा है, उसका पता पीछे लगेगा।

(५) मेरे मिलनेकी इन बातोंको प्रकाश करनेसे हानि है। इतनी बातें सुननेके बाद मुझे चेत हो गया। ऊपर जो बातें लिखी है, शब्द तो कुछ दूसरे भी थे, पर भाव वही है।

* * * *

आज सोमवार, (२४ अक्टूबर, १९८४) प्रातःकाल करीब साढ़े छः बजे ध्यानके लिये (बीचवाले बड़े कमरेमें) बैठे थे। आपकी आज्ञानुसार एकबार भगवान्‌का स्मरण करनेका विचार एकान्तमें था, परन्तु न मालूम क्यों पहलेसे ही ऐसी प्रेरणा होने लगी थी– इसी समय स्मरण किया जाय। तदनुसार प्रश्नोंका उत्तर जानने और आपकी आज्ञा पालन करनेके लिये श्रीभगवान्‌का स्मरण और आह्वान (गीता ४-७,८) किया गया। थोड़ी ही देरमें भगवान् वहाँ प्रत्यक्ष प्रकट हो गये। लोगोंको ध्यानमें आज विशेष शान्ति मिली। श्रीहरिकृष्ण- दासजी और चेतरामजीके अच्छा ध्यान हुआ। श्रीदुजारीजी, जो ध्यानके लिये आपसे उस दिन प्रार्थना करते थे, आज ध्यानमें उनको बड़ा आनन्द रहा। उन्होंने कहा कि मुझे आज, ऐसा ध्यान होनेकी आशा नहीं थी।

श्रीघनश्यामदासजीको आँख खोले हुए और मूँदे हुए प्रकाश अत्यधिक मालूम हुआ। उनकी आँखें डबडबा आयीं और उन्हें रोमांच भी हुआ। श्रीरामनरसिंहजीको (जसीडीहकी भाँति ही आँख मूँदे ओर खुले हुए, उनसे) कहा गया कि प्रत्यक्षकेसे भावको छोड़कर, प्रत्यक्ष मानो और चरणस्पर्श करनेकी चेष्टा करो। परन्तु उन्होंने कहा–मुझे तो मनकी दृढ़ कल्पना ही मालूम होती है। आँखें अधिक देर खुली नहीं रहती, आपसे आप मुँद जाती हैं, पीछे उनसे बात करनेपर मालूम हुआ कि उस समय उनके समझनेमें कुछ भूल रह गयी थी। लोगोंके उठ जानेके बाद श्रीरामनरसिंहजी और श्रीदुजारीजी बहुत देरतक ध्यानमें बैठे रहे।

भगवान्‌से जिन चार बातोंके पूछनेकी मनमें भावना हुई थी, वे इस प्रकार है–

(१) आपका स्वरुप ही श्रीजयदयालजीका स्वरूप है, इसमें क्या भाव है ?

(२) बीस वर्ष पूर्व प्रेरणा करनेपर भी सन्तोषजनक कार्य क्यों नहीं हुआ ?

(३) नामका प्रचार किस तरह किया जाय? क्या संन्यास लेनेसे अधिक प्रचार हो सकता है ?

(४) किस नामका प्रचार किया जाय ?

इन प्रश्नोंका उत्तर निम्नलिखित मिला–

(१) इस सम्बन्धमें जयदयालसे ही पूछो, वही बता सकता है।

(२) कल कहा ही था– कार्यका पता पीछे लगेगा। डाले हुए बीजोंका विस्तार फल लगनेपर मालूम होगा। असन्तोष मत करो, कार्य करो।

(३) कलके कहे अनुसार जितना अधिक लोगोंमें प्रचार कर सको, उतना करो। स्थान-स्थानपर कीर्तन होना बहुत अच्छा है। संन्यासकी अभी आवश्यकता नहीं, आगे चलकर विशेष लाभ हो सकता है।

(४) कोई खास नाम नहीं है, मेरे भावसे कोई-सा भी नाम मनुष्य ले सकता है।

इसके बाद घनश्यामदासजीके सम्बन्धमें तो मेरे मनमें कोई भावना नहीं हुई। रामनरसिंहजीके सम्बन्धमें भी मेरे मनमें कोई प्रार्थना करनेकी भावना तो नहीं हुई। केवल आपकी प्रेरणानुसार साधारण भावना मनमें हुई, जिसका उत्तर तुरन्त यह मिला कि इसके दृढ़ निश्चय होनेसे हो सकता है।

इसके बाद इतना और कहा कि कलके संकेतसे प्रश्नका उत्तर दे दिया गया था। आज फिर स्मरण किया, इसलिये आना हुआ। परन्तु मुझे बुलानेके भावसे ऐसे स्मरण नहीं करना चाहिये। यह नीचा भाव है। उस दिनका संकेत तूँ समझा नहीं। उचित समझनेपर हम स्वयं आ सकते हैं। इन सब बातोंका प्रकाश करनेमें हानि है। इतना कहते ही भगवान् अन्तर्धान हो गये। कोई आध घंटेतक दर्शन होते रहे। यही आजकी घटना है।

पहले प्रश्नकी प्रेरणा और उसका उत्तर दोनों ही अद्‌भुत है। इस सम्बन्धमें मेरे विश्वासके अनुसार जो बात मेरी समझमें आयी, उसका खुलासा कभी रूबरू मिलनेपर हो सकता है। इस समय आपसे कुछ पूछनेका मेरा आग्रह नहीं है। एकबार तो इस घटनाको लेकर स्वयं आपकी सेवामें उपस्थित होनेका विचार हुआ था, परन्तु पीछेसे यही ठीक समझा कि रजिस्ट्री चिट्‌ठीके द्वारा ही यह विषय लिखकर भेज दिया जाय। भगवान्‌की प्रेरणा और आपकी इच्छाके अनुसार इस विषयको आप जितना गुप्त रखना या प्रकाशित करना ठीक समझें, वैसा कर सकते हैं।

मेरी समझसे तो अभी इसका प्रकाश न होना ही भगवान्‌की प्रेरणा है।

सात बातोंके सम्बन्धमें मेरे ऐसी स्फुरणा हुई कि इनके सम्बन्धमें तीन-चार पृष्ठका एक लेख लिया जाय, जिनमें इन सात बातोंका खुलासा हो और उस लेखका बंगला, मराठी, गुरुमुखी, गुजराती, तामिल, उर्दू और अँग्रेजी आदि भाषाओंमें अनुवाद करवाकर लाखोंकी संख्यामें ट्रेक्ट (पेमफ्लेट) छपाये जायँ और वे बहुत कम मूल्य या बिन मूल्य भारतके प्रायः सभी प्रान्तोंमें और इंगलैंड, अमेरिका आदि देशोंमें भी प्रचारित किया जाय।

भारतके और विलायतके प्रायः बहुत-सी भाषाओंके पत्रोंमें भी प्रकाशित करवानेकी चेष्टा की जाय तो बहुत लोगोंके पास इस सन्देशके पहुँचनेमें सुगमता हो सकती है।

सम्भवतः इस काममें आरम्भमें दो हजार रुपये अन्दाजा खर्च हो सकते हैं, जो मेरी समझमें खर्च करने उचित हैं। इस सम्बन्धमें आपकी जो आज्ञा हो सो लिखनी चाहिये। आपकी आज्ञानुसार कार्य आरम्भ करनेका विचार है और कोई बात इस सम्बन्धमें जचे सो लिखनी चाहिये।

स्वास्थ्यके सम्बन्धमें और यहाँ आनेके सम्बन्धमें जैसा जचे सो लिखना चाहिये।

अनुगत
हनुमान

* * * *

एक प्रसंगमें भाईजीने बताया–

''बाहरसे जीवनको साधारण रखनेकी प्रेरणा तो जसीडीहके बादसे ही हो गई थी किन्तु स्पष्ट आदेश तो श्रीकृष्णने ही दिया।''

* * * *

नगर संकीर्तन का नेतृत्व करते हुए

भगवन्नामका प्रचार

भाईजीने अपने सत्सङ्गमें भगवन्नाम-जपके साधनपर ही सर्वाधिक बल दिया। सन् १९२६ में 'कल्याण'का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। 'कल्याण'में षोडश-मन्त्रके साढ़े तीन करोड़ नामजप करनेकी प्रार्थना भाईजीने 'कल्याण'के प्रेमी पाठक-पाठिकाओंसे की। 'कल्याण'-प्रेमियोंने नामजपमें इतना उत्साह प्रदर्शित किया कि साढ़े तीन करोड़ मन्त्र-जपके स्थानपर लगभग पैंतीस करोड़ मन्त्रोंका जप हुआ। इसके पश्चात् भाईजीने 'कल्याण'का प्रथम विशेषाङ्क (सन् १९२७) 'श्रीभगवन्नामाङ्क' प्रकाशित किया, जिसमें नाम-महिमापर शास्त्रके वचन एवं संतोंके अनुभवपूर्ण लेख प्रकाशित हुए।

गोरखपुरमें ८ अक्तूबर, १९२७ के दिन भगवान्‌ने भाईजीको साक्षात् दर्शन देकर भगवन्नाम-प्रचारका आदेश दिया (देखें पृष्ठ....) *तत्पश्चात भाईजी नाम-प्रचार-कार्यमें प्राणपणसे प्रवृत्त हो गये। भाईजी श्रीभगवन्नाम-जपके सम्बन्धमें कहते थे—*

मैं भगवान्‌के नामपर जोर क्यों देता हूँ? इसका कारण यही है कि मैंने जीवनभर यही किया है। जो कुछ भी अच्छी बात जीवनमें आयी है, वह नामजप एवं भगवत्कृपाके प्रतापसे। पारमार्थिक जीवनका प्रारम्भ नामजपसे हुआ और जीवनमें साधना भी इसीकी हुई।

मैं नाम-महिमाको अर्थवाद नहीं मानता हूँ। मैंने नामजपसे बहुत बड़े-बड़े कार्य सफल होते देखे हैं और स्वयं मेरे जीवनमें हुए हैं। नामकी जो महिमा कही जाती है, वह सत्य है और अनुभवकी वस्तु है। अतः इसे बलपूर्वक कहनेमें कोई संकोच नहीं।

* * * *

शिलंगमें सत्सङ्गके लिये एकत्रित प्रेमीजनोंके समूहमें प्रवचन करते हुए भाईजीने कहा—

शिलंग आनेपर मेरे हृदयमें नये-नये भाव उत्पन्न हो रहे हैं, क्योंकि यह मेरी जन्म-भूमि है। मैं यहाँ केवल एक संदेश लेकर आया हूँ और वह है

'श्रीभगवन्नाम'। शास्त्रोंका कथन है, महापुरुषोंका उपदेश है, अनेकों बड़े-बड़े महात्माओंके अनुभव हैं, श्रीभगवान्‌की दिव्य वाणी है और मेरा विश्वास तथा अनुभव है। वर्तमान समयके देशके सबसे बड़े दो नेता— महात्मा गांधी तथा महामना मालवीयजी भगवन्नामके बड़े भक्त हैं। रामनामके सम्बन्धमें किसी प्रमाणकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। इस घोर कलिकालमें नामके समान अन्य कोई सहारा नहीं।

* * * *

वर्तमान समयमें भाईजी भगवन्नाम-स्मरणको ही एकमात्र साधन मानते थे। एक स्थानपर उन्होंने लिखा है—

इस समय नामके सिवा संसारसागरसे पारकर देनेवाला दूसरा कोई भी सहज साधन मुझे दृष्टिगोचर नहीं होता..... मैं भगवन्नामकी महिमा क्या लिखूँ? मैं तो नामका जिलाया जी रहा हूँ।

* * * *

नाम-साधनामें लगे एक संन्यासी महात्माको आश्वस्त करते हुए उन्होंने कहा था—

भगवान् भले ही दूसरी प्रार्थना सुननेमें थोड़ी देर भी कर दें, पर यदि कोई सचमुच चाहे कि उसके द्वारा निरन्तर नामजप हो और इसके लिये वह भगवान्‌से प्रार्थना करे तो यह प्रार्थना निश्चय ही तत्क्षण पूरी हो जायगी।

* * * *

कोई भले ही अपनेको कितना ही पापी, अपराधी बताता, भाईजी उसे प्रेमपूर्वक नामजपकी सलाह देते तथा कहते थे—

जितनी शक्ति भगवन्नाममें पाप-नाशकी तथा कल्याण करनेकी संनिहित है, उतनी शक्ति पापोंके समूहमें नहीं। प्रेमपूर्वक किये गये नाम-जपकी महिमा तो अपार है ही, लेकिन यदि कोई अनजाने, भूलसे, किसीके आग्रहको मानकर या अवहेलनासे ही एक बार भगवान्‌के नामका उच्चारण कर लेता है,

उसका भी उद्धार हो जायेगा। सूअरके द्वारा आहत होनेपर एक यवनके मुखसे मरते समय जो गाली निकली –'हराम', उसमें भी 'राम' शब्दके निकलनेसे उसकी मुक्ति हो गयी।

भाईजीने एक बार अपने प्रवचनमें कहा–

भगवन्नामके अनुभव मैं क्या बताऊँ? जीवनमें जो कुछ भी अच्छापन है, वह केवल भगवन्नाम और भगवत्कृपाकी महिमा है। बाकी सारी बुराई मेरी है। मैं सच कहता हूँ, मेरे पास अगर कोई धन है तो भगवन्नाम और भगवत्कृपाका। इसका मुझे अभिमान है। अभिमान होना नहीं चाहिये, पर अभिमान है कि मुझपर भगवान्‌की अनन्त कृपा बरस रही है। यह मुझे निरन्तर भान होता है, आजसे नहीं, बहुत पहलेसे ऐसा भान होता है कि मुझपर भगवान्‌की अनन्त कृपा बरस रही है। तुलसीदासजीके एक पदकी अन्तिम दो पंक्तियोंको मैंने अपने जीवनमें बहुत अच्छा समझा और उसको उतारनेकी चेष्टा की–

सकल अंग पद बिमुख नाथ मुख नाम की ओट लई है।
है तुलसिहिं परतीति एक प्रभु-मूरति कृपामई है।।

''सारे अङ्ग, हे नाथ! आपके चरणोंसे विमुख हैं। केवल जीभने नामकी ओट ले रखी है और एक ही विश्वास है– 'प्रभु-मूरति कृपामई है'। बड़े-बड़े संकट आये– संकटोंकी अवधि नहीं। जिस समय पकड़ा गया, उस समय घरपर बड़ा संकट था। उसके बाद एक व्यापारमें घाटा लगा, उसका बड़ा संकट था। एक बार हमारे कुछ दोस्तोंने एक कांस्पिरेसी (षड्यन्त्र) की और एक बहुत बड़े निन्दनीय अपराधमें फँसाना चाहा। बिलकुल झूठी चीज थी। उसमें भी भगवान्‌की कृपाने बचाया। आप सबको अपने अनुभवके रूपमें केवल दो ही बातें मैं कह सकता हूँ– एक तो भगवत्कृपापर विश्वास और एक भगवन्नामका आश्रय। उसके सिवा न बुद्धि है, न विद्या है, न कला है। मैं कुछ नहीं जानता। साहित्यका मुझे क्या पता? मैं लिखा-पढ़ा नहीं, परंतु सभी जगह बड़े-बड़े साहित्यिक लोगोंने मुझपर कृपा की। हिंदुस्तानके मूर्धन्य बड़े-बड़े लेखकोंका 'कल्याण'में सहयोग मिला। श्रीविष्णुदिगम्बरसरीखे महान् संगीताचार्य मुझे संगीत सिखानेके लिये महीनोंतक घरपर आये, पर मैं अभागा कि नहीं सिखा। इतना उनका प्रेम मेरे प्रति था। देशके बड़े-बड़े मूर्धन्य व्यक्ति,

जैसे मालवीयजी (लोग मालवीयजीको पण्डितजी कहते थे, परंतु मैं उनको 'बाबूजी' ही कहा करता था), उन मालवीयजीके परिवारका मैं था। गांधीजीने मुझे अपने परिवारका माना। श्रीअरविन्दके साथ मेरा सम्बन्ध रहा। मेरे अयोग्य होते हुए भी क्यों इतनी बातें हुईं? मैंने अनुभव किया, मेरी अयोग्यताकी अपेक्षा भगवान्‌की कृपा कहीं अधिक बड़ी शक्ति रखती है और वह कृपा मुझपर निरन्तर बरसती रहती है। उस कृपाके भरोसे मुझे अशान्तिके स्थानपर शान्ति मिली। दुःख और निराशा जहाँ चारों और मँडरा जाते, ऐसी अवस्थामें मुझे आशा मिली, विषादसे निकलनेका पवित्र और सरल मार्ग मिला। और यह सब हुआ केवल भगवत्कृपा और भगवन्नामसे।''

* * * *

उनका कहना था—

भगवान्‌के मङ्गलमय नामसे ऐसा कौन-सा कार्य है, जो सिद्ध नहीं हो सकता; ऐसा कौन-सा महापाप है, जिसका नाश नहीं हो सकता; ऐसी कौन-सी परम गति या मुक्ति है, जो नामसे नहीं मिलती? परंतु विचारनेकी बात तो यह है कि नामका उपयोग कहाँ करना चाहिये। क्या नाम ऐसा तुच्छ पदार्थ है, जो केवल पापोंके धोनेमें ही लगाया जाय या इस लोग अथवा परलोककी किसी नाशवान् भोग्य वस्तुकी प्राप्तिके लिये उसका प्रयोग किया जाय? जो पाप प्रायश्चितसे या फलभोगसे नाश हो सकते हैं, जो क्षणभङ्गुर भोग्य पदार्थ पुण्यबलसे मिल सकते हैं, उनके लिये नामका प्रयोग करना चमकीले पत्थरोंके लिये महारत्न दे देनेके समान मूर्खताका कार्य है। भगवन्नाम तो प्यारी-से-प्यारी वस्तु है। उसके जपसे नामरूपी बड़े-से-बड़े आदरणीय अतिथि हमारे जिह्वाद्वारपर आकर उपस्थित होते हैं, जिनकी चरणरज मस्तकपर चढ़ानी चाहिये। ऐसे परम पूजनीय अतिथिसे झाड़ू दिलवाकर घरका मैला साफ करवाना क्या बुद्धिमानीका काम है? क्या यह हीनता नहीं है? जिसके स्वागतके लिये सब जगहकी सफाई और सजावट करनी चाहिये, उसीसे घरका आँगन साफ करवाना क्या नीचापन नहीं है? यदि है तो फिर नामका प्रयोग पापोंके नाशमें नहीं करना चाहिये।

* * * *

'गीताप्रेस' तथा 'कल्याण'

मैं गीताप्रेस, गोरखपुरमें रहने नहीं आया था, पर भगवान्के मंगलविधानसे रहना हो गया। मैं आया था, उस समय बहुत छोटे रूपमें काम था। एक बड़ी, एक छोटी—केवल दो छपाईकी हाथ-मशीनें थीं। 'गीता', 'प्रेमभक्तिमें प्रकाश', 'त्यागसे भगवत्प्राप्ति' —पुस्तकें निकली थीं। भगवान्की प्रेरणासे फिर काम बढ़ता गया। गोविन्दभवनके ट्रस्टियोंमें साहित्यके जानकार केवल एक पुरुष थे— श्रीज्वालाप्रसादजी कानोड़िया। और सब लोग श्रीसेठजी जयदयालजीके भक्त थे, उनके आदेशानुसार ट्रस्टी बने थे। काम देखते थे श्रीघनश्यामदासजी जालान। मेरे आनेके बाद साहित्य- प्रकाशनका कार्य बढ़ा। पूज्य श्रीजयदयालजीने विश्वास करके मुझको स्वतन्त्रता दे दी थी प्रकाशनार्थकी। अतएव पुस्तकोंका चयन, अनुवाद कराना, लिखवाना, सम्पादन करना, सब मैं ही करता था। वे प्रूफ सुनते थे और कहीं कोई बात नहीं जंचती तो कह देते थे। इतने दिनोंमें एक पुस्तक जो उनको नहीं जँची, दुबारा नहीं छापी गयी। उपनिषदों, पुराणों, श्रीमद्भागवत, महाभारत, वाल्मीकि रामायण आदिका चयन, अनुवाद कराना, चित्रादि बनवाना सब मैंने किया। केवल दो पुराणोंका (पद्मपुराण) संक्षिप्तिकरण पूज्य श्रीसेठजीने किया। शेष प्रायः सभी पुस्तकें श्रीरामचरितमानस तथा तुलसीदासजीके अन्यान्य ग्रन्थ, बाल साहित्य, भक्तगाथा, चरित्र साहित्य, स्त्री साहित्य, छोटे-बड़े ट्रैक्ट प्रायः सभी मेरे इच्छानुसार ही प्रकाशित हुए। सभी ग्रन्थोंका सम्पादन भी मेरी देख-रेखमें हुआ। यहाँतक कि पूज्य श्रीसेठजीकी 'गीतातत्त्व-विवेचनी टीका' जिसको सुन्दर भाषामें लिखा था बाबा श्रीचक्रधरजीने और उसका भी सम्पादन मैंने ही किया। भाषा सुधारके साथ ही सारी टिप्पणियाँ मेरी लिखी हुई हैं। 'कल्याण'के विशेषांकोंका चयन, सम्पादन भी मैंने ही किया। 'कल्याण'के लिये वैसे भी मैं पूर्ण स्वतन्त्र था। लेखक, सम्पादक, अनुवादक मिलते गये। साहित्य-प्रकाशन होता गया।

परन्तु मशीन छपाई, पुस्तकोंकी बिक्री, आर्थिक व्यवस्था इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था। अभिप्राय यह है कि इन कार्योंको मैं बिलकुल नहीं देखता था। सारी व्यवस्था श्रीघनश्यामदासजी ही करते थे। साहित्य-निर्माण सारा मेरे जिम्मे था, व्यवस्था सारी उनके जिम्मे थी। पूज्य श्रीजयदयालजी हर

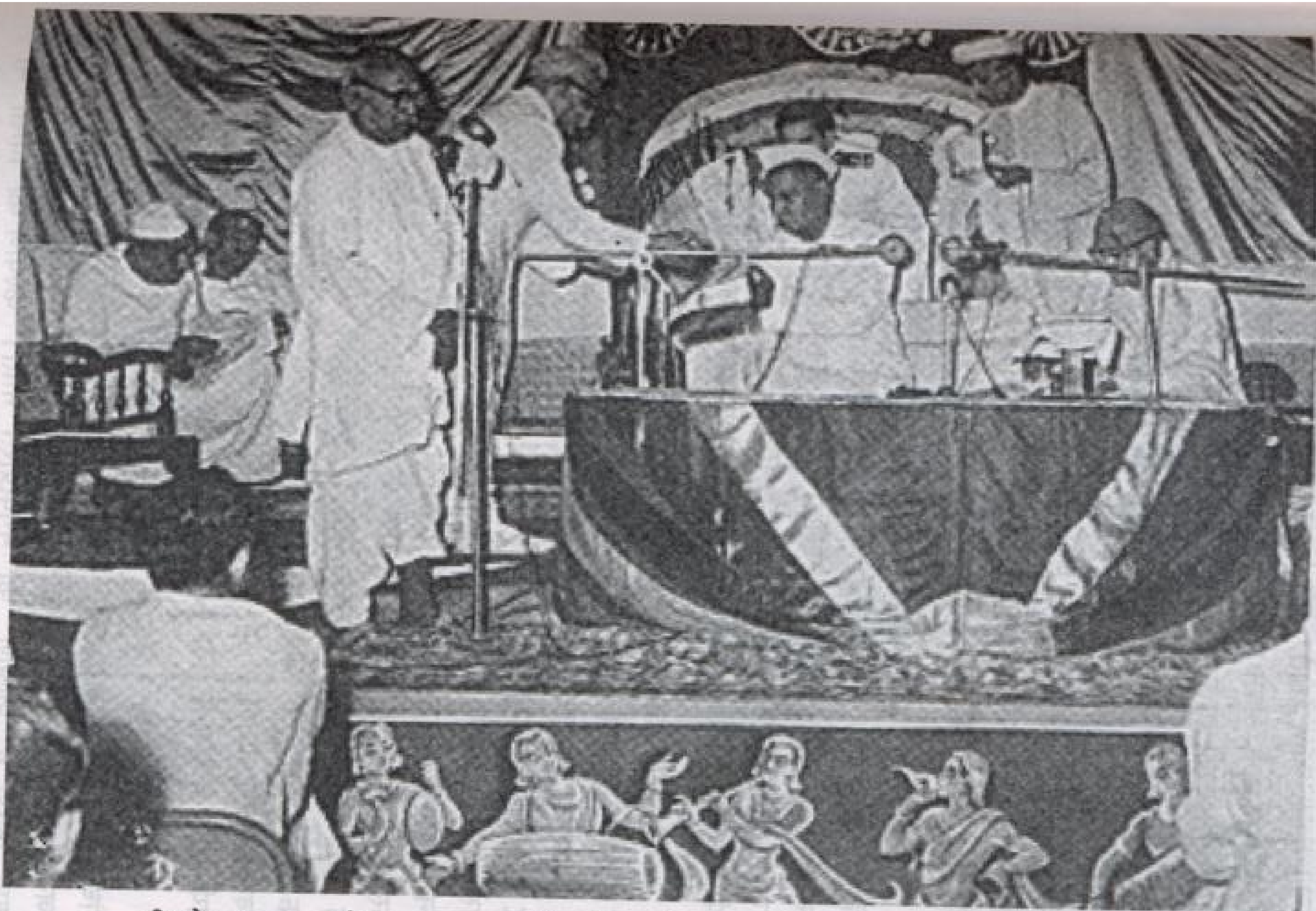

गीताप्रेस मुख्यद्वार के उद्‌घाटन समारोह में राष्ट्रपति डा. राजेन्द्रप्रसाद का स्वागत भाषण करते हुए

एक व्यवस्थाका ध्यान रखते, बड़ी दिलचस्पीसे देखते और उनके आदेशानुसार या घनश्यामदासजी अपने प्रस्तावकी, सुझावकी उनसे स्वीकृति लेकर व्यवस्था करते थे और ट्रस्टी तो नामके थे।

उस समय केवल भगवद्सेवाके भावसे आये हुए कुछ लोग थे। श्रीगंगाप्रसादजी, पं.श्रीलादुरामजी, श्रीबिहारीलालजी, श्रीशुकदेवजी, ये सभी निष्काम भावसे केवल खर्च मात्र लेकर प्रेसकी सेवा करते थे। कुछ समय बाद श्रीबजरंगलाल आ गये थे, भाई रामेश्वर बाजोरिया थे। मजदूरोंका झंझट था नहीं। अतः व्यवस्थाका कार्य भली भाँति चलता था।

अब पूज्य श्रीसेठजी तथा श्रीघनश्यामदासजीके देहावसानके बाद साहित्य प्रकाशनका कार्य तो किसी तरह चल रहा है, पर व्यवस्थामें अस्त-व्यस्तता आ गई है। उसका बड़ा कारण तो है वर्तमानमें मजदूर-मनोवृत्ति, जिसके कारण झंझट बने ही रहते हैं। दूसरा कारण है कार्यको सुचारू रूपसे एकमत होकर देखे जानेकी व्यवस्थाका अभाव।

श्रीलादूरामजीका देहावसान हो गया, श्रीबिहारीलालजीने अपना व्यापार कर लिया, श्रीशुकदेवजीका भी देहावसान हो गया। रामेश्वर पहले ही चले गये थे। श्रीबजरंगलालजीको पक्षाघात होनेसे, अच्छे होनेपर भी वे पूरा काम नहीं कर पाते। गंगाप्रसादजी काम देखते हैं, पर वे प्रायः वृद्ध हो चले हैं। स्थायी रूपसे रहकर किसी भी विभागमें पूरी जिम्मेदारीके साथ काम करनेवाले जानकार अनुभवी पुरुष अभी कोई है नहीं। ट्रस्टी सभी प्रेसका हित चाहते हैं, किसीका निजी स्वार्थ नहीं है। मैं दोष तो नहीं देता, पर यह कहना पड़ता है कि कुछ ट्रस्टियोंका परस्परका मतभेद, एक-दूसरेके प्रति प्रेमका अभाव, एक-दूसरेमें दोष देखनेकी प्रवृति तथा अहंभावका पोषण, सुचारू रूपसे कार्यकी व्यवस्था होनेमें बाधक-सा हो रहा है। भगवान् सबको सुबुद्धि दें। 'कल्याण' का कार्य अभी तो चल ही रहा है।

गीताप्रेस तथा कल्याणके प्रति सभी वर्गकि लोगोंकी बड़ी सद्भावना है। आचार्य, साधु, महात्मा तथा सभी धर्मोंके विद्वान्, सरकारी, गैर-सरकारी, राजनीतिक क्षेत्रकी विभिन्न पार्टियाँ सभी 'कल्याण' से प्रेम करते हैं। इसका प्रधान कारण है 'कल्याण' की भगवत्प्रेरित नीति। 'कल्याण'का किसी भी धर्म-सम्प्रदाय, मत-मतान्तर तथा किसी भी क्षेत्रके साधु, महात्मा, आचार्य,

फकीर, पादरी आदिसे कोई विरोध नहीं। कट्टर सनातनधर्मी होते हुए भी तथा सनातन धर्मका प्रचार मुख्य उद्देश्य होनेपर भी किसी भी मत-सम्प्रदायकी अच्छी बातें 'कल्याण'में बिना संकोच आदर सहित प्रकाशित की जाती हैं। यदि देखा जाय तो इससे उदार सनातनधर्मके सिद्धान्तोंका भी प्रचार होता है। विभिन्न सम्प्रदाय-धर्मके लोग अपनी बात पढ़नेके लिए 'कल्याण' लेते हैं पर 'कल्याण' लेनेपर अन्यान्य लेख भी उनके पढ़नेमें आ ही जाते हैं। इसीलिये 'कल्याण' के विशेषांकोंका बड़ा आदर है सभी श्रेणीके लोगोमें और इसीसे गीताप्रेसके प्रति सबकी आत्मीयता एवं ममता है।

यह जो मेरे द्वारा गीताप्रेस और 'कल्याण' का कार्य हुआ, हो रहा है– इसमें वास्तवमें मेरा कृतित्व कुछ भी नहीं है। मैं यदि इसके लिये गर्व करूँ तो वह सर्वथा मिथ्याचार और अपराध होगा। मैं तो साहित्य- संगीत-कला-विहीन, अज्ञान तिमिरान्ध, साक्षात् एक जन्तु-मात्र था। भगवान्‌ने अपने-आप स्वाध्यायका दीर्घकालीन सुयोग दिया, संत-महात्मा-भक्त-विद्वानोंका संग प्राप्त हुआ, निर्बाध असीम क्षेत्र मिला, बताने, सिखाने तथा सहायता देनेवाले समर्थ साथी मिले। यह सब भगवत्कृपा तथा भगवत्प्रेरणासे ही हुआ।

बिना किसी योजनाके जिस प्रभुने अपनी इच्छासे तुच्छको विशाल किया– गीताप्रेसके कार्यको इतना बढ़ाया, उसकी चतुर्दिक् प्रगतिकी, वे प्रभु जबतक इसे देखना और चलवाना चाहेंगे, तबतक किसी भी बाधा-विघ्न या साक्षात् विध्वंसकभावसे भी इसका कुछ नहीं बिगड़ेगा और यह चलता रहेगा और जिस क्षण प्रभु इसे रखना नहीं चाहेंगे, उस दिन कोई भी शक्ति इसे बचा नहीं सकेगी।

इस भगवद्विश्वासके सभी अधिकारी हैं और सभीको इससे लाभ उठाना चाहिये।

गोरखपुर आनेपर तो 'कल्याण' के कारण देशभरके सभी प्रान्तोंके बहुत बड़े सम्मान्य साधु-महात्माओं, आचार्यों, विद्वानों, लेखको, विभिन्न धर्मोंके माननेवाले महानुभावोंसे मेरा सम्पर्क हो गया। प्रयागके पंडित श्रीगंगानाथजी झा, श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल, श्रीरामदयाल मजूमदार, श्रीमोतीलाल राय, श्रीअनिलवरण राय, वाराणसीके गोस्वामी दामोदरदासजी शास्त्री, महामना श्रीगोपीनाथजी कविराज, श्रीभगवानदासजी, श्रीप्रेमथनाथजी तर्कभूषण,

श्रीपंचानन तर्करत्न, श्रीगिरिधरशर्माजी चतुर्वेदी, श्रीदेवनायका- आचार्य, जगद्गुरू शंकराचार्य श्रीभारतीकृष्णजी तीर्थ, जगद्गुरू शंकराचार्य श्रीब्रह्मानन्दजी, स्वामी श्रीकरपात्रीजी, नागाबाबा, स्वामी एकरसानन्दजी, श्रीराजगोपालाचार्यजी, जाजूजी आदि विद्वानोंसे सम्पर्क हुआ। भारतके अद्वितीय विद्वान श्रीगोपीनाथजी कविराजकी कृपा प्रीति तो उत्तरोत्तर बढ़ती गई। 'कल्याण' के कार्यमें उनसे जो अमूल्य सहायता मिली, तथा मिल रही है, वह बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है।

'कल्याण' के सम्पादन-कार्यमें भगवत्कृपासे विशिष्ट श्रेणीके विद्वानोंका अपूर्व सहयोग प्राप्त हुआ। 'कल्याण' से ही जाकर पं.श्रीनन्ददुलारेजी वाजपेयी उज्जैन विश्वविद्यालयके कुलपति हुए, पण्डित श्रीशान्तनुबिहारीजी द्विवेदी आज अखण्डानन्दजीके नामसे प्रख्यात भारतके प्रमुख विद्वान् महात्मा हैं। श्रीमुनीलालजी आज स्वामी श्रीसनातनदेवजीके नामसे आदर्श संन्यासीके रूपमें प्रसिद्ध हैं। कल्याणके पं.भुवनेश्वरनाथजी मिश्र आज गया कालेजके प्रिंसिपल हैं। 'कल्याण' के श्रीराजबलीजी पाण्डेय जबलपुर विश्वविद्यालयके उपकुलपति हैं। पण्डित श्रीरामनारायणदत्तजी पाण्डेय शास्त्रीजी काशी वाराणसेय संस्कृत महाविद्यालयके वरिष्ठ आचार्य हैं। श्रीकृष्णदासजी कलकत्ता बंगाली शरणार्थियोंमें अग्रगण्य हैं। श्रीचन्द्रदीपजी त्रिपाठी पाण्डेचरी श्रीअरविन्दाश्रमके मान्य सदस्य हैं। पं. देवधरजी शर्मा श्रीकृष्ण जन्मस्थान, मथुरा तथा स्वर्गाश्रम, ऋषिकेशके सर्वेसर्वा संचालक हैं। श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी आदर्श सदाचारका जीवन बिता रहे हैं।

'कल्याण'के द्वारा महात्माओंकी जूठनका प्रसाद बाँटा जाता है

'कल्याण'के द्वारा जो कुछ भी होता है वह माहात्माओंकी जूठनका प्रसाद बाँटा जाता है। हमारा उसमें कुछ भी नहीं है। सारा ज्ञान भगवान् व्यासका उच्छिष्ट है और सब महात्मा उन्हीं व्यासके स्वरूप हैं। 'कल्याण' तो उन्हीं व्यासजीके उच्छिष्टका ही प्रसार करता है। अपने पास, 'कल्याण'के पास कुछ है नहीं। यह सौभाग्य महात्माओंकी कृपासे मुझे प्राप्त है। यह भगवान्की कृपा है।

* * * *

'कल्याण'की नीति

'कल्याण'की नीतिके सम्बन्धमें भाईजीका निम्नलिखित पत्र ध्यान देने योग्य है—

प्रिय महोदय,

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला, धन्यवाद। आप 'कल्याण' को बराबर पढ़ते आ रहे हैं— यह बड़ी प्रसन्नताकी बात है। 'कल्याण' एक धार्मिक पत्र है। सनातनधर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रत्येक बातका प्रचार 'कल्याण' द्वारा होता है। इसका प्रधान विषय अध्यात्म ही है। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, निष्काम कर्मयोग, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, सदाचार, सतीधर्म, नारीधर्म आदि सभी विषयोंपर 'कल्याण' द्वारा प्रकाश डाला जाता है। हिंदूशास्त्रोंमें वेद, उपनिषद्, पुराण, महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थोंका बहुत उच्च स्थान है; इन्हीं ग्रन्थोंमें हमारी संस्कृतिका परम दिव्य उज्जवल-स्वरूप चित्रित है। अतः इन्हींके आधारपर 'कल्याण'में अधिकांश विचार प्रकट किये जाते हैं। इन सबमें भी गीताका स्थान महान् है। गीताके अनुसार जीवन बनानेसे मनुष्यका प्रत्येक व्यवहार आध्यात्मिक उन्नतिका, भगवत्पूजनका साधन बन जाता है। गीताने मुख्यतः दो निष्ठाओंका वर्णन करके उन्हें भक्तिके साथ संयुक्त कर 'मणि-काञ्चन-योग' उपस्थित किया है। 'कल्याण' किसी व्यक्तिके मतकी ओर आकृष्ट न होकर अपनी समझके अनुसार भगवान्के मतका प्रकाश करता है। 'कल्याण' गीताको कर्मयोग और ज्ञानयोग— दोनों निष्ठाओंका प्रतिपादक मानता है। 'कल्याण' ने अबतक इसी नीतिसे गीताको देखने और समझनेका प्रयास किया है। 'कल्याण' किसी व्यक्ति या व्यक्तिगत सिद्धान्तका प्रचारक न होकर निष्पक्ष शास्त्रीय सिद्धान्तका ही प्रचार करना अपना ध्येय मानता है, पर 'कल्याण' किसीपर किसी सिद्धान्तको लादना भी नहीं चाहता। जो अपने शुद्ध दृष्टिकोणसे गीतामें केवल 'संन्यास' का प्रतिपादन मानते हैं, वे वैसी बात मान सकते हैं और जो केवल 'निष्काम कर्मयोग'को ही गीताका मुख्य सिद्धान्त मानते हैं, वे भी अपने मतके लिये स्वतंन्त्र हैं। 'कल्याण' अपनी बात कहता है, किसीका खण्डन नहीं करता। 'कल्याण' यह दावा भी नहीं करता कि गीताके सम्बन्धमें वह जो मानता है, वही ठीक है। गीता श्रीभगवान्की वाणी है, इसीलिये वह सभीके लिये उपयोगी है। जो जैसा अधिकारी है, गीताका उसके लिये वैसा ही उपदेश है। रत्नोंका समुद्र है गीता— जिसकी जैसी डुबकी, उसको वैसा ही फल। शेष भगवत्कृपा।

'कल्याण' की निर्धारित नीतिका श्रीभाईजी कितनी दृढ़तासे पालन करते थे, इसे समझनेके लिये श्रीसेठजीको लिखा निम्नलिखित पत्र सहायक होगा—

गोरखपुर
कार्तिक कृष्ण ८, १९८६
(२५ अक्टूबर १९२९)

परम पूज्यवर,

सादर प्रणाम। ··· ··· ··· शारदा बिलके बावत लिखा तो ठीक है। इस कानूनका मैं बड़ा विरोधी हूँ। केवल कन्याकी आयुके नाते ही नहीं वरन् धार्मिक विषयमें कानूनके द्वारा हस्तक्षेपके कारण भी। इस कानूनको रद्द करवाने और आइन्दे इस तरहका कानून न बने इसके लिये जरूरत है, सरकारके मनमें यह जमा देनेकी कि यदि कहीं सरकार किसीको खुश करनेके लिए ऐसा करेगी तो उसकी दशा भी काबुलके अमानुतल्लाकी-सी हो सकती है। कानून तोड़कर जेल जाना और सरकारके विरुद्ध लोकमत जागृत करना ही इसका इलाज है। सुधारक तो चाहते हैं कि ऐसी बातें किसी तरह प्रचलित हो जायँ। इस कानूनके बननेमें यदि सबसे अधिक कोई दो-एक दोषी हैं तो मेरी समझमें भारत सरकार है। उसने अपने सब मेम्बरोंसे वोट न दिलवाये होते तथा अपना पक्ष खुले तौरपर इसके पक्षमें जाहिर न किया होता तो यह कानून नहीं बनता। सरकारके दबावसे ही सनातन प्रतिनिधि सभाके सभापति लाहौर निवासी लाला रामशरणदासजीने एक सनातनधर्मीकी हैसियतसे कौंसिलमें इस कानूनका जोरसे समर्थन किया। अनेक प्रकारके कारण दिखाने और प्रार्थना करनेपर भी वाइसरायने एक दो सालके लिये इसे स्थगित करना भी स्वीकार नहीं किया। और भी कई ऐसी बातें हैं जो पत्रमें लिखना उचित नहीं है, पर जिनको मैं जानता हूँ ऐसी अवस्थामें इस कानूनका विरोध केवल सामाजिक या धार्मिक दृष्टिसे करनेपर कोई फल नजर नहीं आता। राजनैतिक दृष्टिसे इसका विरोध जोरदार शब्दोंमें किया जा सकता है, और उसका कुछ फल भी होना सम्भव है।

'कल्याण' इन सब बातोंमें न पड़कर केवल मानवधर्म, सदाचार और भगवद्भक्तिके क्षेत्रमें काम कर रहा है। इसको दूसरे क्षेत्रमें उतारना मेरी समझमें उचित नहीं प्रतीत होता। आज हजारों सरकारी नौकरोंमें इसके द्वारा

सदाचार और भक्तिका प्रचार होता है। इसके राजनैतिक क्षेत्रमें आते ही उन सबको अलग होना पड़ेगा। सनातनी भी डरके मारे ग्राहक रहना पसन्द नहीं करेंगे। सुधारक तो प्रायः बहुत ही कम ग्राहक हैं। धार्मिक दृष्टिसे ग्राहक छूटनेका डर नहीं है और ग्राहक छूटनेसे विरोध करनेकी मेरे मनमें कल्पना तक नहीं हुई। ग्राहक घटने बढ़नेका प्रश्न इसमें नहीं है, प्रश्न है नीतिका। 'कल्याण' की जगह दूसरी नीतिका पत्र होता तो मुझे इसका जोरदार सच्चा विरोध करनेमें कोई आपत्ति नहीं होती। सम्भव है उसके फलसे राजद्रोहका मामला चल जाता। मैं तो इस राज्यतन्त्रसे भारत और धर्मकी हानि ही समझता हूँ। परन्तु इस समय मैं इस आन्दोलनसे अलग हूँ। मेरी धारणा है कि यह परिवर्तन होते आये हैं, होते रहेंगे। लोगोंमें ईश्वरकी भक्ति श्रद्धा बनी रहेगी तो उनका लोक परलोक सुधर सकता है। जिन अँग्रेजोंमें अठारह-इक्कीस सालकी उम्रमें कन्याओंका विवाह होता है, उनमें भी भगवद्भक्तिसे लोगोंका उद्धार हो सकता है। 'कल्याण' उसी क्षेत्रमें कुछ काम कर रहा है। मेरी समझमें इसकी इस नीतिसे जगत्‌के मंगल कार्यमें कुछ सेवा हो रही है। विवाह, जाति-पाँति आदिके काम और आन्दोलन मेरी समझसे इससे बहुत कम दर्जेके हैं। उसमें राग-द्वेष और वैर-विरोधकी बहुत गुंजाइश है। भावोंका विरोध आगे चलकर व्यक्तियोंके विरोधके रूपमें परिणत हो जाता है। ऐसी स्थितिमें अशान्तिसे भरे हुए विश्वमें अशान्ति बढ़ानेके काममें कुछ भी समय लगानेकी अपेक्षा सार्वजनिक शान्तिके काममें (जो एकमात्र ईश्वर-भक्ति, ईश्वर-परायणता और मानवधर्म है) लगना, लगाना वर्तमान युगमें बहुत ही आवश्यक और लाभप्रद प्रतीत होता है। इन्हीं सब कारणोंसे किसी भी समाजिक या ऐसे आन्दोलनके सम्बन्धमें कल्याणके द्वारा कुछ भी कार्य करना उचित नहीं प्रतीत होता। जिससे विश्वधर्म-ईश्वर-धर्ममें कुछ बाधा होती हो।

अनाप-शनाप बहुत ही लिखा गया। आपकी स्वाभाविक दयालुता और क्षमाके भरोसेपर माँ बापके सामने हठी बच्चेकी भाँति चाहे सो वके जाता हूँ।

केवल आपका ही

हनुमान

* * * *

भगवत्सेवा-बुद्धिसे गीताप्रेसका कार्य करनेके लिये प्रोत्साहन

चुरू निवास
आश्विन शुक्ल १०, सं. १९८८
(२१ अक्टूबर १९३१)

श्रीगंगाप्रसादजी,

सप्रेम राम-राम। आपका कृपापत्र मिला था। कल आपका तार मिला, परन्तु उससे पहले ही मैं तार दे चुका था, जिसमें लिखा था कि रामेश्वर जल्दी आ रहे हैं। यदि गोरखपुर बिना आये काम चल सके तो मैं रतनगढ़ ठहरता हूँ। 'ईश्वरांक' २५०० छाप सकते हैं। तार पहुँच गया होगा। इसके बाद ही आपका तार माँजी तथा दुजारीके बृहस्पतिवारको रवाना होनेका मिला। मैं समझता हूँ, आप लोगोंने यही निश्चय किया होगा कि मेरे स्वास्थ्य तथा मनकी प्रसन्नताके लिए रतनगढ़ रहने दिया जाय– इस निर्णयसे आपलोगोंने मुझपर बड़ा बोझ डाल दिया है। कहीं भी रहना है, किसी स्थानविशेषमें रहनेसे ही स्वास्थ्य ठीक ही रहेगा या मनुष्य नहीं मरेगा, यह कोई बात ही नहीं। देशमें भी लोग बीमार होते हैं और मरते हैं। ऐसी हालतमें कार्यकी दिक्कतके ख्यालसे आपका पत्र पाते ही मुझे गोरखपुर आ जाना उचित था। परन्तु ऐसा न करके मैंने आपको तार दिया कि मैं आनेको तैयार हूँ। बिना संकोच मुझे आनेके लिये तार दे दें। इसका जबाब आपलोग और क्या दे सकते थे? कितना ही काम हो, कैसा ही संकोच रहता हो, परन्तु मेरे मनकी ओर देखकर आपलोग स्वयं दिक्कत सहकर भी यही लिखते और यही निर्णय करते जो आपने किया। इससे भी अधिक अच्छा अवश्य यह होता कि आपलोग काममें जरा-सी भी दिक्कत देखते या विचार आता तो मुझे बिना संकोच, बिना किसी हिचकके बुलानेका तार दे देते। उससे मुझपर अधिक उपकार होता। परन्तु शायद मेरे प्रेमकी कमीसे ही आप लोगोंको इतना संकोचहीन साहस न हुआ हो। हाँ, वास्तवमें मेरे न आनेमें कामकी आपको कोई कठिनता न प्रतीत हुई हो और जरा भी संकोच न रखकर और मुझे प्रसन्न रखनेका ख्याल सर्वथा छोड़कर ही आपने मुझे देशमें रहने देनेका निर्णय किया हो– तब तो बहुत ठीक है। मुझे कुछ भी कहना नहीं है।

यों तो संयोग-वियोग संसारमें सदा है ही। यही इसका स्वरूप है। नित्य

संयोग तो एक परमात्माका है, जिसका वियोग न कभी हुआ और न हो सकता है। इस तत्त्वको समझकर सदा प्रसन्न रहना चाहिये। फिर जहाँ हम हैं, वहाँ वियोग ही संयोग है।

उस दिन आपके पत्रमें बहुत घबराहट तथा झुँझलाहट-सी झलकती थी, ऐसा नहीं होना चाहिये। सदा स्थिर, धीर और प्रेम तथा आनन्दसे भरे रहना चाहिये। हृदय इतना विशाल होना चाहिये जिसमें शत्रु भी आसानीसे स्थान पा सके। वस्तुतः शत्रु अपना बिना जीता हुआ मन ही है। जिसने मनपर विजय प्राप्त कर ली, जो प्रत्येक प्रतिकूल स्थिति अनुकूलतामें परिणत कर सकता है, उसका कोई शत्रु नहीं रह जाता। वह सदा ही निर्भय-निश्चिन्त और सुखमें रह सकता है। नदी-नाव संयोग है, सब लोगोंको खूब ही प्रेमसे, एक-दूसरेके गुण देखते और उनका आदर करते हुए जीवन-निर्वाह करना चाहिये। ऐसा होगा तो प्रकृतिमें भेद रहनेपर भी कार्यमें कोई अड़चन नहीं आयेगी तथा सब लोगोंके दोष आप ही निकलते चले जायेंगे। गुणोंके देखने और गुणोंका आदर करनेसे ही गुण बढ़ते हैं और दोषोंके देखने और दोषोंपर आलोचना करनेसे दोष बढ़ते हैं —यह सिद्धान्त मान लेना चाहिये।

ईश्वरांक-सम्बन्धी समाचार कल सब पढ़े। श्रीदुजारीजीके नहीं जँचनेपर भी आप लोगोंकी, सबकी सम्मतिके अनुसार मैंने २५०० छापनेके लिये तार दे दिया है। यह प्रयोग भी कर देखना चाहिये। परन्तु छपाई शुद्ध तथा बहुत जल्दी होनी चाहिये—जिसमें दूसरा संस्करण बदनाम न हो तथा जल्दी बिक सके। जितनी छपनेमें देर होगी, उतना ही कम बिकेगा। यहाँ भी श्रीरामेश्वरने हिसाब लगाया था।

श्रीरामेश्वरका सपरिवार आगामी कार्तिक द्वितीयाको बिदा होनेका विचार है, इससे पहले मुहूर्त नहीं बनता, उसको स्वयं जल्दी है। श्रीशुकदेवजीको भी बहुत शीघ्र (हो सका तो श्रीरामेश्वरके साथ ही) भेजनेका विचार है। उनका मन होगा वैसे ही राय देनेका मन है। परन्तु यहाँ रखनेकी अपेक्षा कार्यकी दृष्टिसे उनका गोरखपुर रहना ज्यादा आवश्यक और उपादेय प्रतीत होता है। फिर बात तो यह है कि कहीं भी रहकर भगवत्सेवाकी बुद्धिसे काम करनेवाले मनुष्यके लिये जितना सेवाका कार्य अधिक मिले उतना ही अच्छा है। कार्यमें भगवत्सेवा-बुद्धि रहनेपर कर्ताके मनके दोष आप ही निकल जाते हैं। परस्पर प्रेमकी वृद्धि कार्यकर्ताओंमें स्वतः ही होती है। जहाँ ऐसा नहीं होता, वहाँ समझना चाहिये कि भगवत्सेवा-बुद्धिसे कार्य

होनेमें ही कुछ कसर है।

सब लोगोंसे यथायोग्य कहिये तथा भगवत्स्मरण करते हुए खूब प्रेमपूर्वक भगवत्सेवा-बुद्धिसे कार्य करनेके लिये उत्साहित करते रहिये। स्वयं ही बहुत जोरसे तथा बड़ी सावधानीसे ऐसी ही चेष्टा कीजिये।

आपका
हनुमान

गीताप्रेससे कमाई

बहुत पुरानी एक बारकी बात है, जब 'कल्याण' का 'गीतांक' निकल रहा था। उस समय गोरखपुरमें एक विवाह था। उस विवाहमें लड़कीवाले लोग बाहरसे आये थे। उनका मेरे साथ कुछ पारिवारिक सम्बन्ध था। वे मिलने आये थे। उन्होंने मुझसे पूछा– 'कल्याण'के कितने ग्राहक हैं? मैंने कहा– लगभग पन्द्रह हजार ग्राहक हैं। उस समय 'कल्याण'का वार्षिक चन्दा शायद छः रुपया था। वे बोले कि नब्बे हजार तो इससे आ जाते हैं। वे बोले– और पुस्तकें कितनी बिकती हैं? उस समय शायद पाँच-छः लाखकी पुस्तकें बिकती थीं। वे बोले कि इस तरह सात लाखका माल बिकता है तो इसमें आधी कमाई तो होती ही होगी। मैंने कहा– आप आधी कमाईकी बात कहते हैं, इसमें तो एक पैसा नहीं मिलता। हमलोग लागत दामपर बेचते हैं। वे बोले– यह कोई माननेकी बात है क्या? आप कितना ही कहें, अरे काम करते हैं तो बिना कमाईके काम क्यों करें? आधा न सही, चौथाई ही सही। प्रेसका काम चलता है तो एक-डेढ़ लाख रुपये सालमें आ ही जाते हैं। मैंने उन्हें फिर समझानेकी चेष्टाकी कि कुछ नहीं आता है। तब वे बड़ी गम्भीरतासे बोले कि फिर इतना झमेला क्यों किया जाता हैं? अगर कमाई नहीं होती, पैसा नहीं आता तो इतने आदमी रखे हैं, इतनी मशीनें मँगाई हैं, रात दिन काम करना पड़ता है– यह सब क्यों किया जाता है। यह बेवकूफी है– उन्होंने बड़ी सरलतासे कहा। मनुष्य जब जीवनका एक उद्देश्य बना लेता है कि पैसा कमानेके लिये ही काम करना है, पैसा कमानेके लिये ही जीना है तो उसकी सारी चेष्टायें, सारे विचार पैसा कमानेके लिये ही होते हैं। उसको यह बात समझमें नहीं आ सकती कि जहाँ पैसा-कमाई न हो, वह काम क्यों किया जाय?

* * * *

गीताप्रेसकी प्रशंसामें पत्र-पत्रिकाओंमें लेख देनेसे विरत करना

यदि कोई महानुभाव 'गीताप्रेस' तथा 'कल्याण' के महान् कार्यके विषयमें लेख प्रकाशित करनेकी चेष्टा करते तो भाईजी उन्हें उस कार्यसे विरत कर देते। निम्नलिखित पत्र द्रष्टव्य हो –

गीताप्रेस, गोरखपुर
मार्गशीर्ष शुक्ल १ सं.१९९२
(२६ नवम्बर १९३५)

सम्मान्य श्रीसिद्धराजजी,

सादर सप्रेम यथायोग्य। आपका ता.२३-११-३५ का कृपापात्र मिला। आपके सौजन्य और प्रेमसे (आपको) मेरे दर्शनोंकी स्मृति मधुर होनेके कारण सदा ही जाग्रत है। आपने गीताप्रेसको तथा मुझको स्मरण रक्खा इसके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ। फिर आपने जिस शिष्टता, सौजन्यता, संकोच और विनयपूर्ण भाषामें हमारा ही यश-गान करनेकी इच्छासे जो पत्र लिखा है उसे पढ़कर तो कृतज्ञता-प्रकाश करनेका भी अवसर नहीं रहा।

गीताप्रेस आपको अच्छा लगा और उसमें व्यवस्था, सफाई, कार्यप्रणालीकी सुन्दरता आपको दिखाई दी, इसमें प्रधान कारण आपकी दृष्टिका अनुराग है। वास्तवमें हमलोग तो अभी विद्यार्थी-दशामें हैं। हमलोगोंके कार्योंसे बहुत अच्छे ढंगसे कार्य अन्यान्य स्थानोंमें हो रहा है। फिर जो कुछ भी हुआ या हो रहा है, सब भगवान्‌की प्रेरणासे हो रहा है। हमलोग तो निमित्तमात्र हैं।

आप गीताप्रेसपर एक लेख पत्रोंमें देना चाहते हैं– इसका यही कारण है कि आपके शुद्ध हृदयकी आत्मीयताका भाव अप्रकाशित रखनेमें आप असमर्थ हो रहे हैं। हम आपकी इस आत्मीयताको पाकर परम प्रसन्न हैं। अब प्रार्थना यही है कि गीताप्रेसके सम्बन्धमें पत्रोंमें कुछ लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। ऐसा कोई कार्य नहीं हो रहा है कि जिसका पत्रोंमें उल्लेख करना आवश्यक हो। आपकी आत्मीयतासे हम यही आशा करते हैं। आप यही आशीर्वाद दीजिये कि हमलोगोंके मनोंमें

कभी अभिमान न आये और श्रीभगवान्‌के कार्यमें अपनी महिमाका आरोप करके कदापि समाचारपत्रोंमें कुछ भी प्रकाशित करनेकी हमारी दुर्वासना न हो। आपकी आज्ञाका उल्लंघन किया जा रहा है, इसके लिये क्षमा करेंगे।

आप जब कभी गोरखपुर पधारें, कृपा करके पहलेसे मुझे अवश्य सूचना दें। मेरा कलकत्ता आना हुआ तो मैं आपके दर्शनका लाभ उठाऊँगा। आपका शुद्ध और सरल प्रेम अभिनन्दनीय है। सच्चा प्रेम सदा बढ़ता ही रहता है। मेरे योग्य कोई सेवा लिखिये और मुझको अपना भाई समझिये।

आपका भाई
हनुमानप्रसाद पोद्दार

'गीताप्रेस' एवं 'कल्याण'के माध्यमसे किये गये महान कार्य

'गीताप्रेस' तथा 'कल्याण' के माध्यमसे भाईजीने जो अतुलनीय कार्य किया, उस सम्बन्धमें उनकी अपनी मान्यता क्या थी, यह उनके निम्नलिखित पत्रसे स्पष्ट हो जाती है—

बहुत-से और लोग भी ऐसा मानते-समझते हैं कि 'मैंने धर्मका, भक्तिका, भगवद्‌भावका, शुद्ध ज्ञानका बड़ा प्रचार किया है, 'कल्याण'के द्वारा बड़ी सेवा की है और मैं आध्यात्मिक क्षेत्रका एक विशिष्ट पुरुष हूँ।' ऐसी ही और भी बहुत-सी बातें कही जाती हैं, पर मेरा अन्तर्यामी जानता है कि मैं क्या हूँ कैसा हूँ। गीताप्रेसकी स्थापना की थी परमश्रद्धेय ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने। 'कल्याण' भी एक अन्य किन्हीं मित्रकी प्रेरणासे निकला था। मैं तो योग्यता न होनेपर भी वैसे ही जबरदस्ती काममें जोत दिया गया और बार-बार काम छोड़कर भागनेकी इच्छा होनेपर भी मुझे भागनेकी सुविधा नहीं मिल पायी। 'कल्याण' में बहुत अच्छे-अच्छे लेख निकले, गीताप्रेसके द्वारा भी आध्यात्मिक, धार्मिक ग्रन्थोंका कुछ प्रकाशन हुआ, पर बिना किसी भी योजनाके अपने-आप ही संयोग बनते गये। योग्य-से-योग्य विद्वान् तथा अपने विषयके अनुभवी लेखक मिलते गये, प्रेरणा मिलती गयी और काम होता गया। किया किन्हींने, हुआ किंन्हीकी बुद्धिसे, ज्ञान किन्हींका, व्यवस्था किन्हींने की

और सबके साथ नाम मेरा जुड़ता रहा। इस प्रकार जो यश-कीर्ति हुई, नाम जुड़े रहनेसे उसका भागी मैं बना। सदा तो मनसे नहीं, पर कभी-कभी मनसे भी, इस श्रेयकी कीर्तिको मैंने स्वीकार किया। अब भी कर रहा हूँ। यह अवश्य ही मेरी दुर्बलता है। यह है मेरा स्वरूप, पुरुषार्थ एवं अनुभव।

हाँ, भगवत्कृपाने— यद्यपि उसपर मेरा विश्वास आंशिक ही है, मुझे बहुत बचाया। मिथ्या श्रेयकी दुर्बलताको विशालरूपमें बढ़ने नहीं दिया, नहीं तो पता नहीं, कितना मिथ्या अभिमान बढ़ता और वह किस पतनके गहरे गड्ढ़ेमें मुझे गिरा देता। भगवत्कृपाने केवल इसी विपत्तिसे नहीं बचाया, जब-जब धन-मानके बहुत बड़े-बड़े प्रलोभन आये, तब-ही-तब विवेकको जगाकर उचित मार्ग-प्रदर्शन किया, जब-जब पतनके प्रसंग आनेको हुए, तब-तब पहलेसे ही ऐसे प्रतिबन्ध लगा दिये कि उधर झाँकना भी सम्भव नहीं रहा। भगवत्कृपासे ही भगवान्‌के नामका यत्किंचित् आश्रय रहा, जो अब भी है ही, पूर्णरूपसे तो नहीं, परंतु आंशिक रूपसे मैं श्रीतुलसीदासजीके इन शब्दोंको अपने लिये दुहरा सकता हूँ—

सकल अंग पद-बिमुख नाथ! मुख नाम की ओट लई है।
है तुलसिहिं परतीति एक! प्रभु-मूरति कृपामई है।।

(विनयपत्रिका १७०)

शेष भगवत्कृपा।

आपका
हनुमान

* * * *

'कल्याण'के आलोचकोंके प्रति आदरभाव

पं. बनारसीदास चतुर्वेदीने 'कल्याण'की अनुचित आलोचना की तो पं. नन्ददुलारे वाजपेयीने उसका उत्तर देनेकी भाईजीसे अनुमति माँगी। तब भाईजीने लिखा –

गीताप्रेस, गोरखपुर
चैत्र २३, सं. १९९३
(सन् १९३६)

श्रीनन्ददुलारेजी वाजपेयी (एम. ए.),
काशी

सम्मान्य श्रीवाजपेयीजी,

सादर प्रणाम। आपका पत्र मिला। आपके एक दिन गोरखपुर और ठहरनेका पता लगता तो पुनः आपके संगका आनन्द-लाभ करनेका प्रयत्न किया जाता। इस बार आपसे मिलकर और बातें करके बहुत सुख प्राप्त हुआ। यद्यपि पहले-पहलकी भेंट थी, परन्तु मालूम ऐसा होता था, मानो बहुत पुराना घनिष्ठ परिचय है और वह मधुर प्रेमके रूपमें परिणत हो गया है। इसमें प्रधान हेतु आपका सराहनीय सत्-स्वभाव ही है।

मेरे और 'कल्याण'के सम्बन्धमें आपके चित्तमें जो शुभसंस्कारोंका उदय हुआ है, उसमें भी प्रधान कारण आपकी गुणग्राहिणी चित्तवृत्ति ही है। गुण-दोष सभीमें होते हैं, परन्तु गुणग्राहकगण स्वाभाविक ही दोषोंकी ओर दृष्टि न डालकर गुण ही ग्रहण किया करते हैं। यही उनके स्वभावकी महिमा है।

'कल्याण'के जजमानोंके बौद्धिक धरातलके सम्बन्धमें विशुद्ध भावनासे केवल लोगोंके भ्रम-निवारणार्थ आप कुछ लिखना चाहते हैं, यह आपकी बड़ी कृपा है। आपकी इस इच्छामेंसे मैं भी किसी व्यक्तिगत वैमनस्यको कारण नहीं समझता, आपके कथनानुसार किंचित् स्वाभाविक उत्तेजनाके साथ-साथ कर्तव्य पालनकी प्रेरणा ही प्रधान कारण है। अन्यायके प्रतिकार और निवारणके लिये उत्पन्न कर्तव्य-पालनकी आपकी इस शुभभावना, 'कल्याण'के प्रति आपके स्नेह और मेरे प्रति अकृत्रिम प्रेमका तथा अनुग्रहका कृतज्ञ हृदयसे आदर

करते हुए मैं इस सम्बन्धमें कुछ निवेदन करना चाहता हूँ, वह यह कि सम्मान्य पं. बनारसीदासजी चतुर्वेदीके साथ मेरा पुराना प्रेमका सम्बन्ध है। उनके साथ मेरी जैसी घनिष्ठ आत्मीयता है उसे देखते उन्हें मेरे या 'कल्याण'के सम्बन्धमें सब कुछ लिखनेके अधिकार हैं। प्रेममें ऐसा अधिकार बिना खटके होना चाहिये। साथ ही मेरा यह अनुमान है कि उन्होंने जो कुछ लिखा है सो शुद्ध मजाककी भावनासे ही लिखा है, बुरी नीयतसे नहीं। अतएव मेरे लिये तो उनका मजाक आनन्दवर्धक ही होना चाहिये। थोड़ी देरके लिये यह भाव भी लिया जाय, मैं तो अभी नहीं मानता कि उन्होंने बुरी नीयतसे ही व्यंग्य किया है, तो भी मुझे तो उनका आदर ही करना चाहिये और इस व्यंग्यसे भी लाभ उठाना चाहिये। एक बात और है, दृष्टिकोणके भेदसे एक वही वस्तु भिन्न-भिन्न दर्शकोंको भिन्न-भिन्न प्रकारकी प्रतीत हो सकती है। जब मुझे अपनी बुद्धिके काँटेपर सबको तौलनेका हक है, तब दूसरेको भी वही हक क्यों नहीं होना चाहिये? मनुष्य अपनी ही आँखोंसे जगत्को देखता है। अन्यायकी भावना न होनेपर भी दृष्टिभेदसे दर्शनमें जो अन्तर रह सकता है, अवश्य ही 'कल्याण'के जजमानोंसे यदि उनका अभिप्राय ग्राहकोंसे है तो उन्होंने ग्राहकोंकी सूची देखे बिना ही अनुभव किया है। 'कल्याण'के ग्राहकोंमें वैसे महानुभाव भी बहुतसे हो सकते हैं जिनका बौद्धिक धरातल सम्मान्य चतुर्वेदीजीकी दृष्टिमें भी कदाचित् बहुत ऊँचा हो।

अब रही 'कल्याण'के हानि-लाभकी बात, सो इस सम्बन्धमें मेरा यह निवेदन है कि हानि-लाभ जो कुछ होता है सो होगा ही, ऐसा मेरा विचार है। जिस अन्तर्यामीकी इच्छासे स्वतः ही कारण बनकर 'कल्याण'के प्रचारमें यत्किंचित् उन्नति हुई है, उसकी इच्छा अब इसके विपरीत होगी, तब स्वतः ही वैसे कारण बन जायेंगे। मुझे तो 'कल्याण'की उन्नतिके लिये रत्तीभर भी गर्व नहीं है, क्योंकि अपनी क्षुद्रादपि-क्षुद्रतम योग्यता और कार्यक्षमताको देखते गर्वका रत्तीभर कारण ही नहीं दीखता और न मैं इसके अवश्यम्भावी पतनको ही अपने प्रयत्नसे रोक सकता हूँ। मैं तो केवल यन्त्रमात्र हूँ और समस्त कृपालु महानुभावोंसे सच्चे हृदयसे यह आशीर्वाद चाहता हूँ कि अभी मैं जो मौखिक रूपसे अपनेको 'यन्त्र-मात्र' कहता हूँ, वह वास्तवमें कभी लीलामयके हाथका 'यन्त्र-मात्र' बन जाऊँ। ऐसी अवस्थामें मैं बहुत विनयके साथ आपसे करबद्ध प्रार्थना करता हूँ कि आप 'कल्याण'के और मेरे सम्बन्धमें किसी भी

पत्रमें कुछ भी न लिखें। अपनी मूक सद्भावनासे मुझे बल-प्रदान करते रहें। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि लेखनीकी अपेक्षा आत्माका बल अनन्तगुणा अधिक है। मैं आपसे लेखनीकी नहीं, आत्माकी शुद्ध सहायता चाहता हूँ।

आपकी इच्छाका मैंने बाध्य होकर विरोध किया है, इसके लिये प्रेमके बलपर आपसे बारम्बार क्षमा-याचना करता हूँ। आपका स्वास्थ्य अच्छा होगा। आपकी कृपा तो है ही। आशीर्वाद दीजिये—

सब मिलि करहु कृपा एहि भाँती।
सब तजि भजो राम दिन-राती।।

श्रीमाधवजी, देवधरजी और अन्य सबको प्रणाम, सप्रेम नमस्कार, हरिस्मरण।

आपका
हनुमानप्रसाद पोद्दार

गीताप्रेसके कर्मचारियोंकी सुविधाका ध्यान

भाईजी गीताप्रेसके कर्मचारियोंकी सुविधाका कितना ध्यान रखते थे तथा धार्मिकताके नामपर जबरदस्ती त्यागके वे कितने विरोधी थे यह निम्नलिखित दो पत्रोंसे स्पष्ट हो जायगा—

रतनगढ़ (बीकानेर)
आश्विन शुक्ल ११, सं. १९९४
(१६ अक्टूबर १९३७)

प्रिय श्रीगंगाप्रसादजी,

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। श्रीसत्यनारायणजीकी बात लिखी तो ठीक है। श्रीगौरीशंकरजीके बाबत लिखा, सो सब पढ़ा। इस समय देशमें कॉंग्रेसी सरकारका जोर है, जो देशके लिए आर्थिक दृष्टिसे बहुत अच्छा है। ऐसी हालतमें मजदूर और किसानोंकी शक्ति बढ़ना स्वाभाविक ही है। हमलोग भी तो गरीबों और दबे हुए लोगोंको सुख- शान्तिमें देखना चाहते हैं। ऐसी अवस्थामें कर्मचारियोंकी ओरसे कोई कुछ कहे तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है और यह ख्याल रखना चाहिये कि जमानेकी रफ्तार देखते अभी मजदूर और किसान-युग ही आनेवाला है, जो गरीबोंके दुखोंको किसी

अंशमें दूर करनेवाला होगा। यद्यपि द्वेष और हिंसाके भावोंसे प्राप्त हुई मजदूरों और किसानोंकी उन्नति ठहरेगी नहीं। उसको नये, सुन्दर, सबके लिए लाभदायक रूपमें परिणत होना पड़ेगा, तभी जगत्‌में सुख-शान्ति होगी। तथापि प्रतिक्रियाके रूपमें एकबार मजदूर और किसानोंका युग आना अनिवार्य-सा होना चाहिये, जहाँतक बनता है, उनकी सेवा ही करना चाहते हैं। परन्तु और भी ख्याल रखना चाहिये, जिसमें दूसरोंको कुछ कहनेका अवसर-ही नहीं मिले। यह सत्य है कि कहनेवाले तो फिर भी कहेंगे, दोष देखनेवाले सदा ही दोष देखेंगे, परन्तु उनकी परवाह न करके भगवान्‌के सामने हमें सच्चा बने रहना चाहिये और ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिसमें अपनी संस्था गरीब कार्यकर्ताओंको सुविधा देनेमें अच्छी-अच्छी राष्ट्रीय संस्थाओंसे भी बढ़कर समझी जाय और सबको इसका अनुकरण करना पड़े। मैं तो बहुत पहले-से चाहता था कि मजदूर-किसानोंके नेताओंको बुलाकर उनसे बातचीत करके उन लोगोंके परामर्शानुसार कर्मचारियोंकी सुविधाकी सब व्यवस्था कर दी जाय। आवश्यक हो तो महात्मा गाँधीजी और महामना श्रीमालवीयजीकी भी सलाह ले ली जाय। जिसमें अपनी संस्था सर्वप्रथम गरीबोंकी संस्था मानी जाय, परन्तु मुझे अपने उद्देश्यकी सिद्धि होती दिखाई नहीं दी, इसीसे मैं चुप था चुप हूँ। परन्तु मेरा हृदय तो गरीबोंके साथ है। मेरी स्कीम प्रायः असफल ही हो गयी, इसीसे मैंने करीब तीन वर्ष हो गये होंगे, अपनी लिखित स्कीमको फाड़ डाला था। आप, श्रीबजरंगलाल, पंडित लादूरामजी, श्रीशुकदेवजी मिलकर परस्पर बातचीत कर लें। किसीके धमकाने-डरानेसे डरनेकी आवश्यकता बिल्कुल नहीं है, परन्तु गरीबोंकी अधिक-से-अधिक सुविधाका ख्याल करके ऐसी आदर्श-व्यवस्था करनेका प्रयत्न सर्वप्रथम गीताप्रेसको करना चाहिये, जिसका अनुकरण सब लोगोंको करना पड़े और गरीबोंकी सहानुभूति प्रेससे बढ़ जाय। इसमें प्रेसके पारमार्थिक उद्देश्यकी भी सिद्धि होगी और लौकिक बाधाएँ भी बहुत कुछ हटेंगी। किसीके बाध्यकर देनेपर, कहने-सुननेपर या रूख देखकर करनेकी अपेक्षा अपनी ओरसे चेष्टा पहले ही एक कदम आगे बढ़ जाना बहुत अच्छी नीति है। पुस्तकोंके दाम सस्ते रखकर गरीबोंको कम देनेकी जरूरत नहीं है। प्रेसमें काम करनेवाले गरीबोंका पेट पहले भरना चाहिये। उनको यह मालूम हो जाना चाहिये कि हमें यहाँ जो-कुछ मिलता है, जितनी सुविधाएँ प्राप्त है, उतना कहीं भी नहीं मिलता और उतनी सुविधा और कहीं

भी नहीं है। स्वयं अपनी ओरसे प्रस्ताव करके मजदूर और किसान नेताओंकी सलाहके अनुसार व्यवस्था करनेमें जो बात है, वह और तरहसे करनेमें नहीं है। गौरीशंकरजीकी बात दूसरी है, उनसे कुछ डरना नहीं है, वे तो द्वेषवश कर रहे हैं, उनको मैं मजदूर नेता नहीं मानता। श्रीसंपूर्णानन्दजी, श्रीनरेन्द्रदेवजी, राजारामजी शास्त्री, टंडनजी आदिकी सलाह और सम्मति इन विषयोंमें बहुत कामकी हो सकती है। ये सब बातें मैंने प्रसंगवश लिख दी है। आपलोग हमलोगोंकी राय बिना कुछ कर भी नहीं सकते, यह भी मैं जानता हूँ। खैर।

आपका

हनुमान

'कल्याण' तथा 'गीताप्रेस'की अन्य पुस्तकोंके मूल्य बढ़ानेका प्रस्ताव

प्रिय भाईजी श्रीहरिकृष्णदासजी,

सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका तार तथा पत्र मिला। इसी हेतुसे बहुत दिनों बाद आपका पत्र मिला। इससे बड़ी प्रसन्नता हुई। आपने बड़े शुद्ध तथा आत्मीयतापूर्ण भावसे सावधान किया और सत्परामर्श दिया, इसके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ। आप सदासे ही मुझे अपनी अच्छी सम्मतिसे लाभ पहुँचाते रहे हैं। आपके शुद्ध भाव, विचार, स्पष्टवादिता एवं सहज हितकामनाके प्रति मेरी बड़ी श्रद्धा है और मैं सदा ही आपका कृतज्ञ हूँ।

आपका इस पत्रसे मुझे जहाँ आपकी विशुद्ध सद्भावनाके लिए, प्रीतिके लिए प्रसन्नता हुई, वहाँ दुःख तो नहीं हुआ, पर इस बातपर आश्चर्य अवश्य हुआ कि आप-सरीखे सूक्ष्मबुद्धि पुरुषने शायद गम्भीर-विचार किये बिना ही इसे धर्म-विरुद्ध कैसे बता दिया? धनसंग्रहकी चेष्टा होती तो आपका कहना ठीक था, पर इसमें संग्रह या लोभकी कोई कल्पना ही नहीं है। यह तो प्रेसके सिद्धान्तानुकूल उसका प्रचार-कार्य चलता रहे, इसकी व्यवस्थाका प्रश्न है और मेरी समझसे धर्म है।

मैं यह नहीं कहता कि मेरा प्रभुके महत्त्वपर विश्वास है और अभिमानसे मुक्त हूँ, मुझमें तो निश्चित ही बहुतसे दोष भरे हैं, बड़ी-बड़ी त्रुटियाँ हैं। यह मैं बार-बार मुक्तकण्ठसे स्वीकार कर चुका हूँ और अब भी कर

रहा हूँ और इस सम्बन्धमें तो यदि कोई भी दोष है तो वह सर्वथा मेरा है– उसे चाहे धनका लोभ समझा जाय, अभिमान माना जाय या प्रभुपर अविश्वास।

'कल्याण' के तथा पुस्तकोंके मूल्य बढ़ानेका प्रस्ताव मेरा ही है और वह आजका नहीं, बहुत पुराना है। लिखित रूपमें भी कई बार मीटिंगमें पेश हो चुका है और पूज्य श्रीसेठजीके चरणोंमें भी कारणों सहित निवेदन किया जा चुका है। गीताप्रेस तथा 'कल्याण' का लक्ष्य निश्चय ही धन कमाना या संग्रह करना नहीं है और न होना ही चाहिए। इसीलिए केवल धन कमानेके कार्योंका मैं विरोध भी करता रहा हूँ। सत्साहित्यका प्रचार अवश्य उद्देश्य है और वह यथासाध्य सस्ते मूल्यपर ही होना चाहिए। गीताप्रेस तथा 'कल्याण'के कर्मचारियोंको मेरी दृष्टिसे सदासे ही कम वेतन मिलता रहा है, भले ही वह छोटे प्रेसोंसे या साधारण दूकानदारोंसे कुछ ज्यादा रहा हो। मैं चाहता हूँ कि प्रेसका प्रत्येक कर्मचारी सपरिवार पेट भरने योग्य वेतन प्राप्त करे। सस्ता सत्साहित्य-प्रचार निश्चय ही उद्देश्य है, पर उस सत्साहित्यके प्रचारमें सहायक गरीब कार्यकर्ताओंका पेट भरना भी तो उद्देश्य होना चाहिए। उनके बलात् त्यागके मूल्यपर प्रचार करना कितना धर्मसंगत है, यह भी विचारणीय है।

इसके लिए मैं बारबार कहता रहा, किंतु मुझे उत्तर मिलता रहा– प्रेसमें जितनी गुंजाइश है, उतना दिया जाता है। यद्यपि इससे मुझे सन्तोष न होता, क्योंकि मैं समझता था कि गुंजाइश ज्यादा की जा सकती है। इसका यह अर्थ नहीं कि मुझमें दया विशेष है, पर मेरा ऐसा मन बना है। मैंने गत बार बहुत जोर दिया, तब यह कहा गया कि प्रेसमें सब मिलाकर घाटा नहीं है। कागज एजेंसियोंमें लाभ है। जब घाटा हो तब बात उठानी चाहिए। मैंने कहा– मैं मूल्य बढ़ाना नहीं चाहता, हमलोग किसी भी प्रकार न्याय-व्यवस्था करके मूल्य कम रख सकें तो वही वांछनीय है, पर मूल्य कम रखनेके नामपर उनके अभावकी पूर्ति न हो, यह उचित नहीं है। हम चाहे चन्दा ही करें। मेरा उद्देश्य इतना ही है कि उनको कुछ अधिक मिलें। हम यदि बाढ़-पीड़ित, अकाल-पीड़ित, महंगाई-पीड़ित लोगोंके लिए चन्दा स्वीकार करते हैं तो प्रेसके गरीब कार्यकर्ताओंके लिए, जिनपर भी बाढ़, अकाल, मंहगीका असर होता ही है, चन्दा लें तो क्या बुरी बात है? चन्दा न लें,

प्रेसमें रिजर्व फण्ड हो तो उसमेंसे दें, और कोई व्यवस्था सोचें, पर उनका पेट काटकर सस्ते बेचनेका पुण्य न कमायें। मेरे इस कथनपर उपस्थित सज्जन हँस पड़े थे, मानो वे मेरा समर्थन कर रहे थे। अस्तु।

मेरा अनुमान था कि पहले जैसा कागज-एजेंसियोंमें नफा नहीं है, आगे तो शायद और भी न हो। सरकारी टेक्स-ड्यूटियाँ बढ़ ही रही हैं, बढ़ेंगी। महंगी बढ़ती जा रही है। अतएव प्रेस कर्मचारियोंको भी देखना होगा। इससे मैंने कुछ समय पूर्व फिर मूल्य बढ़ानेकी चर्चा उठायी। उस समय हिसाब देखा नहीं था। मैंने 'कल्याण' का मूल्य बढ़ानेकी बात कही, तब एक सज्जनने कहा, आठ आने बढ़ाये जायँ, पर बात वही रह गयी। अनुमान इतने घाटेका था नहीं। अतः 'कल्याण' के दो अंकोंमें साढ़े सात रुपयाकी ही सूचना निकाल दी गयी। मैंने पुनः बात उठायी और तारका एक मजमून लिखकर श्रीमोहनलालजी पटवारी और रामदाससे पूछकर तार देनेका अनुरोध किया। श्रीमोहनलालजीने तो स्वीकृति दे दी, पर रामदासने इन्कार कर दिया। तब मैंने एकबार उसे स्थगित कर दिया। फिर अब श्रीबिहारीबाबू और मोतीबाबू आये, तब मैंने फिर बात चलायी और उपस्थित लोगोंकी सम्मति लेकर तार दिये गये। यह हिसाबका कुछ पता लगनेपर किया गया। 'कल्याण'में घाटा, प्रेसमें घाटा, 'गोविन्द भवन'में घाटा, ऋषिकुलमें घाटा– सब मिलाकर इतना घाटा कि कागज-एजेंसियोंकी आमदनीसे उनकी आंशिक पूर्ति ही होगी। आप यह जानते है कि प्रेसके पास नकद पूँजी नहीं है। प्रायः सारी पूँजी मकान-मशीन-सामान आदिमें लगी है। काम चलानेके लिए रनिंग पूँजी अधिकांशतः लोगोंकी रकम है। कई लाख रुपये लोगोंके जमा है, कई लाख बैंकसे लिये हुए हैं। अब यदि प्रतिवर्ष एक-दो या तीन लाख रुपयोंका घाटा रहेगा, कागज-एजेंसियाँ नफा देंगी नहीं या बहुत कम देंगी, तो घाटेके रुपये कहाँसे आयेंगे? या तो उधार मिले तो और लें एवं घाटा देकर ऋण बढ़ाते रहें या मकान-मशीन आदि बेचें अथवा काम बंद कर दें। रुपये बिल्कुल मत बढ़ाइये, नफा मत कीजिये, एक पैसा भी संग्रह मत कीजिये, परन्तु कागज खरीदेंगे, उसका मूल्य देना ही पड़ेगा। अन्य सामानके भी दाम देने पड़ेंगे। सरकारी ड्यूटियाँ भी देनी पड़ेंगी।

महंगीके कारण सरकारी आदेश होंगे तो मजदूरी भी बढ़ानी पड़ेगी।

किसी चीजका लागत दाम पड़ेगा एक रुपया और आप उसे बेचेंगे दस आनेमें तो छः आने कहाँसे आयेंगे? प्रेसवाले काम चलायेंगे कैसे? कहाँसे रुपये लायेंगे? क्योंकि उनके पास पूँजी है नहीं। लगेंगे ज्यादा, आयेंगे कम, रोजका यह घाटा कैसे भरेगा?

ईश्वरपर विश्वासकी बात एकदम सत्य है, पर व्यावहारिक जगत्में शुद्ध व्यवहारके अनुकूल चेष्टा करना भी तो धर्म है। स्वयं भगवान् अर्जुनसे बराबर 'युध्यस्व', 'युध्यस्व' कहते हैं। 'कर्म समाचार'–कर्मका भलीभाँति आचरण करनेकी आज्ञा देते हैं, कर्म बिगाड़नेकी नहीं। अतः यदि राज्यके लोभसे नहीं, ममता-कामनासे नहीं, भगवान्की आज्ञासे उस समयका धर्म मानकर युद्ध करना धर्म-विरुद्ध नहीं हैं, तो एक रुपया खर्च करके एक वसूल करना अधर्म क्यों है? पूँजी ही बाँटिये, चन्दा लेकर बाँटिये। घाटा तो भरना ही पड़ेगा।

पहले भी दाम बढ़ाये गये थे। शायद सन् १९४२ में कागजके दाम बढ़े थे, उस समय मैं अजमेर गया हुआ था। पूज्य श्रीसेठजीने पचास प्रतिशत दाम छोटी-से-बड़ी तक सभी पुस्तकोंमें बढ़ा दिये थे। मुझे ऐसा ही याद है। फिर जब कागजकी कीमत घटी, तब घटा दिये गये। 'महाभारतांक' का मूल्य पाँच रुपया था, नहीं पोसाया तो दस रुपया कर दिया गया। बड़ी रामायणके पाँच थे, साढ़े सात किये गये। लागत कीमत कम हो, तब चाहे जब मूल्य घटाया जा सकता है। जिस समय कागजके दाम दस पैसे थे, उस समय गीताका दाम दस पैसे था। दूसरे खर्च भी बहुत कम थे। अब कागजके दाम शायद ग्यारह-बारह आने हैं, और सब चीजोंकी कीमत भी बढ़ी है। पर गीताके वही दस पैसे हैं। एक गीताको रखिये, पर अन्य पुस्तकोंकी लागतके दाम क्यों न लिये जायँ और गीता आदिका घाटा अन्य पुस्तकोंसे क्यों न निकाला जायँ?

'दो अंकोंमें 'कल्याण'के मूल्य साढ़े सात रुपया की सूचना निकल गयी है। यह ठीक है। और यह विचारकी बात भी है। मेरे मनमें यह बात आयी थी। पर उस समय हिसाब देखा नहीं था। बहुत कम घाटेका अनुमान था। हिसाब देखनेपर अधिक घाटेका पता लगा। जिस समय सूचना छपी थी, उस समयकी विचारकी स्थितिके अनुसार यही बात ठीक है। हिसाब

देखनेपर विचारकी स्थिति बदली। यह बात स्पष्ट समझाकर लिख दी जाती तो मेरी समझसे न तो वह असत्य थी, न धर्म-विरुद्ध ही। खैर, श्रीबद्रीदासजी और श्रीहरिरामजीके तार दाम बढ़ानेकी स्वीकृतिमें आ गये, पर मैंने तो आपकी सम्मतिके अनुसार 'कल्याण' के इस बार दाम बढ़ानेका संकल्प छोड़ दिया है और इस सम्बन्धमें जो कुछ लिखा था, उसे भी फाड़ डाला है। यह पत्र तो स्पष्टीकरणके लिए लिख रहा हूँ।

मेरी समझसे कर्मचारियोंके पेट भरनेकी व्यवस्था होनी चाहिए। अत्यधिक महंगी है। वे भी हम जैसे ही आदमी हैं। खानेको पूरा अन्न नहीं, ओढ़ने- पहननेको पूरे कपड़े नहीं, बच्चोंको दूध नहीं, रोगियोंको दवा नहीं, इस ओर ध्यान न देना मेरी समझसे अधर्म है। इसकी पूर्ति कैसे हो? अभी तो हम इन्हें जो कुछ दे रहे हैं अथवा बाध्य होकर देना पड़ता है या पड़ेगा, उसीकी पूरी व्यवस्था नहीं है। यदि पुस्तकोंसे कुछ पैसे लेकर इन्हें दिये जायँ, तो वह अधर्म तो नहीं होगा। इनकी ओर न देखना और कष्ट पानेवालोंसे त्यागकी आशा रखना कहाँतक उचित है? यह विचारणीय है।

ऑफीसके कर्मचारी– जो अपने ही जैसे हैं– अवश्य गरीब हैं। ऐसे मकानोंमें रहते हैं, जो कभी भी गिर सकते हैं, गन्दे और असुविधापूर्ण तो हैं ही। मैं उनके मकानमें गतवर्ष गया था, तभीसे मुझे चिन्ता है। मैंने उनके लिए क्वार्टर बनानेका आश्वासन दे दिया था। नक्शा बन गया है। ये क्वार्टर बनने ही चाहिए। प्रेसके पास गुंजाइश नहीं होगी, तो रुपयोंकी व्यवस्था हो जायगी। क्वार्टर प्रेसके रहेंगे और नियमानुसार शर्तनामा लिखवा कर ही किराये पर कर्मचारियोंको दिये जायेंगे।

प्रेसमें जो रुपये जमा हैं, उनमें बहुतसे विधवा बहनोंके और संस्थाओंके हैं, जो कम ब्याज पर हैं। हमलोग बैंकको जो ब्याज देते हैं, उससे भी कहीं कम हैं। वे बेचारे गरीब और कहीं रख नहीं सकते, पर उनको कम ब्याज देना मेरी समझसे अधर्म है ⋯ ⋯ शायद स्तेय भी। उन्हें ज्यादा ब्याज देना चाहिए। इस समय बड़े आदमियोंका ब्याज एक रुपया सैकड़ा है। अधिक ब्याजके लिए अथवा जरूरत पड़नेपर वे लोग यदि सब रुपये उठाना चाहेंगे तो प्रेसवाले उनको तुरन्त रुपये लौटा सकें, इसकी व्यवस्था भी होनी चाहिए। साथ ही हर सालके घाटेकी पूर्तिकी व्यवस्था भी

होनी चाहिए। नहीं तो प्रेसवाले कैसे क्या करें, यह उन्हें बताना चाहिए। पैसे न हों, काम रुके तो क्या करना है, यह भी सोचनेकी बात है ही। केवल सिद्धान्तसे काम नहीं चलेगा। न सबलोग विश्वासी मिलेंगे। साथ ही यह भी सोचना है कि पुस्तकों और 'कल्याण' की लागतका मूल्य न लेनेके कारण कर्मचारियोंको कष्ट हो, जो कुछ प्रचार-कार्य हो रहा है, वह भी रुक जाय तो उस समय क्या करना धर्म-संगत होगा। कोई व्यवस्था तो सोचनी ही पड़ेगी।

मैंने बहुत लम्बा पत्र लिख दिया, क्षमा चाहता हूँ। मेरा तो स्वयं यहाँ मन नहीं लगता। शरीर रुग्ण रहता है। मन अत्यधिक एकान्त चाहता है। यह भी पता नहीं, शरीर कब चला जाय। यहाँ आपसमें कलह बढ़ रहा है। अविद्याके बेटे अहंकारका प्राबल्य है। उसके अगले परिणाम राग-द्वेष-अभिनिवेश भी होंगे ही।

मेरे लिखनेका आप कोई भी दूसरा भाव न समझें ⋯ ⋯। आपके शब्दोंका हृदयसे आदर करते हुए ही मैंने स्थितिको स्पष्ट करनेकी चेष्टा की है। अनुचितके लिये पुनः क्षमाप्रार्थी हूँ। आप स्वस्थ होंगे। विवाहका कार्य भलीभाँति सम्पन्न हो गया होगा।

भाई मोहन, परमेश्वर तथा सबसे सस्नेह यथा-योग्य।

आपका भाई
हनुमान

आलोचकोंका समादर

किसी महानुभावने 'रंगीला भक्त' नामसे पुस्तक प्रकाशित की एवं उसमें भाईजीपर कटाक्ष किया। भाईजीने इस सम्बन्धमें पं. हरिबक्षजी जोशीको जो पत्र दिया, उसमें लिखा—

आपके कथानुसार पुस्तकमें यदि मुझपर कटाक्ष किये गये हैं, तो इसमें आपत्तिकी कौन-सी बात है? यदि कोई सच्चा दोष लेखकने दिखलाया होगा तो मुझे उसका उपकार मानना चाहिये।

दोष बताकर सावधान करनेवाले सज्जनोंको प्रशंसाके पात्र ही समझना चाहिये। यदि लेखकने कहीं अनुचित और मिथ्या आक्षेप किया हो तो वह भ्रममें है। परमात्मा उसकी भ्रमसे भरी हुई बुद्धिको शुद्ध करें। इस पुस्तकको

देखकर तो मुझे रत्तीभर भी क्षोभ नहीं हुआ। यदि हमारे हृदयमें घृणा-द्वेष-क्रोधादि उत्पन्न हो जायँ तो इससे यह होगा कि उसके मनमें तो एक ही दोष था, हमारे मनमें कई पाप आ गये…… …… इसका प्रतिकार यही है कि भक्तिके मार्गमें चलनेवाले लोग कहीं भी अपने चरित्रमें दोष न आने दें। …… प्रथम तो लेखककी क्रस्तावनापर विश्वास करके हमें यही मानना चाहिये कि उन्होंने मुझपर कोई कटाक्ष नहीं किया है। हमलोगोंको और कोई प्रयत्न न करके, परमात्मासे केवल प्रार्थना करनी चाहिये कि उनका मंगल हो।

प्रलोभनोंसे रक्षा

यह सत्य है कि पहलेके संस्कार तथा किसी अंशमें कुछ रुचि होनेपर भी जीवनकी वास्तविक परमार्थ-साधनाका श्रीगणेश शिमलापालमें ही हुआ एवं इसी कारण इसके बाद भी पूर्वाभ्यासवश राजनीतिसे सम्पर्क रहा, पर मनकी रुचि उस ओरसे उत्तरोत्तर घटती गयी और क्रमशः (बीच- बीचमें छूटनेपर भी) परमार्थ-पथपर अग्रसर होनेका, भोगोंसे बचनेका प्रयास सदा जारी ही रहा। बड़े-बड़े प्रलोभन मोहक-मधुर प्रलोभन आये— बड़ी भारी धन-सम्पत्तिके, ऊँची-से-ऊँची उपाधियोंके तथा देश-सेवाके क्षेत्रमें महत्त्वपूर्ण स्थानोंके, साधनाके क्षेत्रमें भी गुरुपद ग्रहण करने आदिके-पर भगवान्‌की कृपाने सारे प्रलोभनोंसे बचाया— ऐसी रक्षा की जैसे मातृपरायण अबोध शिशुकी रक्षा स्नेहमयी सावधान माँ करती है। मैं भटक जाता, यदि मुझे भगवान्‌की कृपा बार-बार रोककर न बचाती। आज मैं सर्वथा साधनहीन होनेपर भी इतना तो कह ही सकता हूँ कि भगवान्‌की अनन्त अपार अहैतुकी कृपाकी सुधा-धारा निरन्तर मुझपर बरसती रही है और वह अब भी बरस रही है; मेरे अन्दर निरन्तर प्रवेश करके मेरे सारे कलुष— समस्त विषको निर्मूल करती रही है और अब भी विष-बीजका वपन नहीं होने दे रही है। मैं कहीं कभी किसी कारणवश विषय-विष-बीजको ग्रहण करना चाहूँ भी तो वह नहीं करने देती; दूरसे ही छीनकर झटक देती है।

* * * *

सन् १९३१-३२ के लगभग महात्मा गाँधीने मुझे लिखा कि तुम मेरे पास आ जाओ। उस समय नमक सत्याग्रहका आन्दोलन शुरू हो गया था। मैंने श्रीसेठजीसे कहा कि मैं जा रहा हूँ। श्रीसेठजीने बहुत समझाया कि भैया!

मत जाओ, क्या करोगे जाकर? पर मेरे मनमें जोश था, मैंने कहा– मेरी जानेकी इच्छा है। श्रीसेठजीके पास एक अस्त्र था, जिसे वे जानते थे कि मैं श्रीसेठजीकी आज्ञा नहीं टाल सकता। यह बात मेरेमें थी। उन्होंने कहा– मैं कहता हूँ, तुम मत जाओ। बस, बात वहीं समाप्त हो गई। मैं नहीं गया। नहीं तो राजनीतिमें रहता और जो दशा राजनीतिज्ञोंकी आज हो रही है, वही मेरी होती। राजनीतिमें उस समय मैं बहुत आगे बढ़ गया था। उस समय जो मूर्धन्य नेता थे, उन सबसे मेरा निकटका सम्बन्ध था। बम्बईमें बड़े-से-बड़े नेता आते थे प्रायः सब मेरे पास ठहरा करते थे। राजनीतिमें आगे बढ़कर गिरनेसे श्रीसेठजीने मुझे बचाया।

* * * *

गोरखपुर आनेके बाद एक बड़ा प्रलोभन आया। तत्कालीन सरकारमें शायद रेवेन्यू-विभागके एक उच्च अधिकारी श्रीमेहताजी थे। उनसे मेरा अच्छा परिचय था। वे मुझे बड़ा सम्मान देते थे। उस समय मालवीयजीके पुत्र श्रीराधाकान्तके पास कोई काम नहीं था। मेहताजी मालवीयजीके प्रति श्रद्धा रखते थे। श्रीराधाकान्तने मेहताजीको कोई काम देनेको कहा। मेहताजीने कहा– एक बहुत बड़ा सरकारी काम है। वह काम हम आपको दे सकते हैं; पर वह काम हम पोद्दारजीके नामसे देंगे, आपके नामसे नहीं। पोद्दारजी अपना नाम देनेको तैयार हों तो काम मिल जायगा। बहुत बड़ा काम था। लाखों रुपये सालकी आमदनी थी। मेहताजीका पत्र लेकर मालवीयजीका आदमी मेरे पास गोरखपुर आया। मालवीयजीने मौखिक रूपसे कहलवाया– तुम इस कार्यमें अपना नाम दे दो तो तुम्हारे पास पैसा आ जायगा, राधाकान्तके पास भी आ जायगा। पर मैंने तो यह निश्चय कर लिया था कि कोई भी काम नहीं करना है। मैंने मालवीयजी महाराजको बड़े विनम्र शब्दोंमें कहला दिया– मैं कोई भी काम करनेमें लाचार हूँ। भगवान्‌ने परीक्षा लेनी चाही और उन्होंने ही रक्षा की।

* * * *

महात्मा गाँधीके सम्बन्धकी मधुर स्मृतियाँ

बापूके साथ मेरा बहुत अधिक सम्पर्क रहा है और मैंने उनको बहुत निकटसे देखनेके सुअवसर प्राप्त किये हैं। उनसे परिचय तो मेरा बहुत पुराना (सन् १९१५ से) था और निकटका था, पर जब मैं बम्बईमें रहता था, तब महात्माजी साबरमती आश्रम, अहमदाबादमें निवास करते थे। उस समय मैं बीच-बीचमें कईबार आश्रममें भी जाया करता था। वे जब बम्बई पधारते, तब स्वर्गीय भाई जमनालालजी बजाजके साथ व्यावसायिक कार्य करनेके कारण उनकी ओरसे महात्माजीके सारे अतिथ्यका काम मेरे ही जिम्मे रहता था। महात्माजी बम्बईमें मेरे घरपर भी कईबार पधारे थे। उनका मेरे साथ सम्बन्ध प्रायः वैसा ही कौटुम्बिक था, जैसा उनके अपने पुत्र भाई देवदासके साथ था।

बापूके सम्बन्धकी अनेकों मधुर स्मृतियाँ हैं। कुछ यहाँ दी जा रही है—

(१)

गाँधीजी बम्बई पधारे हुए थे और जुहूमें ठहरे थे। उस समय वे कुछ बीमार थे। मैं और शान्तिदेवी बहिन गाँधीजीसे मिलनेके लिये गये। उन दिनों गाँधीजीका एक पत्र 'नवजीवन' गुजरातीमें निकलता था। जब हमलोग जुहू जा रहे थे, तब रास्तेमें हमें 'नवजीवन' की प्रति मिली। उसमें छपा था— गाँधीजी बीमार हैं, उनसे मिलनेके लिये कोई न जाय। हमलोग उस समयतक जुहूके समीप पहुँच गये थे। मनमें आया—समीप आ गये हैं, बँगलेतक हो आयें; फिर लौट जायेंगे, मिलेंगे नहीं। गाँधीजीके निवासपर पहुँचनेपर भाई देवदास हमें नीचे मिले। हमलोगोंने उनसे बापूके स्वास्थ्यके विषयमें पूछा और लौटने लगे। भाई देवदासने कहा—आपलोग आये हैं, बापूको खबर तो दे दूँ। उतनी देरतक ठहरिये, लौटते क्यों हैं? भाई देवदास ऊपर गये और लौटकर बोले—आप लोगोंको बापूने ऊपर बुलाया है। अब तो हमलोग विवश थे। हमलोग ऊपर गये और बापूको प्रणाम किया। वे हँसकर डाँटते हुए बोले—लौट क्यों रहे थे? मैंने कहा—बापू! 'नवजीवन' में छपा है, इसलिये लौट रहा था।' बोले—यह घरवालोंके लिये छपा है क्या? देवदास यहाँ नहीं रहेगा क्या? फिर

उन्होंने समझाया—देखो, यह तो उन लोगोंके लिये है, जो यहाँ आयें और शिष्टाचारके नाते उनसे मुझे बोलना ही पड़े—चाहे मुझे बोलनेमें कष्ट ही हो। मैं यदि उनसे न बोलूँ तो उनको कष्ट हो, दुःख हो। इसलिये उन लोगोंको आनेसे रोक दिया है। तुम आओ, तुमसे मैं एक शब्द भी न बोलूँ। तुम बैठे रहो; तुमसे न बोलूँ तो तुम्हें उसमें तनिक भी विचार नहीं होगा। अतएव तुम्हारे आनेमें मुझे क्या संकोच है? आये हो, कुछ देर बैठो। हमलोग कुछ देर बैठे, फिर लौट आये।

(२)

एक हमारे लक्ष्मणगढ़के ब्राह्मण थे, उनका नाम था बालूरामजी। वे पढ़े-लिखे नहीं थे। पहले आसाममें किसी फर्ममें नौकरी करते थे। वहाँसे माल खरीदने कलकत्ता जाया करते थे। वे किसीके आढ़तमें माल खरीदते। भगवान्‌की उनपर बड़ी कृपा हुई। एक दिन उनके मस्तिष्कमें यह बात आई कि कोई कपड़ेकी आढ़त करता है, कोई गल्लेकी, हम भगवान्‌के नामकी आढ़तका व्यापार क्यों न करें? उन्होंने नौकरी छोड़ दी। उस जमानेमें खर्च बहुत कम था और लोगोंकी आवश्यकताएँ भी आजकी तरह बेहद बढ़ी हुई नहीं थी। उन्होंने सोचा हमारा खर्च तो थोड़ेसेमें चल जायगा, ब्राह्मण हैं, कहींसे मिल जायगा। नौकरी छोड़कर भगवान्‌के नामकी आढ़त करने लगे। वे हर एकके पास जाते, समझाते, खीजते, फुसलाते, लालच देते और भगवान्‌के नाम जपकी प्रतिज्ञा करवाते। वे बड़े-बड़े बही-खाते रखते थे और प्रतिज्ञा कराके बहीमें उसकी सही करवाते थे। मुसलमानोंके पास भी जाते, ईसाईयों, जैनियोंके पास भी जाते। कहते-भाई! तुम जिसको भगवान् मानते हो उसीका जप करो। उनकी बहियोंको मैंने देखा है, लाखों लोगोंको उन्होंने नियम दिलवाया होगा।

एक बार बापू बम्बई पधारे थे, लेबरनम रोडपर ठहरे थे। उस समय मेरे साथ बालूरामजी थे जो 'रामनामके आढ़तिया' कहलाते थे, ठहरे हुए थे। श्रीजमानालालजी बजाज भी बम्बईमें थे। मैं, जमनालालजी बजाज तथा रामनामके आढ़तिया—तीनों गाँधीजीके पास गये। गाँधीजीने पण्डितजीका पूरा परिचय पूछा। बालूरामजीने अपनी बही खोलकर सामने

रख दी और बोले– 'इसपर सही करो। और नाम-जप करो।' वे ऐसे ही बोलते थे। हमलोगोंने गाँधीजीको सब बात बतायी। वे बड़े प्रसन्न हुए। बोले– 'भगवान्‌में लोगोंको लगाना बड़ा अच्छा काम है।' थोड़ी देर रुककर बोले– 'देखिये, आप कहें तो मैं सही कर दूँ। पर एक बात है– जब मैं अफ्रीकामें था, तब संख्यासे नाम-जप करता था; पर अब तो मेरा दिनभर नाम-जप चलता है। जब उसकी संख्या नहीं है, तब उसको संख्यामें क्यों बाँधते हैं?' इसपर जमनालालजीने कहा– 'बापू! आपको सही करनेकी आवश्यकता नहीं है।' बापूने सही नहीं की।

(३)

'कल्याण' का 'भगवन्नामांक' निकलनेवाला था। सेठ जमनालालजीको साथ लेकर मैं बापूके पास गया, राम-नामपर कुछ लिखवानेके लिये। बापूने हँसकर कहा– जमनालालजीको साथ क्यों लाये हो। क्या मैं इनकी सिफारिश मानकर लिख दूँगा? तुम अकेले ही क्यों नहीं आये? सेठजी (जमनालालजी) मुस्कराये। मैंने कहा– बापूजी, बात तो सच है, मैं इनको इसीलिये लाया था कि आप लिख ही दें। बापू हँसकर बोले– अच्छा, इसबार माफ करता हूँ, आइन्दा ऐसा अविश्वास मत करना। फिर कलम उठायी और तुरंत नीचे संदेश लिख दिया–

नामकी महिमाके बारेमें तुलसीदासजीने कुछ भी कहनेको बाकी नहीं रखा है। द्वादश मन्त्र, अष्टाक्षर इत्यादि सब इस मोहजालमें फँसे हुए मनुष्यके लिये शान्तिप्रद हैं। इसमें कुछ भी शंका नहीं है। जिससे जिसको शान्ति मिले, उस मन्त्रपर वह निर्भर रहे। परन्तु जिसको शांतिका अनुभव ही नहीं है और जो शान्तिकी खोजमें है, उसके तो अवश्य राम-नाम पारसमणि बन सकता है। ईश्वरके सहस्र नाम कहे जाते हैं, इसका अर्थ यह है कि उसके नाम अनन्त हैं, गुण अनन्त हैं। इसी कारण ईश्वर नामातीत और गुणातीत भी है। परंतु देहधारीके लिये नामका सहारा अत्यावश्यक है और इस युगमें मूढ़ और निरक्षर भी रामनामरूपी एकाक्षर मन्त्रका सहारा ले सकता है। वस्तुतः 'राम' उच्चारणकी दृष्टिसे एकाक्षर ही है और 'ओंकार'में और 'राम'में कोई फरक नहीं है। परंतु नाम-महिमा बुद्धिवादसे सिद्ध नहीं हो सकी है, श्रद्धासे अनुभवसाध्य है।

संदेश लिखकर मुस्कराते हुए बापू बोले— तुम मुझसे ही संदेश लेने आये हो जगत्‌को उपदेश देनेके लिये या खुद भी कुछ करते हो? रोज नाम-जपका नियम लो तो तुम्हें संदेश मिलेगा, नहीं तो मैं नहीं दूँगा। मैंने कहा— बापू, मैं कुछ जप तो रोज करता ही हूँ, अब कुछ और बढ़ा दूँगा। बापूने यह कहकर कि भाई, बिना कीमत ऐसी कीमती चीज थोड़े ही दी जाती है— मुझे संदेश दे दिया। सेठजी (जमनालालजी) को कुछ बातें करनी थीं। वे ठहर गये। मैंने चरणस्पर्श किया और आज्ञा प्राप्त करके लौट आया।

(४)

गोरखपुर आने (अर्थात अगस्त,१९२७) के पश्चात् किसी कामसे मैं बम्बई गया था और वहाँसे रतनगढ़ जा रहा था। उस समय अहमदाबाद होकर .गाड़ी जाती थी। बम्बईसे चलकर जब गाड़ी बदलनेके लिये मैं अहमदाबाद उतरा, तब गाँधीजीके दर्शनार्थ उनके आश्रमपर गया। अहमदाबादके निकट ही गाँधीजीका साबरमती आश्रम था। मैं आश्रमपर पहुँचा। मेरे हाथमें 'कल्याण' का अंक था। संयोगकी बात, उस अंकमें 'भगवन्नाम-जप' की प्रार्थना छपी थी। गाँधीजीने 'कल्याण' का अंक अपने हाथमें ले लिया और उसे देखने लगे। 'भगवन्नाम-जपके लिये विनीत

''हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥''

प्रार्थना' लेख देखकर पूछने लगे— यह क्या है? मैंने बताया कि किस प्रकार भगवान्‌के इस षोडश नाम-मन्त्र-जपके लिये प्रतिवर्ष 'कल्याण' में प्रार्थना प्रकाशित की जाती है और किस प्रकार पाठक-पाठिकाएँ बड़े उत्साहसे नाम-जप करती हैं। इतना सुनते ही पूछने लगे— कितना जप हो जाता है? मैंने कहा— कई करोड़ हो जाता है। इसपर वे बड़े प्रसन्न हुए और बोले— तुम बड़ा अच्छा करते हो। इसमें दस-पन्द्रह व्यक्ति भी यदि सच्चे भावसे जप करते होंगे तो उनका उद्धार हो जायगा। फिर बोले— देखो, मैं भी नाम-जप करता हूँ और उन्होंने गोल तकियेके नीचेसे तुलसीकी माला निकाली और दिखाते हुए बोले— इसीके सहारे रात्रिके समय जप करता हूँ। संयोगसे उनकी वह माला टूटी हुई थी और मेरी

जेबमें तुलसीकी एक नयी माला थी। मेरे मनमें आया--इनकी टूटी हुई मालाकी जगह नयी माला बदल दूँ। मैंने बापूसे प्रार्थना की--बापू! आपकी यह माला तो टूट गयी है, इसे आप मुझे दे दीजिये और आप नयी माला ले लीजिये। और मैंने अपनी जेबमेंसे नयी माला निकालकर उनकी ओर बढ़ायी। बापू बड़े विनोदी थे; उन्होंने बड़ा प्रेमभरा विनोद किया; बोले--तुम मुझे माला देने आये हो? अर्थात् मुझे चेला बनाने आये हो? मैं तथा पास बैठे सबलोग हँस पड़े। मैंने कहा--बापू! माला टूट गयी है, इससे बदलना चाहता था; आपको माला मैं क्या दूँगा। मेरे उत्तरसे वे बड़े प्रसन्न हुए, फिर बोले-- मुझे नयी माला दोगे तो तुम्हें साथमें कुछ दक्षिणा भी देनी होगी। दानके साथ दक्षिणा भी होती है। मैंने कहा--आपकी कृपा है; बोलिये तो क्या देना पड़ेगा? तब उन्होंने गम्भीर होकर कहा--तुम अभी जितना नाम-जप करते हो, उसके सिवा एक माला जप और अधिक कर लिया करो। तब हम तुम्हारी माला लेंगे। मैंने कहा--क्या हर्ज है। बापूने प्रसन्नतापूर्वक नयी माला रख ली। उस दिनसे मैं अपने जपके अतिरिक्त एक माला जप और करता हूँ आजतक वह नियम अक्षुण्ण रूपमें निभता चला आता है।

(५)

सन् १९३२ की बात है। भाई देवदास गाँधी गोरखपुर जेलमें कैद थे। जेलमें वे बीमार हो गये--टायफाइड हो गया था उनको। जेल अधिकारी भाई देवदासकी सँभाल ठीकसे न कर सके। बापूको पता चला। उन्होंने मुझे लिखा-- देवदास गोरखपुर जेलमें बीमार है। उसकी देखभाल, चिकित्सा आदिका सारा भार तुमपर है।

बापू उस समय यरवदा जेलमें थे। बापूका आदेश प्राप्त होते ही मैं भाई देवदासकी सेवामें लग गया। कानूनन प्रतिदिन जेलमें जाकर मिलना सम्भव नहीं था, पर मेरे प्रति यहाँके अधिकारियोंकी सदासे ही बड़ी सद्भावना रही है। उन्होंने मुझे प्रतिदिन भाई देवदाससे मिलनेकी अनुमति दे दी। कुछ दिनोंमें भाई देवदास ठीक हो गये और जेलसे छोड़ दिये गये। मैं उन्हें पहुँचाने वाराणसी तक साथ गया था।

मैं तार-पत्र द्वारा बापूको बराबर भाई देवदासकी स्थितिका परिचय

कराता रहता था। बापू मेरी इस तुच्छ सेवासे इतने मुग्ध हो गये कि उन्होंने एक पत्रमें लिखा—

यरवदा मंदिर
२१ जुलाई, ३२

भाई हनुमानप्रसाद,

आपका पत्र मिला और आज तार भी। देवदासके लिये चिन्ता नहीं करूँगा; क्योंकि आप वहाँ हैं और देवदासने मुझको भी ………… (है) कि आपने उससे बड़ा प्रेम किया था। डाकतार तो अच्छा है। आपके पत्रकी आजकल हमेशा प्रतीक्षा करता रहूँगा।

बापूके आशीर्वाद

(६)

'कल्याण' के साथ बापूकी स्मृति जुड़ी हुई है। 'कल्याण' में बाहरी विज्ञापन न छापने और पुस्तकेंकी समालोचना न करनेका सिद्धान्त उन्हींकी सम्मतिसे स्वीकार किया गया था, जो अबतक भगवत्कृपासे चल रहा है।

(७)

सिद्धान्तकी दृष्टिसे पूज्य भाईजीने गाँधीजीके साथ भी समझौता नहीं किया। उनको वे शास्त्रीय सिद्धान्त पर कितना स्पष्ट लिखते थे, यह निम्नलिखित पत्रसे पता लगता है—

रतनगढ़ (बीकानेर)
कार्तिक शु. १, सं. १९८९
३० अक्टूबर, १९३२

पूज्य चरण बापूजी,

श्रीचरणोंमें सादर प्रणाम। गोरखपुरमें आपके पत्र मिले थे। मैं उनका उत्तर लिखने ही वाला था कि आपके अनशन-व्रतका समाचार अचानक आ गया। उस समय मैं काशीमें था। भाई देवदासजी तथा पूज्य मालवीयजीसे इस सम्बन्धमें मिला था। इसके अनन्तर मैं एक कार्यवश राजपूताना चला आया था। यहाँसे यरवदा आनेका विचार था, परन्तु यह सोचकर कि मैं कुछ काम

तो कर नहीं सकूँगा सिर्फ नामके लिये जाना उचित नहीं, मैंने विचार छोड़ दिया। यहाँ दूर बैठे-बैठे जो कुछ बन सका सो किया, क्या किया सो नहीं बताऊँगा, न बतानेकी जरूरत ही है। फिर भाई घनश्यामदास बिड़लाने कृपापूर्वक समझौता होने और आपके व्रतपूर्ण होनेकी खबर तार द्वारा दे दी। जिससे पूरी सान्त्वना मिल गयी।

आपने पहले पत्रमें जो कुछ उपदेश लिखा सो सर्वथा सत्य है, मैं भी मानता रहा हूँ कि किसी भी कारण असत्यका सहारा लेनेवाला और राग-द्वेषवश निन्दाकर्म करनेवाला भगवान्‌को प्राप्त नहीं कर सकता। दूसरे विषयमें मेरा यह निवेदन है कि मैंने प्रवृत्तिसे अलग रहकर सत्यके मार्गपर चलनेकी जो बात लिखी थी, उसमें प्रवृत्तिका अर्थ प्रपंचमात्रसे अलग रहनेसे नहीं था। बल्कि ऐसे ही प्रपंचकी ओर मेरा इशारा था जो हिंसा, द्वेष, स्वार्थ-कामना, परदोष-दर्शन, पर-पीड़न, लोभ, मत्सरता आदि दूषित वृत्तियोंको बढ़ानेवाला हो। आजकल प्रायः सभी क्षेत्रोंमें इस प्रकारके प्रपंचकी ही प्रबलता है। इससे मैंने निवेदन किया था।

अपने कार्डमें लिखा था— मैं अनुग्रह क्यों मानूँ? ऐसी सेवा मूक होकर लेना ही मुझे तो सभ्यता प्रतीत होती है, सब सच्ची सेवाका बदला मनुष्य नहीं दे सकता, ईश्वर दे सकता है।

मैं नहीं समझता इस प्रकारके शब्द लिखनेकी भी जरूरत आपको क्यों मालूम हुई? मुझे तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि शायद मेरे मनमें ही कहीं इस कार्यको सेवा समझनेका अभिमान और अनुग्रह मनवानेकी इच्छा छिपी हुई है, इसीलिये आपके हृदयमें ऐसे भाव आये हैं। सच्ची बात तो यह है कि मुझे भाई देवदासजीके लिये जितना कुछ करना चाहिए था, उतना मैं कर ही नहीं सका और यदि कुछ किया भी तो उसमें सिवा स्नेह तथा आत्मीयताके और कोई कारण नहीं होना चाहिए। आपको शायद स्मरण होगा— (क्योंकि आपकी स्मृतिशक्ति बहुत तीव्र है) आप जब जुहूमें थे और जब आपने बिना काम न मिलनेकी सूचना नवजीवनमें निकाली थी, उस समय एक दिन मैं सूचनाका पता न रहनेके कारण जुहू चला गया था और वहाँ पता लगनेसे आपके दर्शन बिना किये ही वापस लौट रहा था, तब आपने मुझे बुलवाकर कहा था— यह सूचना परिवारके लोगोंके लिये नहीं है, तुम तो परिवारके ही

हो। तुम आओ और बैठे रहो तथा मैं तुमसे जरा भी न बोलूँ तो भी मुझे संकोच नहीं होगा, इसलिये तुम्हें बिना मिले क्यों वापस लौट जाना चाहिए। आपके वह वात्सल्यपूर्ण शब्द मुझे स्मरण हैं। मेरा सम्बन्ध तो आपके साथ बहुत पहिलेसे था परन्तु उस दिनसे तो मैं अपनेको आपके निज परिवारका एक शुद्ध परिजन मानता हूँ (यद्यपि अन्तरात्मासे, सत्य अनुरोधसे, आपके मनका सर्वथा अनुकरण करनेमें अबतक लगातार असमर्थ रहा हूँ) और उसी नाते मैं अपने मनमें आपको तथा सारे परिवारको निजजनकी तरह देखता तथा अनुभव करता हूँ। इस स्थितिमें यदि मैंने भाई देवदासजीकी बीमारीमें स्नेहवशात् उनकी देखरेख की तो इसमें न तो किसी पर एहसान ही किया और न कुछ अनोखी बात ही। श्रीरामदासभाईके हृदयमें इस स्थितिमें जैसी भावना होती, वैसे ही मेरे भी होनी चाहिए थी। खैर, जहाँतक सत्य मुझे साक्षी देता है, मैंने प्रायः इसी जातिकी भावनासे प्रेरित होकर कुछ किया इसपर भाई नारायणदास तथा मीरा बहिनने तो कृतज्ञाता प्रकटकर मुझे लज्जित किया ही, परन्तु आपके शब्द तो एक प्रकारसे बहुत ही संकोचके कारण हो गये, इससे मेरी अयोग्यता प्रकाशित हो गयी, इतना अच्छा हुआ।

आपका स्वास्थ्य अब अच्छा होगा, कृपाकर दिनचर्या तथा खान-पानकी व्यवस्था लिखवायें। आज मैं बहुत लम्बा पत्र लिख रहा हूँ, यह पत्र मैं बहुत दिनों पहले लिखनेवाला था, परन्तु प्रथम तो आपके शरीरकी दुर्बलताको देखकर, दूसरे अपनी नगण्यताकी ओर ध्यान देकर नहीं लिखा, परन्तु अन्तमें अपने क्षुद्र व्यक्तित्वका ध्यान होते हुए भी अपने मनकी बात बालककी तरह सेवामें रख देनी उचित समझी, इससे यह साहस किया। मेरी नम्र प्रार्थना है कि आप कृपापूर्वक इस पत्रको पढ़ें या पढ़वाकर सुन लें और जो कुछ उचित हो, उत्तरमें उपदेश देनेकी कृपा अवश्य करें।

आजकल दलित भइयोंके सम्बन्धमें बहुत जोरका आन्दोलन हो रहा है, आपके अनशन-व्रतके समयसे इसका विस्तार बहुत हो गया है। जगह-जगह सह-भोजन, प्रीतिभोज, तथा मन्दिर प्रवेश आदि हो रहे हैं, इसका परिणाम तो भगवान् जाने परन्तु आजतक जहाँ लोगोंको प्रायः पुराने विचारों और शास्त्रके शब्दोंका अन्धानुकरण करनेवाले कहा जाता था, आज इस आन्दोलनमें भी अन्धानुकरणके साथ-साथ प्रायः विवेकहीनता

और स्वच्छाचारिताकी प्रधानता हो रही है।

दलित भाइयोंके साथ खान-पान करनेके लिये कहनेवाले महानुभवोंकी भी यही राय थी (यद्यपि मैं किसी हालतमें खान-पानकी समानताको उचित नहीं समझता) कि जब वह भाई शुद्ध और पवित्र हो स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहनकर आये, मद्य, मांस छोड़ दे, कम-से-कम मरे हुए ढोरोंका मांस खाना छोड़ दे तभी उसके साथ खान-पान किया जाय। परन्तु आजके सहभोजो तथा मंदिर-प्रवेशमें इस बातकी जाँच कोई भूलकर भी नहीं करता कि वे पवित्र होकर आये हैं या नहीं, उनकी उन्नति हो या न हो, उनके दुःख दूर हों या न हों, उनके सदाचार बढ़े या नहीं, वे मांस खाना छोड़े या न छोड़े इन बातोंसे कोई मतलब नहीं, बस केवल उनके साथ खाना, समान पंक्तिमें बैठना, उनकी पत्तलोंमेंसे जूठन लेकर खाना, मंदिरमें ले जाना, होममें आहुति दिलवाना– यही सब हो रहा है। उनको ऊँचा उठानेकी बात कोई नहीं करता, उन्हींके समान अशुद्ध होनेकी बात कही जाती है। यह उच्छृंखलता है या सुधार? पवित्रताकी वृद्धि है या संहार? तथा इस निरंकुश अमर्यादाका परिणाम शरीर और मनपर कैसा होगा, इसका विचार आप खुद कर सकते हैं। मैं अत्यन्त विनम्र शब्दोंमें यही निवेदन करना चाहता हूँ कि खान-पानकी एकता तथा सब बातोंके समान अधिकारसे प्रेम नहीं बढ़ता, प्रेम बढ़ता है हृदयकी विशुद्ध प्रीति तथा सद्व्यवहारसे। कौरव-पाण्डव तो सहभोजी थे, परन्तु उनमें महायुद्ध हो गया। सहभोजी योरपका यहाँ समर तो हालकी ताजी घटना है। मैं यहाँ आपके ही पुराने कुछ वाक्य उद्धृत करता हूँ:–

(१) हिन्दू धर्म भिन्न-भिन्न वर्णोंमें रोटी-बेटीके व्यवहारकी ओर आग्रह पूर्वक अरुचि प्रकट करता है, हिन्दू धर्म संयमकी सीमापर पहुँच सका है, आत्माकी मुक्तिके लिये देहके दमनका आदेश देनेवाला यह धर्म है। इस प्रकार हिन्दू-धर्ममें बापको बेटेके साथ बैठकर खाना ही चाहिये, ऐसी विधि नहीं है।

(नवजीवन ९-१०-१९२१)

(२) अस्पृश्यता नाशके माने अन्त्यजोंके साथ खान-पान या बेटी-व्यवहार नहीं है।

(नवजीवन ९-१०-१९२१)

(३) उनके पिये हुए लोटेका साफ किये बिना मैं पानी पीनेके लिये नहीं कहता।

(नवजीवन ९-१०-१९२१)

(४) एक साथ भोजन करनेसे मित्रता बढ़ती होती तो योरोपका महायुद्ध न हुआ होता।

(५) 'वैष्णवों'में मैंने बहुत-सी माताओंको देखा है जो माता (..............) का पालन करती है उसमें इससे औद्धत्य आता हो, यह मैंने नहीं देखा। यह सब बातें केवल समय और तालीमसे सम्बन्ध रखती हैं।

(६) जल, रोटी या बेटी-व्यवहार हिन्दू-धर्मका आवश्यक चिन्ह नहीं है, हिन्दू-धर्ममें संयमको प्रधानता दी गई है। उसीके लिए भोजन, विवाह आदिके प्रतिबन्ध रखे गये हैं। इसको मैं भिन्न नहीं मानता।

(नवजीवन ६-२-२१)

(७) जितने देवालय हैं उन सभीमें अन्त्यजकोंके जानेका हक होना चाहिए यह कैसे हो सकता है।

(नवजीवन १७-४-२१)

(८) वर्णान्तर-भोजन, वर्णान्तर-विवाह एकता करनेमें असमर्थ है ही, लेकिन कलह रुकवानेमें मैं किसी भी कालमें मददरूप नहीं है। पाण्डवों और कौरवोंमें रोटी-बेटीका व्यवहार था। उन्होंने एक दूसरेका गला दबाया अँग्रेज और जर्मनोंमें भी ऐसा ही व्यवहार था, परन्तु उनमें वैर क्या कम था? पंजाबमें बहुतसे हिन्दू-मुसलमानोंके साथ खाते हैं, इससे आज उनमें वैमनस्य कम नहीं हो गया है।

(नवजीवन)

आपके पुराने इन वचनोंके रहते और वर्तमानमें भी आपके द्वारा ऐसी कोई बात न सुननेपर भी आजकल उत्साह, जोशमें भरे हुए लोग भविष्यका परिणाम कुछ भी न सोचकर आपके नामपर आपके अनुयायी कहलाते हुए ऐसी-ऐसी कारवाइयाँ कर रहे हैं, जिन्हें देखकर जनता शंकाशील हो गयी है। आज उनके सामने किसीके बोलनेका भी साहस नहीं रह गया है। भरी सभामें और सामयिक पत्रोंके कलेवरोंमें मामूलीसे मामूली मनुष्य चाहे सच्चिदानन्दघन

भगवान्की अनर्गल निन्दा करें, श्रीराम-कृष्ण आदिको बुरे बतलायें, व्यास, वसिष्ठ, हरिश्चन्द्र, युद्धिष्ठिर, शंकर, रामानुज, तुलसीदास सरीखे महापुरुषोंको गालियाँ दे, कोई कुछ नहीं बोलता। बल्कि वे नयी शोध करनेवाले कहे जाकर प्रशंसाके पात्र होते हैं। लेकिन आज आपके प्रति मनमें पूर्ण श्रद्धा रखता हुआ भी यदि कोई सदाचारी श्रेष्ठ पुरुष आपकी या आपके किसी कार्यकी समालोचना करता या उसे भूल सिद्ध करना चाहता है तो उसको और उसके धर्म विश्वासको सैकड़ों गालियाँ सुननी पड़ती हैं। वह महान् देशभक्त होनेपर भी देशद्रोही, धर्मनाशक, दकियानूसी, सनातनधर्मी और न मालूम कितने नामोंसे पुकारा जाता है, उसकी भर्त्सना, अपमान किया जाता है। मारनेकी धमकी दी जाती है। अभी काशीकी एक सभामें तो पत्थर तक चलाये गये थे। इस स्थितिको देखकर जनता मन-ही-मन डर रही है। भावी स्वराज्यके प्रति लोगोंके मनमें सन्देह उत्पन्न हो गया है कि जब किसी एक सिद्धान्तको न माननेके कारण ही आज देशभक्तिके नामपर लोग शासनकी सत्ता न रहनेकी हालतमें भी हमारी धार्मिक मान्यताको बुरी तरह कुचलकर हमें अपने मनमाने मार्गपर जबरदस्ती चलनेको बाध्य करते हैं, तब इन लोगोंके हाथोंमें अधिकार आनेपर तो न मालूम क्या होगा? यह कल्पना नहीं है, वस्तुस्थिति है। पत्रोंमें लिखनेको छापते ही हैं, परन्तु स्थिति सच्ची यही है।

इस सम्बन्धमें आपसे कुछ उपदेश प्रदान करनेकी मेरी प्रार्थना है। मैं मानता हूँ कि आप किसीके मतको या मान्यताको बदलनेके लिये बल-प्रयोग करनेकी सम्मति नहीं देते। आपने कई बार कहा भी है कि मनुष्यको अपनी इच्छानुसार धर्म और संयमके पालनकी स्वतंत्रता होनी चाहिए। परन्तु हो क्या रहा है? डरा धमकाकर, निन्दाकर लोगोंको सताना, मनकी बात प्रकाशतक करनेवालोंको उपहास करना तथा उनके खानगी और साम्प्रदायिक मंदिरोंमें जहाँ-जहाँ स्वतंत्रतासे बैठकर वे अपनी मान्यताके अनुसार इष्टदेवकी पूजा, पाठ, भजन, हवन करते, प्रसाद लगाते, और प्रसाद पाते हैं, सभी प्रकारके लोगोंका, मंदिर बनवानेवाले या संचालकोंकी इच्छा और मान्यताके विरुद्ध प्रवेश करना क्या बल प्रयोग नहीं है? क्या इससे उनकी धर्म-पालनकी स्वतन्त्रतामें बाधा नहीं आती? क्या उनके दिलपर गहरी चोट नहीं पहुँचती? इससे तो मंदिरकी प्रणाली नष्ट हो जायगी। फिर मैं बड़ी विनयके साथ यह पूछना चाहता हूँ कि क्या मंदिर-प्रवेश करने-करानेवाले लोग देव-दर्शनार्थ ही

मंदिर मैं जाना चाहते हैं? यदि ऐसा ही है तो उनके लिये अलग मंदिरोंका निर्माण क्यों नहीं होता। क्या अलग मंदिरोंमें भगवान् नहीं रहेंगे? क्या छोटी-सी शबरीकी कुटियामें नारायण-श्रीराम नहीं पधारे थे? पर बात तो अधिकारकी है।

आज रैदास चमार हो तो कौन भक्त साधक उसकी चरण धूलि मस्तकपर चढ़ानेके तैयार नहीं है, परन्तु अन्त्यजभाई तो यह नहीं चाहते। भाई अम्बेडकरने स्पष्ट कहा है– हमें ईश्वरकी जरूरत नहीं है। हमारा उद्देश्य तो सामाजिक सामानता और सरकारी नौकरियोंका पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त करना है। ऐसी स्थितिमें जबरदस्ती मंदिर-प्रवेशका क्या अर्थ है?

आप कृपापूर्वक विचार करें– यद्यपि आज मंदिरोंकी दुर्दशा है, तथापि मंदिरोंमें कुछ पवित्र आचरणोंके लोग मांस-मद्यसे परहेज रखनेवाले, शुद्धाचारी मनुष्य अपनी पवित्रता तथा संयम- नियमके पालनार्थ अलग बैठकर उपासना ही किया करते हैं। अधिकारके नामपर उनकी धार्मिक मान्यता और उपासनामें बाधा उपस्थित करना कहाँतक धर्म-संगत है? यदि ऐसी ही धाँधली होगी तो अन्त्यज भाई तो पवित्र और भक्त बनेंगे ही नहीं, उलटी पवित्रताके स्थानपर अपवित्रता आ जायगी और परस्पर वैमनस्य पैदा होकर आपके कथनानुसार– एकता तो होगी नहीं, कलहका रुकना भी कठिन हो जायगा।

फिर एक बात और है– आपके हृदयमें सत्य, अहिंसा और प्रेमकी बड़ी प्रतिष्ठा है, आपका कहना सबके लिये एक-सा लागू नहीं हो सकता। आज आपके अनुयायियोंमें कितने मनुष्य वस्तुतः आपके सत्य, अहिंसा और प्रेम-व्रतका पूर्ण अनुसरण कर सकते हैं। आपकी स्थिति आपके हृदयतक ही सीमित है। साधारण लोग तो आपका सर्वांगमें अनुकरण करने जाकर, उच्छृंखलताका पाठ ही पढ़ रहे हैं। विपक्षीको वैरी मानना, उसे गिरानेकी चेष्टा करना, बल प्रयोग करके उसे दबाना, आजकी वस्तु स्थिति है।

एक आदमी वस्तुतः देशभक्त है, उसने देशके लिये त्याग किया है, सबसे प्रेम करना चाहता है, यथासाध्य सहायता करता है। शरीरसे अन्त्यज भाइयोंकी उससे आवश्यकता पड़नेपर सेवाकी है और करनेको भी तैयार है, परन्तु अकारण ही जाकर उनके गले नहीं लिपटता, अशुद्ध स्थितिमें उनको छूकर नहाना अच्छा समझता है, हर किसीके साथ खान-पान करना स्वास्थ्य,

संयम, धर्मके लिये हानिकारक समझता है– तो आज उसकी दिल्लगी उड़ाई जाती है, वह जिनके वाक्योंका अनुगमन करता है, उन मनु, याज्ञवल्क्य, देवल आदि ऋषियोंको मूर्ख तथा स्वेच्छाचारी बतलाया जाता है। हर तरहसे उसको नीचा दिखाया जाता है। सिर्फ इसीलिये कि वह माताको रजस्वला अवस्थामें न छूकर उसकी आवश्यकतावश हर तरहकी सेवा करनेमें तैयार रहनेकी भाँति अन्त्यज भाइयोंसे भी परहेज रखता है। मैं क्या बतलाऊँ, जब एक देशका सच्चा हितैषी, सदाचारी, सत्यवादी मनुष्य इसी बातको लेकर अपमानित होता है तब उसको बड़ा क्लेश होता है।

क्या जन्म मरणके अशौचमें किसीको न छूना उसका अपमान है? क्या रजस्वला माताके हाथकी बनाई रसोई न खाना दोष है? क्या अपने ही अशुद्ध अंगका स्पर्श न करना द्वेष या घृणाका कारण होता है? आज अन्त्यज भाइयोंको जिस उच्छृंखलतासे हिन्दूओंको विरुद्ध अनुचित रूपमें भड़काया जाता है और उनके न चाहनेपर भी ऊँची जातियोंके हिन्दुओंसे बदला चुकानेके लिये उन्हें अपमानित करने तथा उनके साथ रोटी-बेटीका व्यवहार करनेकी बातपर जोर दिया जाता है, उसका कितना भयानक परिणाम होगा, परस्पर वैमनस्य होकर कितनी खून-खराबियाँ होगी इस बातको सोचते ही दुःख होता है। इसी भड़कानेका यह परिणाम था कि भाई अम्बेडकरके हाथमें (यद्यपि लोक दृष्टिसे है ही, वास्तवमें तो सब कुछ ईश्वरके हाथमें है) महात्मा गाँधीके प्राण आ गये थे, वे रक्खें तो रहें, नहीं तो नहीं।

कहना तो बहुत कुछ है, परन्तु पत्रकी लम्बाई देखकर डर रहा हूँ, इसलिये इसे यहीं समाप्त करता हूँ।

मैं आपका किसी अंशमें भक्त हूँ। अनुयायी न होनेपर भी परिवारका प्राणी हूँ। इसीसे इतना लिखनेका साहस किया है। मेरी प्रार्थना है आप बढ़ती हुई उच्छृंखलताको रोकें। मैंने दिग्दर्शनमात्र कराया है, वास्तवमें बहुत जादा दबाव डाला जा रहा है और व्यक्तिगत धर्म सम्बन्धी स्वतंत्रतापर आक्रमण हो रहा है। आशा है, इसका सन्तोष जनक उत्तर मुझे शीघ्र मिलेगा।

आपका बालक
हनुमानप्रसाद पोद्दार

पुनश्च– मेरे इस पत्रको यदि पढ़ेंगे तो वर्तमान स्थितिके अनुसार संभवतः बहुतसे मेरे प्रेमी भाई मुझपर नाराज होंगे, परन्तु मैं यह सत्य निवेदन करता हूँ कि किन्हीं भाईका जी दुखाना मेरा उद्देश्य नहीं है।

मुझे यह लिखनेमें अवश्य ही संकोच होता है तथापि धृष्टता करता हूँ कि जहाँतक मैं समझता हूँ, मैं कह सकता हूँ कि अन्त्यज भाइयोंके साथ मेरे हृदयमें प्रेम, शायद थोड़े ही भाइयोंके प्रेमसे कम हो। आत्माके नाते तो सब अपने स्वरूप हैं और परमात्माके नाते पूज्य हैं।

सिया राम मय सब जग जानी।
करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥

हनुमानप्रसाद

* * * *

महात्मा गाँधीसे निकटका सम्पर्क होनेपर भी उनकी सारी बातें मेरी समझमें नहीं आईं।

अन्तिम दिनोंके आसपास उनका मेरे पास पत्र आया। उन्होंने लिखा है कि मैं जानता हूँ कि बहुत-सी बातोंमें मुझसे तुम्हारा मतभेद है और मतभेद होनेपर भी तुम मुझसे प्रेम करते हो। इससे तुम्हारे प्रति मेरी श्रद्धा और बढ़ जाती है। लेकिन भाई, जिन-जिन बातोंमें हमलोग एक मत हैं, हमलोग क्यों न एक साथ काम करें। तुम गोरखपुरसे आ जाओ।

अब कहाँ मैं और कहाँ गाँधीजी! मतभेद तो होता है बराबर-वालोंमें। पर यह उनका शील-सौजन्य, उनका ऊँचापन था। वे बहुत ऊँचे थे।

भगवान्ने बचाया, मैं गया नहीं।

* * * *

महामना मदनमोहन मालवीयजीके साथ कुटुम्ब-सा सम्बन्ध

प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद महामना श्रीमालवीयजीसे मेरा परिचय सन् १९०६ के लगभगसे है। उस समय मैं कलकत्तेमें रहता था। वे जब-जब पधारते, तब-तब मैं उनके दर्शन करता। उस समय वे कभी स्वर्गीय पण्डित सुन्दरलालजीके मकान हरिसन रोडमें ठहरते। कभी बड़तल्लामें श्रीशीतलप्रसादजी खड्गप्रसादजीकी गद्दीमें। मुझपर आरम्भसे अन्ततक उनकी परम कृपा रही और वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी। उनके साथ एक कुटुम्बका-सा सम्बन्ध हो गया। वे मुझे अपना एक पुत्र समझने लगे और मैं उन्हें परम आदरणीय पितासे भी बढ़कर मानता। इस नाते मैं उन्हें पण्डितजी न कहकर सदा बाबूजी ही कहता। घरकी सारी बातें वे मुझसे कहते-करते। कुछ समय तो मैं उनके बहुत ही निकट सम्पर्कमें रहा, इसलिये मुझे उन्हें बहुत समीपसे देखने-समझनेका अवसर मिला।

उनकी बहुमुखी प्रतिभा थी और उनका कार्यक्षेत्र भी बड़ा विस्तृत था। वे परम धार्मिक होनेके साथ ही बहुत सुलझे हुए राजनीतिज्ञ थे। शिक्षा-विस्तार— प्राचीन सनातनधर्मकी रक्षा करते हुए जनतामें सत्-शिक्षाका प्रसार तो उनके जीवनका प्रधान कार्य था। वे सुधारक होनेपर भी प्राचीन वर्णाश्रम-पद्धतिके संरक्षक थे; उदार होते हुए भी भोजनकी शुद्धिमें बड़े कट्टर थे; अर्वाचीन संस्कृतिसे लाभ उठानेवाले होकर भी प्राचीन संस्कृतिके प्रतीक थे। आततायी-वधका स्पष्ट उपदेश करनेवाले कठोर हृदय होते हुए भी वे एक क्षुद्रतम जीवकी हिंसासे डरते थे। नरम दलके माने जानेपर भी गरमीके अवसरपर सबसे अधिक गरम थे; सबको प्रसन्न रखनेकी मधुर कलाके आकर होनेपर भी स्पष्टवादी थे; वाइसरायों, गवर्नरों तथा नरेशमण्डलसे समादृत तथा उनके प्रति प्रेम रखते हुए एवं उनसे मिलते रहनेवाले होनेपर भी उस समयके सरकार विरोधी गांधीजीसे खुला स्नेह करते और उनका समादर करते थे। यहाँतक कि क्रान्तिकारी युवक भी उनसे आशीर्वाद प्राप्त करते थे; स्त्री-शिक्षाके प्रसारक होनेपर भी वे स्त्रियोंकी प्राचीन मर्यादामें श्रद्धा रखनेवाले थे और वर्तमान युगके साहित्यका अध्ययन करनेवाले होकर भी प्राचीन महाभारत-भागवतादिका नित्य श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पारायण करते थे।

हिन्दू विश्वविद्यालय अपने ढंगकी एक ही शिक्षा-संस्था है, जो अपना जोड़ नहीं रखती और अनेक धर्म-प्रेमकी विजय-ध्वजा सदा फहराती रहेगी। विश्वविद्यालयमें विश्वनाथका मन्दिर उनके साहस, धर्मप्रेम तथा आस्तिकताका ज्वलन्त प्रमाण है। यहाँ उनके पवित्र जीवनके दो-चार संस्मरण संक्षेपमें लिखकर मैं अपनेको पवित्र करता हूँ—

(१)

बम्बईमें महामना मालवीयजी पधारे थे। श्रीरामेश्वरदासजी बिड़लाके सैंडहर्स्ट रोडके भवनमें ठहरे थे। रात्रिका समय था। बम्बईके एक प्रसिद्ध विद्वान् स्व.पं. रमापतिजी मिश्रसे उनकी बातचीत हो रही थी। श्रीमिश्रजीने कहा— मालवीयजी! आप मुझे सौ गाली देकर देख लीजिये, मुझे क्रोध नहीं आयेगा। इसपर हँसकर मालवीयजी बोले— महाराज! आपके क्रोधकी परीक्षा तो सौ गालियोंके पश्चात् होगी, परन्तु मेरा मुँह तो पहली ही गालीमें गन्दा हो जायगा। मालवीयजीके इस उत्तरको सुनकर मिश्रजी महाराज चकित दृष्टिसे उनकी ओर देखते हुए नतमस्तक हो गये।

(२)

श्रीबालूरामजी 'रामनामके आढ़तिया'के साथ हमलोग गांधीजीके पाससे मालवीयजीके यहाँ गये थे। मालवीयजी राजा गोविन्दलालजी पित्तीके मकानमें ठहरे हुए थे। जाकर हमलोगोंने उन्हें प्रणाम किया। मालवीयजीने पण्डितजीका परिचय पूछा। मैंने उनका पूरा परिचय दिया और उनको साथ लिवा लानेका हेतु बताया। मालवीयजीने बड़े ही प्यारसे पूरा विवरण सुना, बार-बार पूछा और पण्डितजीका बड़ी प्रशंसा की। पीछे उन्होंने अपने हस्ताक्षर कर दिये। वे बड़े चतुर थे। ठीक उन्हींके शब्द हैं— जबसे मैंन होश सँभाला है, तबसे प्रतिदिन नाम-जप करता हूँ और जबतक होश रहेगा, प्रतिदिन करता रहूँगा।

(३)

जब मैं बम्बईमें रहता था, अमृतसरमें कांग्रेसका अधिवेशन हुआ। लोकमान्य तिलक उसके अध्यक्ष थे। मैं अपने एक तरुण मित्रके साथ बम्बईसे अमृतसर पहुँचा। दिसम्बरका अन्त था। उस साल कुछ ही दिनों पहले

अमृतसरमें भयानक वर्षा हुई थी। पंजाबकी सर्दी प्रसिद्ध है और इस वर्षाके कारण वहाँ सर्दी बहुत ही बढ़ी हुई थी। हमलोगोंने बम्बईमें सर्दी देखी नहीं थी, इससे साधारण कपड़े ले गये थे। दोनोंके पास ओढ़ने- बिछानेके लिये एक-एक चद्दर और एक-एक हल्का-सा कम्बल था।

अमृतसरमें हमलोग महामना मालवीयजीके डेरेपर जाकर ठहरे। एक बड़ी धर्मशालामें वे ठहराये गये थे। शायद महात्मा गांधीजी भी उसीमें ठहरे थे। रातको हम दोनों चारपाइयोंपर सो गये। शरीर ठिठुर रहा था। छातीपर घुटने दिये पड़े थे। कम्बलसे मुँह ढँक रखा था, पर शरीर काँप रहा था। रातको नौ बजे होंगे। महामना मालवीयजी सबको सँभालते हुए हमलोगोंकी चारपाइयोंके पास आये। मुँह ढँके सिकुड़े सोये देखकर उन्होंने पूछा– कौन हो, कहाँसे आये हो? खाया कि नहीं? मैंने मुँहपरसे कपड़ा हटाया। तुरन्त उठकर खड़ा हो गया और चरणस्पर्श किया। मेरे साथीने उठकर चरणस्पर्श किया। हमलोग काँप रहे थे। उन्होंने मुझे पहचानकर पूछा– कपड़े कहाँ हैं? मैंने कहा– बिछा-ओढ़ रखे हैं न? वे बोले– बस, ये कपड़े हैं? तुम्हें पता नहीं था क्या, यहाँ कितने कड़ाकेका जाड़ा पड़ता है? अमृतसरको बम्बई समझ लिया? यह कहते-कहते ही उन्होंने अपने साथ आये हुए एक पंजाबी सज्जनसे कहा– जल्दी आठ कम्बल लाइये। फिर पूछा– खाया की नहीं? मैंने कहा– खा लिया। फिर बोले– देखो, तुमने बड़ी गलती की, जो मुझसे कहा नहीं। यह तो मैं आ गया, नहीं तो तुमलोगोंको रातको बड़ा कष्ट होता और पता नहीं, इसका नतीजा क्या होता। क्यों इतना संकोच किया? मैं क्या उत्तर देता। इतनेमें दो-तीन आदमी आठ मोटे कम्बल ले आये। दो-दो कम्बल हमारी चारपाइयोंपर बिछा दिये गये और दो-दो हमलोगोंके ओढ़नेके लिये रख दिये गये। गरम चाय मँगवाकर दोनोंको पिलाई। जबतक हमलोग चाय पीकर सो न गये, तबतक वे वहीं एक कुरसीपर बैठे रहे। हमलोग उनके जानेपर ही सोना चाहते थे, पर उन्होंने कहा– तुमलोग ओढ़कर सो नहीं जाओगे, तबतक मैं नहीं जाऊँगा। इसलिए हमें सोना पड़ा। उनकी यह ममता देखकर हमलोगोंका हृदय भर आया।

(४)

मालवीयजीके चार लड़के थे– रमाकान्त, राधाकान्त, मुकुन्द और गोविन्द। इनमेंसे मुकुन्दको मालवीयजीने मेरे पास बम्बई भेज दिया था– वे वहाँ

बहुत दिनोंतक रहे। पीछे दूसरे लड़के राधाकान्त भी वकालतको छोड़कर इलाहाबादसे बम्बई चले गये—सट्टेका व्यापार करने। राधाकान्तजीको एक ज्योतिषी मित्रने बताया—आपको सट्टेमें बहुत पैसा मिलेगा। मित्रकी सलाहपर विश्वास करके राधाकान्तजी सट्टेका व्यापार करने लगे। राधाकान्तजी बरबाद हो गये। इन्हीं दिनों मेरा काशी जाना हुआ। मैं मालवीयजीसे मिलने गया। वे राधाकान्तकी बरबादीके कारण बहुत दुःखी थे।

मेरे बम्बई पहुँचनेके बाद शीघ्र ही मालवीयजीका एक तार मिला, जिसमें लिखा था—तुम राधाकान्तको कहो, कि वह विश्वासपूर्वक आर्तभावसे 'गजेन्द्रमोक्षस्तोत्र'का पाठ करे, ऋण उतर जायगा। मैंने मालवीयजीका यह आदेश राधाकान्तको बतला दिया, किन्तु उन्होंने इसपर कोई ध्यान नहीं दिया। पीछे मालवीयजीका एक पत्र भी मिला। उसमें उन्होंने 'गजेन्द्रमोक्षस्तोत्र' पाठके महत्त्वविषयक अपने अनुभवोंकी चर्चा करते हुए लिखा था—मैं नाकतक ऋणमें डूब गया था। मैंने 'गजेन्द्रमोक्षस्तोत्र'का विश्वासपूर्वक आर्तभावसे पाठ किया और मेरा ऋण उतर गया।

अपने कष्टमें पड़े पुत्रको बिना पूर्ण विश्वासके कौन पिता ऐसा लिख सकता है?

(५)

एक बार मालवीयजीने बताया कि 'गजेन्द्रमोक्षका पाठ' और 'नारायण-नारायण' करते चलो तो सारे काम सफल हो जायेंगे। उन्होंने कहा कि एक बार दिल्लीमें कांग्रेसका विशेष अधिवेशन था। उस अधिवेशनमें आपसका झगड़ा हो गया और कांग्रेस टूटनेकी नौबत आ गई। दोपहरका भोजन करने उठे तो यह प्रतीत होता था कि अब वापस आकर बैठेंगे तो कांग्रेस टूट जायगी। वे बोले—मैं भोजन करने नहीं गया। एकान्तमें जाकर भावपूर्वक 'गजेन्द्रमोक्ष' का पाठ करने लगा। पूरा पाठ करके 'नारायण-नारायण' का नाम लेकर फिर बाहर आया। मेरी बुद्धिमें एक प्रस्ताव आया। मैंने वही प्रस्ताव रखा तो सबने मान लिया। कांग्रेस टूटनेसे बच गई। यद्यपि नामका प्रयोग इस प्रकारके कामोंमें नहीं करना चाहिये, पर विश्वासपूर्वक करनेसे काम होता है—इसमें सन्देह नहीं है।

(६)

वे एक बार गोरखपुर पधारे थे और मेरे पास ही दो-तीन दिन ठहरे थे। उनके पधारनेके दूसरे दिन प्रातःकाल मैं उनके चरणोंमें बैठा था। वे अकेले ही थे। बड़े स्नेहसे बोले– भैया! मैं तुम्हें आज एक दुर्लभ तथा बहुमूल्य वस्तु देना चाहता हूँ। मैंने इसको अपनी मातासे वरदानके रूपमें प्राप्त किया था। बड़ी अद्‌भुत वस्तु है। किसीको आजतक नहीं दी, तुम्हें दे रहा हूँ। देखनेमें चीज छोटी-सी दीखेगी, पर है महान् 'वरदान-रूप'। इस प्रकार प्रायः आध घंटेतक वे उस वस्तुकी महत्तापर बोलते गये। मेरी जिज्ञासा बढ़ती गयी। मैंने आतुरतासे कहा– बाबूजी! जल्दी दीजिए, कोई आ जायँगे।

तब वे बोले– लगभग चालीस वर्ष पहलेकी बात है। एक दिन मैं अपनी माताजीके पास गया और बड़ी विनयके साथ मैंने उनसे यह वरदान माँगा कि मुझे आप ऐसा वरदान दीजिये, जिससे मैं कहीं भी जाऊँ– सफलता प्राप्त करूँ।

माताजीने स्नेहसे मेरे सिरपर हाथ रखा और कहा– बच्चा! बड़ी दुर्लभ चीज दे रही हूँ। तुम जब कहीं भी जाओ तो जानेके समय 'नारायण-नारायण' उच्चारण कर लिया करो। तुम सदा सफल होओगे। मैंने श्रद्धापूर्वक सिर चढ़ाकर माताजीसे मन्त्र ले लिया। हनुमानप्रसाद! मुझे स्मरण है, तबसे अबतक मैं जब-जब चलते समय 'नारायण-नारायण' उच्चारण करना भूला हूँ, तब-तब असफल हुआ हूँ। नहीं तो, मेरे जीवनमें– चलते समय 'नारायण-नारायण' उच्चारण कर लेनेके प्रभावसे कभी असफलता नहीं मिली। आज यह महामन्त्र– मेरी माताकी दी हुई परम दुर्लभ वस्तु– तुम्हें दे रहा हूँ। तुम इससे लाभ उठाना। यों कहकर महामना गद्‌गद हो गये।

मैंने उनका वरदान सिर चढ़ाकर स्वीकार किया और इससे बड़ा लाभ उठाया। अब तो ऐसा हो गया है कि घरभरमें सभी इसे सीख गये हैं। जब कभी घरसे बाहर निकला जाता है, तभी बच्चे भी 'नारायण-नारायण' उच्चारण करने लगते हैं। इस प्रकार रोज ही– किसी दिन तो कई बार 'नारायण' की और साथ ही पूज्य मालवीयजीकी पवित्र स्मृति हो जाती है।

(७)

इसी यात्रामें वे आजमगढ़से मोटरमें आये थे। मैं राप्ती नदीके उसपार उन्हें लाने गया था। उनकी मोटरको नावसे पार उतरना था। मैं उसपार जाकर ठहर गया और श्रीमालवीयजीके आनेपर उनके चरण छूकर मैंने प्रणाम किया। उनके चेहरेपर उदासी छायी थी। सदा हँसमुख रहनेवाले महामनाके मुखपर गम्भीरता तथा उदासी देखकर मैंने कारण पूछा, तब आपने बताया कि मुझे इस बातसे बड़ा विषाद हो रहा है कि थोड़ी ही दूरपर इस मोटरसे दबकर एक गिलहरी मर गयी। मैं जबतक प्रायश्चित न कर लूँगा, मुझे शान्ति नहीं होगी। मैं क्या कहता। उन्होंने गोरखपुर पहुँचनेके बाद शिवके षडक्षर 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्रका जप करके प्रायश्चित किया और गिलहरीकी सद्गतिके लिये भगवान् महेश्वरसे प्रार्थना की। जीवदया और ब्राह्मणके सदय हृदयका कैसा उदाहरण है।

(८)

महामनाका अन्तिम लेख नोआखालीमें होनेवाले हिन्दुओंपर भयानक अत्याचारसे पीड़ित हृदयका आर्तनाद तथा सबके लिये महान् उपदेशप्रद एवं पथप्रदर्शक था। वह लेख 'कल्याण' के लिये ही लिखा गया था। मेरे सम्मान्य मित्र— महामनाके भक्त डॉ. श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र उसको लिखवाकर लाये थे। उसे पढ़ना चाहिये।

* * * *

अन्तरङ्ग परिचय

भाईजीने अपने एक भाषणमें कहा—

मेरा परिचय देते हुए भाई हजारीलालजी माहेश्वरीने, जिन्हें मैं भाई हजारीके नामसे पुकारता हूँ और जो मेरे प्रति चिरकालसे बड़ी श्रद्धा और स्नेह रखते हैं, मेरे जीवन और गुणोंके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें कहीं हैं। उन्होंने उस परिचयको केवल ऊपरी (बहिरङ्ग) परिचय बताया है। उनकी दृष्टि दूसरी है, पर मैं भी अपनी दृष्टिसे उसे बहिरङ्ग परिचय ही समझता हूँ।

मेरा अन्तरङ्ग परिचय क्या है, उसको मेरा हृदय जानता है या अन्तर्यामी भगवान् जानते हैं। मनुष्य ऊपरसे बहुत अच्छा बन सकता है, लोग उसे अपनी शुभ दृष्टिसे बहुत अच्छा मान सकते हैं; पर उसके जीवनमें कितना कालुष्य है, कितने अपराध हुए हैं, यह कोई नहीं जानता। मैं बनावटी बात नहीं, सर्वथा सत्य कहता हूँ कि मेरा जीवन अपराधों एवं दुर्बलताओंसे भरा है। जैसे कमजोरियोंसे भरे करोड़ो मनुष्य हैं, वैसा ही, उन्हीमेंसे मैं भी एक हूँ।

हाँ, मेरे जीवनमें एक अच्छी बात है, एक गुण है, वह है 'भगवत्कृपा और भगवत्कृपापर विश्वास'। सचमुच मुझपर बड़ी ही भगवत्कृपा है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई गुण नहीं।

परिवार

सावित्रीकी माँ (भाईजीकी धर्म पत्नि) बड़ी ही सात्विक स्वभावकी छल-कपट-शून्य, सरल हृदयकी सती साध्वी है। सावित्रीकी माँने मेरी जितनी सेवा की है, जिस परम निष्काम भावसे— उसकी तुलना कहीं नहीं है। उसमें कई ऐसे आदर्श गुण हैं, जो मुझमें नहीं हैं।

गोरखपुरमें सावित्रीका जन्म हुआ। मेरा बन्धन और भी दृढ़ हो गया। सावित्रीको बड़े ही प्यारसे पाला-पोसा गया तथा सुसंस्कृत बनानेका यथासाध्य प्रयास किया गया। फल भी हुआ। सावित्रीका शील-स्वभाव बहुत ही श्रेष्ठ है। उसमें ईश्वर-विश्वास है, त्याग है, संयम है, बुद्धि है, भजन तथा सेवामें अभिरुचि है। कर्त्तव्यपरायणता, श्रमशीलता है, उदारता है और अध्यात्मकी ओर झुकाव है। और भी बहुत-से गुण हैं, जो आजके युगमें बड़ी कठिनतासे प्राप्त होते हैं।

गोरखपुरमें निवासका वातावरण

गोरखपुरमें पहले मैं श्रीकान्तिबाबूके बगीचेमें, जो बादमें श्रीमोतीबाबू और मोतीबाबूसे गीताप्रेसने खरीद लिया था, रहा। तदनन्तर श्रीगोरखनाथ मन्दिरके पास बाबू बालमुकुन्दजीके एक छोटेसे स्थानमें। उसके बाद यह बगीचा (गीतावाटिका) गीताप्रेसके द्वारा खरीदा गया, तबसे मैं यहीं रहता हूँ।

शुरू-शुरूमें मेरे निवासका वातावरण बहुत ही शुद्ध तथा सात्त्विक था। हरि-चर्चा सत्संगकी बातें हुआ करती थीं। सबके शुद्ध, सरल आचरण थे। सादगी, गौरवमयी गरीबी, शरीरको आराम तथा भोग-सुख देनेवाली वस्तुओंको कभी याद भी न होने देनेवाला सात्त्विक अभाव, सर्वथा सीमित आवश्यकता, तन-मन-वचनका अधिक समय अधिकांशमें केवल भगवत्सेवार्थ ही प्रयोग होता था। पहले सत्तर रुपया मासिक हमारा खर्च था।

धीरे-धीरे आदमी बढ़े, उनके साथ उनकी स्वभावगत भोग-कामना आयी। बाहरके भी ऐसे लोगोंका आना-जाना बढ़ा। जहाँ भोग तथा आरामकी वस्तुओंका कुछ भी संग्रह नहीं था, वहाँ पहले-पहले मित्रोंकी इस सरल सम्मतिसे कि आरामके लिये कुछ न मँगाइये— पर सोनेके लिये एक-दो चारपाई, बिछानेके लिये एक-दो चटाई, सतरंजी, एक-दो कुर्सी, रसोईके लिये पाँच-सात थाली, कटोरी, बर्तन आदि रखनेमें क्या हर्ज है— मनमें संगदोषसे वासना जग उठी थी, ये सब चीजें आयीं, तथापि संयम था। पर ज्यों-ज्यों आराम-भोगकी सुलभता हुई, त्यों-त्यों आसक्ति बढ़ी, संग्रह बढ़ा और होते-होते आज तो घटाटोप हो गया है। कहाँ वह साधु जीवन और कहाँ आजका भोग-बाहुल्य, बढ़ी हुई भोग-कामनावाला भोगोंकी आवश्यकतासे जर्जरित असाधु जीवन!

घरमें खान-पानमें संयम था, शुद्धि थी, अब न संयम है, न शुद्धि। विदेशी यूरोपियन जहाँ नीचे बैठकर पत्तलमें सात्त्विक दाल-रोटी खाते, वहाँ आज घरमें टेबुल-चेयर, डबल-रोटी पता नहीं क्या-क्या आ गये। जीवनकी सादगी भारतीय पद्धतिके बदले पाश्चात्य पद्धति आ गयी। भोगप्रधान जीवनमें कोई नियमितता नहीं। बगीचेमें कोई सिगरेट-बीड़ी नहीं पीता था।

जहाँ बाहरसे आये हुए लोग कड़ाईसे सब विषयोंमें सदाचार-पालन

करते हैं, और यहीं सीखकर जाया करते थे, वहाँ यहाँ रहनेवालोंमें भी बिना संकोच अनाचार आ गया। मुझे इन चीजोंसे बड़ा दुःख हुआ और अब भी बहुत दुःख है। सबका सुधार करना अपनी शक्तिसे बाहरकी चीज समझकर मैंने एक आश्रम-जीवनकी योजना बनाई थी, पर दुर्भाग्यवश वह कार्यान्वित नहीं हो सकी। मुझे इस असफलतापर असंतोष है। मेरे पास रहनेवाले या आनेवालोंमें बहुत ही थोड़ेसे तो ऐसे निर्दोष हैं जिन बेचारोंका इधर ध्यान ही नहीं, बड़े भावसे अपना भजन करते हैं और विश्वास करते हैं कि हमारा कल्याण हो जायगा।

आजकलका जीवन

महात्मा गांधीके लड़के देवदास जब गोरखपुर-जेलसे छूटे तो बोले— मैं कमजोर हो गया हूँ, बीमारीके कारण, आप मुझे काशीतक पहुँचा दीजिये। मैं उन्हें पहुँचाने काशी गया तो हमलोग श्रीशिवप्रसादजी गुप्तके यहाँ ठहरे थे। वहाँ मैं एक बार शौच जाकर मिट्टीसे हाथ धो रहा था तो एक सज्जन, जो वहाँ आये हुए थे, बोले— आप कौन-सी शताब्दीके आदमी हैं? मैंने कहा— कैसे? वे बोले— इस शताब्दीमें आप मिट्टीसे हाथ धोते हैं। इतनेमें शिवप्रसादजी उधर आ गये तो उन्होंने उसे जोरसे डाँटा कि खबरदार! किससे कह रहे हो? फिर मुझे कहा— भाईजी! आप विचार मत कीजियेगा, ये सब मूर्ख लोग हैं। मैंने कहा— ये लोग अपनी बात कर रहे हैं, इसमें बुरा माननेकी क्या बात है?

* * * *

जूठन खाना आजके युगमें एक साधारण-सी बात हो गई है। अच्छे-अच्छे घरोंमें लोग बादाम या कोई चीज मुँहमें रखेंगे तो हाथकी अँगुलियोंसे लेकर जीभपर रखेंगे। मैंने एक डाक्टरसे पूछा कि आप संक्रमण मानते हैं या नहीं? थूकमें कीटाणु होते हैं कि नहीं? वे बोले— मानते हैं। जब आप नब्ज देखकर हाथ धोते हैं कि संक्रमण न हो जाय, तो क्या जूठा खानेसे संक्रमण नहीं होगा? पर किससे कहें, आजकल तो कुएँ भाँग पड़ी। अब तो उससे भी आगे बढ़ गये। मैं एक बार प्रथम श्रेणीमें यात्रा कर रहा था। मेरे पास एक सज्जन बैठे थे,

उन्होंने चाय मँगवाई। गाड़ी वहाँ बहुत देर रुकती थी तो चाय पीनेके बाद बावरची प्याले वापस ले गया तो मैं ऐसे ही उसके पीछे-पीछे चला गया। तीन-चार प्यालोंमें जो चाय बची हुई थी वह उसने फिर केतलीमें डाल दी। मैंने ऐसे ही पूछ लिया—यह क्या करते हो? वह बोला—आप अजनबी आदमी, आपको इससे क्या मतलब? देख लीजिये—एक प्याला चाय बन गई। अब एक प्याला चायके पैसे हमें मिल जायँगे। इसको फेंक देते तो हमें घाटा पड़ता कि नहीं? उनके बावरचीखानेमें जाकर देखिये तो इतनी भयानक गंदगी है कि कोई सीमा नहीं!

* * * *

हमारे एक रामनारायण मिश्र हैं। वे विदेशोंमें बहुत घूमकर आये। आनेके बाद उन्होंने एक लेख लिखा कि योरपमें पायरिया रोग बहुत अधिक है। वहाँपर करीब सत्रह प्रतिशत लोग दाँतोंके रोगी हैं। क्यों रोगी है? साहब जाकर कुल्ला करना जानते ही नहीं। दाँतोंमें अनाजके कण रह जाते हैं, वे सड़ जाते हैं तथा मवाद हो जाता है, पायरिया रोग हो जाता है। उनकी नकल हमलोग करने लगे। जस्टिस रानडे थे, उनकी पत्नी अमेरिका गयी। उसने वहाँ नीचे बैठकर खाना शुरू किया। दो-चार दिन तो वहाँके लोगोंने हँसी की, फिर वहाँकी महिलायें भी उनके साथ नीचे बैठकर खाने लगीं और बोलीं—यह तो बहुत अच्छा लगता है। पर अपने तो पहले ही उनकी नकल करके अपने-आपको बेच डालते हैं।

* * * *

एक सज्जन जूते पहने हुए भोजन कर रहे थे, तो मैंने कहा—भाई! जूते उतार दो। वह बोला—जूते मुँहमें हैं या पैरमें? जूते पैरमें हैं, हम खा रहे हैं मुँहसे तो इसमें हर्ज क्या है? अब उनको कौन जवाब दे? मनका निर्माण अन्नसे होता है। होटलोंमें जिन बर्तनोंमें मांस पकता है, उन्हींमें दाल-चावल निरामिषहारियोंके लिये बनता है। खानेके बर्तन, चम्मच एक ही हैं तो क्या वह निरामिष रहा?

* * * *

आजकल भोजनकी एक नयी प्रणाली चली है— बफे। कुछ वर्षों पहलेकी बात है, हमारे यहाँ एक कलक्टर थे। उनका तबादला हुआ तो उनको एक भोज दिया गया। वे बड़े अच्छे व्यक्ति थे, मेरे मित्र थे। भोज देनेवालोंमें मेरा नाम भी था। हमारे गोरखपुरमें टाउनहॉल छोटा ही है तो भोजका प्रबन्ध बाहर मैदानमें किया गया था। वर्षा हो गई तो मैदानसे सब लोग हॉलमें आ गये। मैं ऐसे भोजोंमें कभी सम्मिलित नहीं होता, पर उस दिन मैंने वहाँ पहली बार यह देखा। एक बड़े टेबुलपर खानेका सारा सामान रख दिया गया, कुर्सियाँ सब हटा दीं। खानेवाले लोग अपने हाथसे जी-चाहा सामान टेबुलपरसे उठायें और खायें। मैंने सोचा, इस प्रकार तो पशु खाया करते हैं। मैंने पूछा— भाई, ऐसे क्यों किया जाता है? वहाँ मेरे एक मित्र जाहिद मियाँ थे। वे बोले— भाईजी! आप तो पुराने जमानेकी बात करते हैं। देखिये, इसमें कितना लाभ— न कुर्सियाँ मँगानी पड़ीं, न परोसनेवालोंकी जरूरत और छोटे स्थानमें काम चल गया।

* * * *

श्रीहृदयनाथजी हमारे पुराने मित्र हैं। एक बार वे रेलवे कमीशनमें गोरखपुर आये थे। वे मुझसे मिलने आये तो मैंने कहा— भाई! आज हमारे यहाँ भोजनके लिये आओ। वे बोले— जरूर, दोपहरमें भोजनके लिये आयेंगे। मैंने उन्हें गीताप्रेसमें बुलाया। टेबुल-कुर्सीकी व्यवस्था तो हमने कर दी। हमारे आदमी उनकी थालीमें परोसने लगे। हृदयनाथजी तो बड़े शीलवान् सज्जन थे, वे तो कुछ नहीं बोले। उनके पास एक सज्जन बैठे थे, उन्होंने कहा— आपलोग आजकलकी प्रणालीसे सर्वथा अनभिज्ञ मालूम होते हैं। मैंने पूछा— कैसे? बोले— ये बार-बार आकर पूछते हैं— 'क्या चाहिये? यह दें, वह दें।' अरे, सीधी-सी बात है, चम्मच हमारे पास हैं, आप उन चीजोंका बर्तन हमारे पास ले आइये, जो चाहिये हम उसमेंसे स्वयं ले लेंगे। मैंने कहा— भाई, ठीक बात है। उसी प्रकारकी व्यवस्था कर दी। हृदयनाथजी हँसने लगे। बोले— भाईजी! क्या बात है? मैंने कहा— आप चुपचाप रहिये। पहले यह प्रणाली कुछ घरोंमें थी, कम-से-कम राजस्थान-निवासियोंके घरोंमें नहीं थी। अब यह भ्रष्टाचार हमारे घरोंमें ही अधिक आया लगता है। लोग रसोईमें भोजन नहीं करते। यह हँसीकी बात नहीं है। मैं सच्ची बात कहता हूँ— जो जाति अपनी प्रथाएँ, अपनी वेश-भूषा, अपनी भाषा, अपने पूर्वजोंको मानना छोड़ देती है, वह नष्ट हो जाती है। पाश्चात्य जगत्‌की अच्छी

बातोंको ग्रहण कीजिये, पर अपनी संस्कृतिकी रक्षा करते हुए।

आजकी युनिवर्सिटियाँ

यह गोरखपुरकी बात है। मैं नाम नहीं बताऊँगा। वहाँ युनिवर्सिटी बन रही थी। युनिवर्सिटीकी जो निर्माण-समिति थी, उसका मैं भी एक सदस्य था। सरकारके एक बहुत बड़े अधिकारी जो मेरे मित्र थे, वे वहाँ आये थे। मुझसे उनका बड़ा प्रेम था। मुझसे मिलने आये तो बात ही बातमें विनोदमें उन्होंने कहा कि भाईजी! यहाँ आपलोग पाँच-छः हजार गुण्डे निर्माण करनेका कारखाना क्यों बना रहे हैं? वे कई जगह वाइस चांसलर रह चुके थे। मैंने कहा— यह आप कैसे कहते है? उन्होंने कहा कि अपने पचास वर्षोंके अनुभवके आधारपर कह रहा हूँ। आजकी युनिवर्सिटियाँ मनुष्य-निर्माण नहीं कर रही हैं। मैंने कहा कि यह अतिशयोक्ति है। वे बोले कि अतिशयोक्ति जरूर है, लेकिन बहुत अंशोंमें सत्य है। मैंने कहा कि भाई, इसे मैं छाप दूँ? वे विनोदमें बोले कि मेरा खून करवाना हो तो छाप दीजिये। वे बड़े शिष्ट पुरुष हैं, बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं, बड़े विद्वान् हैं।

करके देखने योग्य 'एक अभ्यास'

एक अँग्रेज थे— रोबर्टसन। वे मेरे मित्र थे। एक बार वे गोरखपुर आये। मैं किसी कामसे उनके पास गया। वे बेचारे बड़े सीधे थे। उनकी जेबमें एक गणेशजीका फोटो था। उन्होंने फोटो निकालकर देखा, फिर रख लिया। थोड़ी देर बाद फिर निकालकर देखा, फिर रख लिया। मैंने पूछा— यह क्या बात है? आप बार-बार क्या देख रहे हैं? उन्होंने कहा— हमारे यहाँ एक चपरासी रहता था। उसने कहा— ये जो देवता हैं, हाथीकी सूँड़वाले, ये गणेश देवता हैं। इनको देखनेसे, याद करनेसे सब काम सिद्ध हो जाते हैं। हमारा एक काम अटका हुआ था। हमने इन गणेशजीका फोटो ले लिया और बार-बार इसको याद किया तो हमारा वह काम हो गया। तबसे हम इसको साथ रखते हैं। दिनमें पचासों, सैकड़ों बार इसको देखते हैं। जब-जब मनमें कोई दुविधा होती है तो इसको देख लिया। फिर दुविधा हुई, फिर देख लिया। इस तरह हमारी दुविधा हट जाती है।

यह एक अभ्यास है। आप भी करके देख सकते हैं।

श्रीमद्‌भागवत्‌के सम्बन्धमें मान्यता

गोरखपुर, माघ कृष्ण सं.७, सं. १९९३
(२ फरवरी १९३७)

सम्मान्य श्रीपाण्ड्याजी,

सादर अभिवादन! ... ... भागवतके सम्बन्धमें मेरा मत पूर्णांशमें आपसे मेल नहीं खाता। रहस्यमय वर्णन होनेपर भी मैं भागवतको बहुत ही ऊँचा आध्यात्मिक ग्रन्थ मानता हूँ और अनुभवके आधारपर मैं यह निवेदन कर सकता हूँ कि मुझे भागवतके अध्ययनसे बहुत लाभ पहुँचा है।

आप विश्वास कीजिये कि 'रास-पंचाध्यायी'के बार-बार अध्ययनने भी मेरे हृद्रोग (कामविकार)के नाशमें अद्‌भुत सहायता पहुँचायी है और मुझे 'रास-पंचाध्यायी'की फलश्रुति बतलानेवाली उक्तिके सत्य होनेमें विश्वास हो गया है। इतना होनेपर भी मैं इस 'रास-पंचाध्यायी'का प्रचार नहीं चाहता और न मैं उसे सबके पढ़नेकी चीज ही मानता हूँ। सर्वसाधारणकी दृष्टिसे आपका लिखना बहुत अंशोंमें ठीक ही है।

रही भगवान्‌की मूर्तियोंकी बात—सो भगवान्‌के महान् सुन्दर रूपमें सुकुमारता और शूरता दोनों ही लीलाएँ होती हैं। ... ... शृंगारपूर्ण मूर्तियोंका जो अत्यधिक प्रचार हो रहा है और उसमें जहाँतक युवक-युवतियोंकी मनोवृत्तिको गिरानेवाली बातें हैं, कम-से-कम उन सबका प्रचार तो रुकना ही चाहिये। परन्तु इसके बाद भी मेरी यह भी मान्यता है कि चित्रकार अवश्य ही वैसी मूर्तियाँ नहीं बना सकते। श्रीराम और श्रीकृष्णकी भूषणोंसे सुसज्जित मूर्तियोंमें भी रहस्य और सत्यता है, यह कोरी कल्पना नहीं है, परन्तु अपने निजी अनुभवके आधारपर मुझे इनकी सत्यतापर पूर्ण विश्वास है। उस अनुभूतियुक्त विश्वासको न तो किसीके सामने प्रकट करनेकी आवश्यकता है और न उसमें कोई लाभ ही है। वह तो निजी बात है, जो प्रसंगवश लिखी गयी।

आपका
हनुमानप्रसाद पोद्दार

* * * *

मन्त्रानुष्ठानके सम्बन्धमें अनुभव

स्वामी श्रीयोगानन्दजी अनुष्ठान-साधनाके एक मर्मज्ञ महात्मा हो गये हैं। बम्बईमें भेंट होनेपर उन्होंने इस विद्याके सहारे श्रीभाईजीकी कुछ सहायता करनेकी इच्छा प्रकट की थी; किंतु श्रीभाईजी सकाम साधनाके विरोधी थे, अतः सहमत न हुए। आगे चलकर उन्होंने अपने एक मित्रको आपदग्रस्त देखकर उनके कष्ट-निवारणार्थ स्वामीजीद्वारा निर्दिष्ट मन्त्रानुष्ठान किया। उसका विवरण श्रीभाईजीके ही शब्दोंमें पढ़िये–

''उत्तरप्रदेशमें अनूपशहरके आस-पास गङ्गातटपर निवास करनेवाले बंगाली महात्मा श्रीयोगानन्दजी सरस्वतीसे भी बम्बईके जीवनमें परिचय हुआ। यह परिचय पण्डित श्रीश्रीलालजी याज्ञिकके द्वारा हुआ। एक बार ये बम्बई भी पधारे थे। बड़े सिद्धि-प्राप्त महात्मा थे और मन्त्रानुष्ठानके मर्मज्ञ थे। मेरे साथ बहुत निकटका सम्बन्ध होनेसे ये जान गये थे कि उस समय मुझे कुछ अर्थकी आवश्यकता थी। उन्होंने मुझे भगवान् शंकरका एक मन्त्रानुष्ठान लिखकर भेजा और कहलाया– 'इस मन्त्रानुष्ठानके प्रयोगसे भगवान् शंकरका प्रत्यक्ष होगा और तुम्हारे अभाव पूर्ण हो जायेंगे।' मैंने उनसे कहलाया– 'मैं अपने लिये सकाम अनुष्ठान नहीं करता। हाँ, मेरा इन अनुष्ठानोंपर पूरा विश्वास है।' पर वे बराबर लिखते रहे और समझाते रहे। उनका मेरे प्रति क्या आपत्ति है?' मैं उनकी बात स्वीकार नहीं कर सका। किंतु भगवान्‌की माया बड़ी विचित्र है। मेरे एक मित्रकी आर्थिक स्थिति कुछ समय बाद बहुत कमजोर हो गयी। मित्रका वह आर्थिक संकट बड़ा भयानक था। उनके प्रति मेरे मनमें बड़ा प्यार था। वे बराबर अपनी परेशानियाँ मुझे बताते थे। मेरे मनमें आया कि स्वामी श्रीयोगानन्दजीका बताया हुआ शिवजीका अनुष्ठान अपने लिये तो नहीं करना है, पर मित्रके लिये कर दिया जाय। उस समय मैं गोरखपुरमें था। इसी गीतावाटिकामें रहता था। मैं ऊपरके पूर्ववाले कमरेमें रहता था। मैंने उसी कमरेमें अनुष्ठान आरम्भ किया। बड़ी विधि एवं श्रद्धाके साथ २१ दिनोंतक वह अनुष्ठान चलता रहा। २१ वें दिन बड़े भयानक रूपमें भगवान् शंकरका प्राकट्य हुआ। उनका वह भयानक रूप देखकर मैं काँपने लगा। उन्होंने कहा– 'तुम्हारा मन्त्रानुष्ठान सफल हो गया, परंतु तुमने उसका प्रयोग कर बहुत अनुचित किया। भविष्यमें इस मन्त्रका अनुष्ठान करोगे तो तुम्हारा सर्वनाश हो

जायगा। तुम फिर कभी इसका अनुष्ठान नहीं करना। और सम्भव है, तुम इस मन्त्रको भूल जाओगे। जिसके लिये यह अनुष्ठान किया है, उसे कह देना कि फिर किसी बहुत बड़े व्यापारको न करे, परिणाम अच्छा नहीं होगा।' इतना आदेश देकर भगवान् शंकर अन्तर्धान हो गये। उस समय '................ सट्टा किया करते थे। चीनमें बड़े पैमानेपर सट्टा होता था। मुझे ठीक स्मरण नहीं है कि उन्होंने चाँदी बेचनेको लिखा था या लेनेको; पर वे जो लिखना चाहते थे, भाग्यसे उससे उल्टा लिख गया। अर्थात लेनेकी जगह बेचना और बेचनेकी जगह लेना लिखा गया और उसीके अनुसार वहाँ सौदा हो गया। सौदा होनेके पश्चात् जब वहाँसे तार आया, तब उनके मनमें बड़ी घबराहट हुई। उन्होंने समझ लिया कि हम जो चाहते थे, उससे उल्टा हो गया है। अतएव उन्होंने जैसे सौदा हुआ था, उससे उल्टा सौदा करनेके लिये तार दिया। पर भगवान्की माया विचित्र, वह तार भी उल्टे सौदेका लिखा गया और वह भी जितना वे सौदा करना चाहते थे, उससे दूना हो गया। भगवान्को रुपये देने थे, उनकी इच्छाके विपरीत दुगुना उल्टा काम होनेपर भी उस काममें उन्हें ३० लाख रुपये एक महीनेमें मिले। वह मन्त्रानुष्ठान कुछ दिनों बाद मुझे विस्मृत हो गया। उस अनुष्ठानकी क्रिया तो मुझे स्मरण रही, पर मन्त्र मैं सर्वथा भूल गया। इस मन्त्रानुष्ठानके प्रयोगसे मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा कि इस युगमें भी देवता सिद्ध होते हैं, उनके दर्शन होते हैं तथा उनकी आराधनासे नवीन प्रारब्धका निर्माण होकर कार्य सिद्ध हो जाता है।''

अपनी साधनाके अनुभवोंको छिपाये रखें

साधक अपनी साधनाका कहीं विज्ञापन न करे। कई बार साधनाके अनुभवको साधक लोगोंसे कहने लगता है तो साधना रुक जाती है। मेरे जीवनमें ऐसा एक बार हुआ था। लगभग पच्चीस वर्ष पहलेकी बात है, मुझे कोई अनुभव हुआ और वह अनुभव मैंने किसीको कह दिया। बस, वह बन्द हो गया। आठ महीनेतक लगातार प्रयत्न करनेपर फिर वह चीज सामने आयी। आठ महीनेतक नहीं आयी। इसलिये अपनी साधनाके अनुभवको छिपाये रखें।

* * * *

निवृत्तिपरक प्रकृति : एकान्तवासकी लालसा

निवृत्तिपरक प्रकृति होनेसे भाईजी एकान्तवासके लिए सदा लालायित रहते थे –

सन् १९२७ में व्यापारके सारे काम-काजसे सम्बन्ध तोड़कर जब मैं बम्बईसे चला तब यही निश्चय किया था कि एक बार गोरखपुर जाकर फिर सदाके लिये कहीं पवित्र गंगातटपर एकान्त निवास करके जीवनके शेष दिन केवल भजनमें ही बिताने हैं।

* * * *

इस सन्दर्भमें श्रीसेठजीको लिखा निम्नलिखित पत्र पठनीय है–

गोरखपुर
द्वितीय वैशाख शुक्ल १४, सं. १९९१
(२८ अप्रैल १९३४)

परमपूज्यवर,

श्रीचरणोंमें सादर प्रणाम। मेरी प्रार्थनापर ध्यान देकर उसका भी निर्णय जल्दी हो जाय तो अच्छा है। आपकी आज्ञा मिल जाय तो मैं श्रावणके बाद कहीं चला जाना चाहता हूँ। अभी कोई भी निश्चय नहीं कर सकता हूँ। ... ...

वस्तुतः मैंने जो प्रार्थनाएँ की हैं, उन सबकी स्वीकृति देनेके लिये करबद्ध प्रार्थना करता हूँ। पत्र न पहुँचा हो या याद न हो, इसलिये पुनः लिख देता हूँ –

(१) गोरखपुरसे बाहर कहीं रहना।
(२) 'कल्याण'के संपादनमें अपना नाम न रखना।
(३) व्याख्यान न देना।
(४) कमेटीका संचालन न करना।
(५) प्रबन्ध-संबंधी किसी काममें राय न देना।

आपका ही
हनुमान

* * * *

गोरखपुर
भाद्र शुक्ल ३, सं. १९९२
(१ सितम्बर १९३५)

सम्मान्य श्रीगोस्वामीजी,

सादर हरिस्मरण। आपके बिना यहाँ सब सूना-सूना-सा लग रहा है। सत्संगमें भी कोई रस नहीं रह गया है। कीर्तन तो बन्द-सा ही समझिए। सब उदास हैं।

एक बात मैं यहाँ आपसे कहनेवाला था, कह नहीं सका, समयका भी सुयोग नहीं हुआ और कुछ संकोच भी रहा। बात यह है कि मेरा गोरखपुर रहनेका भीतरी मन प्रायः नहीं है। परिस्थितिके कारण रह रहा हूँ, पर पता भी नहीं है कि कहीं अन्यत्र जा सकूँगा या नहीं, पर इस समय मनकी स्थिति यह है कि मौका मिलते ही अन्यत्र चला जाऊँगा।

गीताप्रेसमें आपकी बहुत आवश्यकता तो है और सभी लोग इस बातका हृदयसे अनुभव करते हैं, परन्तु यदि केवल मेरे पास रहनेकी इच्छासे आप गीताप्रेसमें काम करते हों तो उसमें शायद आगे चलकर अड़चन आ सकती है। दूसरी बात यह है और सत्य है कि आपके सभी घरवालोंके चित्तमें अन्यत्र रहनेसे क्लेश रहता है और आर्थिक हानि तो प्रत्यक्ष ही है। ऐसी हालतमें मेरी राय यह है कि इस बार यदि वहाँ कोई अध्यापकी आदि अच्छी जगहका सुयोग हो और घरवाले चेष्टा या आग्रह करें तो उस समय आपको वह आग्रह स्वीकार कर लेना चाहिए। मुझमें आपका प्रेम है। वह तो बढ़ता ही रहेगा। सालमें एकाध बार जीवन रहा तो मिलन होना भी असंभव नहीं है। एक जगह न रहकर दो जगह रहनेकी सम्भावना है ही। ऐसी हालतमें बीकानेर ही क्यों न रहा जाय। मुझे इसीमें सुभीता मालूम होता है। इन सब बातोंपर विचार कर लेनेके बाद भी यदि आप गीताप्रेसके लिये गोरखपुर रहना पसन्द करें तो दूसरी बात है। गीताप्रेसको तो इसमें बहुत लाभ है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। यह समाचार किसीसे कहनेकी जरूरत नहीं है, आप मनमें ध्यान रखें।

आपका
हनुमानप्रसाद पोद्दार

* * * *

गोरखपुर
श्रावण शुक्ल ३, सं. १९९४
(९ अगस्त १९३७)

प्रिय भाई जयदयाल (डालमिया),

सप्रेम हरिस्मरण। तुम्हारे सब पत्र मिल गये। तार रातको मिला, उसका जवाब सबेरे दिया गया है। तुम्हारे पास रहनेमें मुझे सदा ही बड़ा आनन्द है। तुम सरीखे छोटे भाई बड़े भाग्यसे मिलते हैं। रामकृष्णका तो सौभाग्य है ही, परन्तु मैं तो उससे भी अधिक भाग्यवान् हूँ। तुम्हारा तार पाकर भी मैं तुम्हारे पास नहीं आता, इसमें तुम कुछ और न समझना। मैं तो मनसे सदा ही तुम्हारे पास हूँ। कभी-कभी तो ऐसा अनुभव करता हूँ पता नहीं, तुम्हें ऐसा अनुभव होता है या नहीं? स्थानके संकोचसे भी करांची न आनेकी बात नहीं है। स्थानका संकोच क्यों होता? अभी रतनगढ़ ही जानेमें एक तो प्रधान बात है, इस तरहकी बात सब लोगोंसे कही गयी, लिखी गयी, कल्याणके 'संत-अंक'में छप भी गयी। कुछ और भी कारण हैं। इसलिये अभी तो रतनगढ़ ही जानेकी बात है। सम्भवतः अगले शनिवारतक जाना हो। यद्यपि रतनगढ़ जानेमें गोरखपुरसे जानेका मेरा उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। मैं तो बिलकुल एकान्तमें चार-छह महीना सर्वथा अकेला रहना चाहता था, परन्तु पूज्य माँजी वगैरह भी मुझे अकेला नहीं छोड़ना चाहतीं। और मेरे काम-काजके साथी लोगोंको भी साथ रखना आवश्यक-सा हो गया। पहली बात तो यह है कि पास रहनेसे सारा काम मेरी देख-रेखमें होता है, दूसरे, उन सबको यहाँ छोड़ जाऊँ तो कुछका तो मन लगना कठिन मालूम होता है और कुछ लोगोंके पास मेरी अनुपस्थितिमें कोई काम ही नहीं रहता। ऐसी अवस्थामें उनको साथ रखना ही जरूरी हो गया। मुझे काम-काजसे और यहाँ रहनेसे कोई अड़चन नहीं है। न प्रतिकूल मालूम होता है और न कोई विषाद या द्वेष ही होता है। जबतक जो काम करता हूँ बहुत लगनसे— जिम्मेवार आदमीकी तरह ही करता हूँ और लीलामयका संकेत समझकर ऐसा करनेमें प्रसन्नता ही होती है। इतना होनेपर भी जो कामसे भागनेका मन करता है, इसमें प्रधान कारण 'निवृत्ति-परक प्रकृति' ही मालूम होती है। यह बात नयी नहीं है। जबसे होश सँभाला तभीसे नाना प्रकारके व्यावहारिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक क्षेत्रोंमें रहते हुए

भी इस 'निवृत्तिपरक प्रकृति'की धारा निरन्तर समान रूपसे चित्तमें बहती देखी गयी है। परन्तु आश्चर्य यह है कि शिमलापालके पौने दो वर्षको छोड़कर शेष सारा जीवन रहा है–प्रवृत्तिमय ही। उन पौने दो सालमें भी प्रवृत्तिका अभाव नहीं रहा है तथापि चित्त तो निवृत्तिकी ओर ही ताकता रहा। संभव है, पूर्वजन्ममें मैं कोई त्यागी संन्यासी रहा होऊँ। मैं बहुत दिनोंसे लक्ष्य करता हूँ, मुझे गेरुआ-वस्त्र, कौपीन और कमण्डलु आदि, अपने कपड़े और पात्रसे लगते हैं। नदीतीरस्थ संन्यासियोंकी छोटी-छोटी उनकी कुटियाएँ घर-सा मालूम होती है। संग्रहकी अपेक्षा त्यागमें सुख मिलता है, बल्कि संग्रहका तो ध्यान ही नहीं रहता। घरकी चीज जो कोई ले जाता है या किसीको दे दी जाती है तो अच्छा लगता है। अकेलेमें बिना किसीसे बोले-चाले पड़े रहनेमें अनुकूलता मालूम होती है। भीड़-भाड़से चित्त भागता है। कोई पास न आये, कोई न मिले, किसीसे बोलना न पड़े, कोई नयी बात जाननेमें न आये, ऐसी इच्छा-सी रहती है। इसी प्रकृतिके कारण सालमें दो-चार बार बड़े जोरोंसे काम-काज छोड़कर चुपचाप अलग रहनेकी प्रबल भावना होती है, फिर दब जाती है। दुःख किसी हालतमें नहीं मालूम होता। इस बार इसी भावनासे अलग जानेका मन हुआ था। स्वास्थ्यादिकी बात तो गौण है। परन्तु यह भावना सफल नहीं होती दिखायी देती। अवश्य संन्यास-ग्रहण करनेकी इच्छा बिल्कुल नहीं है, परन्तु संन्यासीकी तरह रहनेका मन जरूर होता है। घरवालोंको साथ रखकर ही। पता नहीं उनमें मोह है या इसमें भी कोई पूर्वजन्मका रहस्य है। हाँ, इनको साथ रखकर भी इनसे अलगकी तरह ही रहनेकी इच्छा रहती है। यह चित्तकी स्थिति है। परन्तु इसी निश्चयपर बुद्धि स्थित रहती है कि भगवान्‌को जो कुछ कराना होगा, वे करायेंगे। कराना है, सो कराते हैं। यह जो बार-बार ऐसी भावना होती है, यह भी उनके कराये होती है और भावनाके अनुसार कार्य नहीं होता, यह भी उन्हींके कराये नहीं होता। अशुभ वासना होती तब तो दूसरी बात थी, ऐसा मानना तब तो कठिन होता। परन्तु उनकी दयासे– उन्हींके कराये अशुभ वासना नहीं रही है, इससे अशुभ भावना नहीं होती। अब इस देहमें जितने दिन उन्हें जैसे अच्छा लगे, वे नचायें। मैं क्यों एतराज करूँ? इस 'मैं' को भी वे हर लें तो अच्छा है। बस, वे ही इसके प्रेरक और अधिष्ठाता तथा स्वामी हो जायँ। वे ही इसके स्वरूप हो जायँ। जड़ कठपुतलीकी भाँति

अहंकारशून्य ('मैं' से रहित) मैं उनके नचाये नाचा करूँ। वे चाहेंगे तो यह भी होगा। और वे तो चाहते ही हैं, यह 'मैं' ही करना नहीं चाहता, इसीसे विलम्ब हो रहा है। पता नहीं, इस शरीरका कितनी जल्दी नाश हो जाय और नाश तो होगा ही, दो दिन आगे या पीछे, जल्दी ही यह 'मैं' मर जाय तो अच्छा है।

तुम्हारा भाई
हनुमान

रतनगढ़में एकान्तवास

रतनगढ़ (बीकानेर)
श्रावण शुक्ल १२, १९९४
(१८ अगस्त १९३७)

सम्मान्य महाराजा साहब,

सादर हरिस्मरण। आपका १२-८-१९३७ का कृपापत्र मिला। आपने गोरखपुरमें ही मुझसे बहुत कहा था और इस पत्रमें भी आग्रहपूर्वक अनुरोध किया है तथा मेरे इच्छानुसार सब प्रबन्ध करनेका आश्वासन भी दिया है, इतनेपर भी मैं आपके कृपायुक्त अनुरोधकी रक्षा न कर सकूँ तो यह मेरा अपराध ही होगा। परन्तु स्थिति कुछ ऐसी ही है कि कहीं भी जानेकी ऐसे कार्यके लिए न तो इच्छा है और न सहजमें संभावना ही मालूम होती है। मैं यह खूब जानता हूँ कि पूज्यपाद श्रीगोयन्दकाजीके साथ आपकी सेवामें जानेसे मुझे दोहरा लाभ है, उनका दिन-रातका अपूर्व संग और आप सरीखे संत-स्वभाव महानुभावका सत्समागम। पर जब इतना जाननेपर भी इस लाभसे वंचित रहनेकी ही स्थितिमें हूँ, तब दो ही बातें समझमें आती हैं– या तो इससे भी कोई बड़े लाभकी संभावना है या मेरा दुर्भाग्य है। प्रत्यक्ष बात तो दूसरी ही है।

मेरे मिलनेसे आपको कुछ लाभ होगा, इस विचारमें आपका विश्वास ही प्रधान हेतु मालूम होता है। मुझमें यदि कोई अच्छापन है तो वह पूज्य श्रीगोयन्दकाजीकी अयाचित कृपाका फल है और बुरी बातें तो सब मेरी है ही। जब श्रीगोयन्दकाजी आपके पास पहुँच जाते हैं, तब फिर मेरी

आवश्यकता आपको क्यों प्रतीत होती है? यदि आप श्रीगोयन्दकाजीमें श्रद्धा बढ़ानेके हेतुसे मुझसे मिलना चाहते हैं तो यह आपकी कृपा है और बड़ी ही सद्भावना है। आपकी इस सद्भावनासे मैं पूज्य श्रीगोयन्दकाजीको भलीभाँति समझकर उनके प्रति इतना श्रद्धावान् बन जाऊँ कि फिर मुझसे मिलते ही उनपर किन्हींकी श्रद्धा बढ़ जाय तो यह मेरा परम सौभाग्य होगा। मैं आप महानुभवोंसे आशीर्वाद चाहता हूँ कि जिसके बलसे मेरी श्रद्धा सन्तों और महापुरुषोंमें हो और मैं उनका चरण-सेवक बन सकूँ। आपके सौजन्य, सद्भाव, श्रद्धा, सदाचार, संयम और सद्वासनाको देखकर बड़ा आनन्द होता है, भक्ति भी होती है, साथ ही कभी-कभी ईर्ष्या भी होती है।

मुझपर आपका जो प्रेमभाव है, उसके लिये तो मैं आपका ऋणी हूँ, परन्तु ऋण चुकानेकी हालतमें नहीं हूँ। कभी होऊँगा, यह भी संभावना नहीं है। क्योंकि सच्चे प्रेमका ऋण सदा बढ़ा ही करता है।

भगवत्कृपासे सब आनन्द है।

आपका अपराधी
हनुमान

दादरीमें एकान्त साधना

वि.सं. १९९६ (सन् १९३९) में पूज्य भाईजीकी एकान्त-साधनाकी लालसा पुनः तीव्र हो गई। ऐसा निश्चय कर लिया था कि 'कल्याण'का विशेषांक 'गीता-तत्त्वांक' निकलते ही कहीं एकान्त-साधनाके लिये जाना है। उन दिनों कार्यालयमें जाकर बैठ जानेपर भी मन साथ न रहनेसे कोई सम्पादनका कार्य कर नहीं पाते थे। अन्ततोगत्वा भाद्र शुक्ल १२ सं. १९९६ (२५ सितम्बर १९३९) को दादरी (हरियाणा) के लिये प्रस्थान किया। वहाँ केवल तीन घंटे स्वल्प वार्तालाप या आवश्यक होनेपर लिखकर बात करते। साथमें केवल स्वामीजी श्रीचक्रधरजी महाराज (बाबा) एवं श्रीगम्भीरचन्दजी दुजारी थे। वहाँकी जीवनचर्याका विवरण लिखित वार्तालाप या पत्रोंसे प्राप्त होता है। आश्विन कृष्ण १ सं. १९९६ (२९ सितम्बर १९३९) को निम्नलिखित बातें पूज्य भाईजीने स्वामीजी श्रीचक्रधरजी महाराज एवं श्रीगम्भीरचन्दजी दुजारीको लिखकर कहीं, जिनके अंश नीचे प्रस्तुत है—

आज सबेरे साढ़े सात बजेसे दस बजेतक बहुत आनन्द रहा। यह सोचा है कि सुबह और दोपहर मिलाकर छः घंटे लगभग अकेला रहूँ। सबेरे ७.३० से साढ़े दस, दोपहरमें ढ़ाई से साढ़े पाँच कमरा बन्द रखना है। उस समय किसीको नहीं आना चाहिये। ऐसा सोचा है कि संख्याके हिसाबसे कम-से-कम एक लाख नाम-जप प्रतिदिन हो। कलसे हो रहा है। इससे अधिकको संख्या नहीं रखनी। दिनमें ऐसा रखा है कि भोजनके बाद पौन घंटा बोल सकते हैं—आवश्यक बात हो तो, नहीं तो नहीं। 'मधुर'जीसे कहना है कि रातमें एक घंटा प्रतिदिन व्याख्यानके लिये नहीं है, बोलनेके लिये है। किसीसे भी बातचीत की जा सकती है। कभी-कभी कीर्तनके दिन सत्संग भी हो सकता है, नियमित बिलकुल नहीं। भोजनके बाद वहीं दूबपर बैठेंगे, वहीं एक घंटा किसीसे भी बात कर सकते हैं।

* * * *

इसके बाद पूज्य भाईजी कभी-कभी जो लिखकर देते थे, उनके अंश नीचे दिये जा रहे हैं—

अपने मनकी कुछ नहीं होती। जो भगवान्‌ने रच रखा है, वही होता है, वही होगा। मनमें बहुत कल्पनायें आती हैं, वे भी भगवान्‌की ओरसे ही आती हैं और उनमें जो असफल या सफल होंगी, वे भी भगवान्‌की इच्छानुसार ही होंगी। ऐसी भी कल्पना आती है कि मनकी कल्पनायें सर्वथा बन्द हो जायँ।

* * * *

जो कुछ होगा वह ठीक ही होगा। शरीर नाश होनेवाला है ही, इसके लिये जो होगा, हो जायगा। रहा भगवान्‌के संस्पर्शका अनुभव सो यह भगवान्‌की कृपापर निर्भर है। आजकल बड़ा नियमित जीवन हो रहा है।

* * * *

प्रतिक्षण मृत्यु देखकर सावधान रहना चाहिये। शरीर प्रतिक्षण मर रहा है, यह मृत्यु ही है। इसलिये नाम-जप जबतक होश रहे क्षणभर भी न छोड़े। यदि ऐसा होगा तो बेहोशीमें भगवान् सँभालेंगे।

सर्वलोकमहेश्वर भगवान् अपने श्रीमुखसे अपनेको भूतमात्रका सुहृद् घोषित करते हैं। हम भूत हैं ही। ऐसी अवस्थामें हमें उनसे क्या माँगना, क्या चाहना? हमें विश्वास न होनेसे प्रतिकूलताका अनुभव करके दुःखी होते हैं। विश्वास होनेपर सर्वत्र, सर्वथा, सर्वदा अनुकूलताके दर्शन होते हैं। जहाँ नित्य अनुकूलता है, वहीं नित्य आनन्द है। भगवान्के सुहृद्पनेपर विश्वास होनेपर जगत्के सुखोंकी चाह रहती नहीं और दुःखोंकी परवाह मिट जाती है।

* * * *

बीचमें उठनेसे कई दिनोंका किया हुआ कार्य कुछ खराब हो जाता है। न बैठा जाय तो दूसरी बात है। इसलिये बहुत ही serious स्थिति न हो तो नहीं उठना है। केवल जप होता तो दूसरी बात थी। न मालूम किस समय क्या हो और बीचमें उठा दिया जाय तो बड़ा हर्ज हो सकता है—यह सत्य है। कई बार कुछ भी नहीं होता। परन्तु कई बार बहुत ही serious stage में रहता हूँ। किसी दिन फालतू ही बैठना पड़ता है। परन्तु न मालूम किस समय क्या हो—कुछ भी निश्चित नहीं। एक साधना है—घण्टों कुछ नहीं होता—होता है तो बहुत दुर्लभ होता है।

(ये कागज फाड़ डालिये, यह बात प्रचारकी नहीं है।)

* * * *

यदि भगवान् हमारी चिन्ता करें तो यह सिद्ध होता है कि हमारी चिन्ताका कोई कारण तो है। जब भगवान् हमारे हैं तो चिन्ताका कारण ही कहाँ? भविष्यकी चिन्ता न करके वर्तमानमें जैसी कुछ भगवान्की प्रेरणा मनमें मालूम हो, वैसी चेष्टा करनी चाहिये—बस, चेष्टामात्र। भविष्यमें जो कुछ रचा हुआ है, हो ही जायगा। मेरा कोई लक्ष्य नहीं है, पता नहीं मन कल क्या चाहेगा। भगवान्ने जो रच रखा है, वही लक्ष्य है।

* * * *

शरीरके संयोगको महत्त्व न देकर आत्माके संयोगको महत्त्व देना चाहिये। अतएव यदि भौतिक शरीरसे प्रेमियोंको परस्पर अलग रहना पड़े

और आत्माका संयोग सच्चा हो तो अलग रहनेपर भी रोज मिलन हो सकता है।

* * * *

सबसे उत्तम है कोई भी संकल्प न हो, हो तो यही कि भगवान्‌का संकल्प पूरा हो। यह न हो सके तो पारमार्थिक शुभ संकल्प हो।

* * * *

चिन्ता तो बस एक भगवच्चिंतनकी ही करनी चाहिये। मन ठीक न हो तो भी कोई बात नहीं। भगवान्‌की कृपासे मनके ठीक हुए बिना भी जो कुछ होना है हो जायगा। मन ठीक करनेकी जरूरत होगी तो कृपा उसे भी अनायास ही ठीक कर लेगी। आप यह विश्वास कीजिये कि हमलोगोंपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है।

* * * *

यहाँ तो सर्वथा एकान्त कमरा नहीं है, इससे (कोई नये आदमीके आनेका) कम पता लगता है। यदि बिलकुल एकान्त हो–दूसरा प्रवेश करे ही नहीं, तब तो बहुत जल्दी पता लग जाता है। साधनाके लिये उसीकी जरूरत है, नहीं तो स्थान-व्यभिचार होनेसे वातावरण साधनके अनुकूल नहीं रहता। वस्त्र और आसन-शुद्धि भी यहाँ ठीक नहीं है।

जो होगा देखा जायगा। भगवान्‌की रुचिके अनुसार जो होगा, वही ठीक है। आप दोनोंकी इतनी प्रतिकूलता तो नहीं है। यद्यपि इससे भी वातावरणमें कुछ गड़बड़ी तो प्रत्यक्ष ही होती है। वस्त्र, आसन आदि और भी कई बातें हैं–पता नहीं वैसा कभी होगा या नहीं। ··· कोई परिचित पास न हो–अपने हाथसे सारा काम किया जाय। संक्षेपमें वायुमण्डल बिल्कुल एकान्त हो। एकान्त स्थान ही नहीं, एकान्त सब कुछ हो। अभी तो आशा नहीं है।

* * * *

डालमिया दादरी
आश्विन कृष्ण ९, १९९६
(७ अक्टूबर १९३९)

प्रिय श्रीगोस्वामीजी,

सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। यहाँकी सब व्यवस्था दूलीचन्दके एक पत्रमें लिख चुका हूँ। स्वास्थ्य कुछ अच्छा मालूम होता है। उस दर्दके अतिरिक्त और कोई शिकायत यहाँ नहीं मालूम होती। भोजनादिकी व्यवस्था बहुत ठीक है। वे लोग, जहाँतक उनसे बनता है, मेरी पूरी सँभाल रखते हैं। दूध गोरखपुरकी अपेक्षा यहाँ कुछ बढ़ा दिया है। प्रातःकाल भोजनके समय मट्ठा भी लेता हूँ। दिल्लीसे फल मँगवाये जाते हैं, जिनमें मैं अंगूर और मौसुमीका रस लेता हूँ। अभी भाई जयदेवके बगलवाले बँगलेमें ही हूँ। ... ... मैं प्रायः एकान्तमें रहता हूँ। मेरे पास प्रायः कोई आते भी नहीं, परन्तु यहाँका वातावरण मील-कारखानाका है, और भी कई बातें हैं, अतः यहाँ स्थायी रूपसे रहनेका विचार न पहले था, न अब है। परन्तु यह भी निश्चय नहीं हो पाया कि यहाँसे कहाँ जाना चाहिये। रतनगढ़ मेरे मनके अनुकूल नहीं और दूसरी जगह स्थायी रूपसे रहनेमें पू.माँजी तथा सावित्रीकी माँको प्रतिकूलता मालूम होगी। यद्यपि वे जहाँ रहूँ, वहीं रहनेको कहती हैं और रहेंगी भी, परन्तु उन्हें अनुकूल नहीं है, ऐसा मेरा अनुमान है, ऐसी स्थितिमें देखा जाय, कहाँ रहना हो। मैं तो यही करता हूँ– जैसी मनमें आती है, वैसा चेष्टा तो करता हूँ, फिर तो कुछ हो जाता है, उसीको भगवान्‌का विधान मानकर सन्तोष करनेका प्रयत्न करता हूँ। असलमें बात भी यही है। भगवान्‌ने जो रच रखा है, उसीमें हमारा कल्याण है। यहाँ कुछ दिन सत्संग कीर्तन हुआ था, पीछे मैंने मनाही कर दी। एक-दो दिन शायद और भी हो। न मधुरजीकी मधुर मोरवीन ही बजती है और न स्वामीजी महाराजका 'राधे बोलो राधे' कीर्तन ही होता है। निस्तब्ध-नीरव-सा जीवन है और अभी यही प्रिय मालूम होता है।

बगीचेमें दोनों समय कीर्तन, प्रातःकाल प्रार्थना, भगवत्-चर्चा होती है सो बड़े ही आनन्दकी बात है। प्रेसमें अखण्ड कीर्तन चालू है, यह भी बहुत उत्तम है। पण्डितजी पितृपक्षके बाद शीघ्र ही लौटनेको कह गये हैं सो अच्छी बात है।

बगीचे (गीतावाटिका) में उदासीकी बात लिखी, सो यह तो आपलोगोंका मेरे प्रति जो अकृत्रिम प्रेम है, उसीके कारण आपलोगोंको ऐसी प्रतीति होती है। मैं क्या लिखूँ! भगवान्‌का विधान जैसा कुछ होगा, वही होगा और उसीमें आनन्द मानना चाहिये। मैं भी आपलोगोंसे अलग रहना नहीं चाहता, परन्तु इस स्थितिमें अलग रहनेमें ही मुझे और आपलोगोंको प्रसन्न होना चाहिये। भगवान् परम कल्याणमय हैं, वे कल्याण ही करते हैं। मैं तो आपलोगोंके प्रेमका ऋणी ही रहूँगा।

कल्याणके तीसरे अंकका नमूना यहाँ आ गया था। चौथे अंकका मैटर दिया जा चुका सो अच्छी बात है। मैंने लेख न लिखनेकी प्रतिज्ञा नहीं कर ली है, परन्तु आजकल न तो कुछ बात उपजती ही है और न अवकाश ही मिलता है, इससे विवश-सा हो रहा हूँ। लिखनेकी मनमें आयेगी तो लिखनेमें कोई हर्ज भी नहीं है। टाइटिल पेजके लिये एक आइडिया दिया सो अच्छी बात है। और भी दो-चार बनवा लीजिये। सादा टाइटिल हर महीने बदलता रहे तो अच्छा है।

श्रीबाबाराघवदासजी और भाईसाहबसे आप लोगोंने खादी खरीदी सो अच्छा किया। मैंने भी एक गज खादी श्रीस्वामीजीकी साफीके लिये खरीद की है।

बिहारकी संस्कृत शिक्षाके करिक्यूलममें गीता, रामायण, महाभारत, भागवतादि हो जायँ तो बहुत अच्छा है। ऐसा पाठ्यक्रम बनानेकी चेष्टा जरूर करनी चाहिए। पुस्तकें छापनेमें भी गीताप्रेसको लाभ ही है और उसका कर्तव्य भी है। ... ...

प्रेसमें मशीनोंकी जो दशा है, उसे देखते 'कल्याण'के अगले विशेषांककी तैयारी अभीसे आरम्भ कर देनी चाहिए। पौषसे छपना शुरू हो जाय ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। नहीं तो आगे चलकर बड़ी दिक्कत

होगी। इस सम्बन्धमें भी बजरंगलाल और श्रीजयदयालजीसे बात करके तुरन्त निश्चय कर लेना चाहिए तथा अभीसे कार्य आरंभ कर देना चाहिये। .. ..

श्रीमाधवजी, दादा, धीरेनबाबू, देवधरजी, वकीलसाहब, नाथूरामजी, जगदीश, दूलीचन्द सभीसे मेरा सादर सप्रेम यथायोग्य कहना चाहिये।

आपका
हनुमान

* * * *

डालमिया दादरी
आश्विन कृष्ण १३, १९९६
(१० अक्टूबर १९३९)

परमपूज्य (श्रीजयदयालजी गोयन्दका),

श्रीचरणोंमें सादर प्रणाम। कृपापत्र कल मिला। तीर्थयात्रा स्पेशलट्रेन कलकत्तेसे कार्तिक कृष्ण ६ को छूटनेका अनुमान लिखा सो आनन्दकी बात है। तीर्थयात्राकी इच्छा रखनेवाले भाइयोंके लिये यह स्वर्ण संयोग है। सत्संग, सत्-दर्शन और तीर्थाटनका पूरा लाभ है, सो भी पौने तीन महीनेतक। वे भाग्यवान् पुरुष और स्त्रियाँ होंगी जो इस स्पेशलमें जायँगी। मेरी समझसे बहुत अधिक संख्या यात्रियोंकी हो जायगी तो कुछ कठिनाई अधिक होगी। साथमें कम-से-कम एक सुयोग्य वैद्य तथा एक उनके सहकारी आवश्यक औषधादि सहित अवश्य रखने चाहिये। यात्रियोंके खान-पान- शयनादिके और साधनके नियम भी हों तो अच्छा है। यात्रियोंकी जितनी कम आवश्यकताएँ होंगी, उतनी ही सुविधा ज्यादा होगी और स्वास्थ्य भी ठीक रहेगा। डाक्टरी पद्धतिके अनुसार आकस्मिक घटनाओंके समयपर काममें आनेवाली सामग्री भी यथायोग्य साथमें रहनी चाहिये। गाड़ियोंके डिब्बोंमें लाउडस्पीकर लग जाय और नियमित व्याख्यान सुननेका प्रबन्ध रहे तो उत्तम है। मेरे साथ चलनेका आपका संकेत तो बहुत ही कृपापूर्ण है, परन्तु मैं बड़ा मन्दभागी हूँ। स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी इतना घूमना शायद उचित नहीं है और बहुत भीड़भाड़से मन भी घबराता

है। पूज्य माँजी तथा सावित्रीकी माँ जाय तो उत्तम है। माँजीकी तो इच्छा भी है। मैंने लिख भी दिया है।

पत्रमें मैं आपकी बड़ाई और अपनी लघुता नहीं लिखता, मुझमें तो इतने दोष भरे हैं कि उन सबको तो मैं लिख ही नहीं सकता। आपके बाबत कभी कुछ लिखता हूँ, वह भी एक प्रकारसे स्तुतिमें आपकी निन्दा ही होती है और अपने लिये जो कुछ लिखता हूँ वह तो एक प्रकारसे प्रशंसा या प्रशंसा पानेके लिए होती ही है।

स्वामीकी सेवक हितता सब, कुछ निज साँइ दुहाई।
निज मति बुला तीलि देखि भई, अपनी ही दिसि गरुआई।।

आपने मेरे जिन आदर्शगुणोंके नाम गिनाये, सो ये तो आपकी शुभ दृष्टिके फलस्वरूप आपको दीखते हैं। मैं क्या लिखूँ–

मत्समः पातकी नास्ति पापघ्नी त्वत्समा न हि।
एवं ज्ञात्वा महादेवि यथायोग्यं तथा कुरु।। अस्तु।

मैं अभी तो यहीं हूँ परन्तु यहाँ स्थायी रूपसे रहनेका विचार नहीं है। हाँ, पूज्य माँजी तथा सावित्रीकी माँ दोनों ही तीर्थ-स्पेशलट्रेनमें चली गई तो वैसी हालतमें शायद तबतक यहाँ रह भी जाऊँ। अभी कोई निश्चय नहीं है। स्वामी चक्रधरजी महाराज प्रसन्न हैं। वे यहाँ कुछ नहीं कहते। गोरखपुर थे, तब कहा करते थे– गोरखपुर ही रह जाओ। आपने लिखा– हमलोगोंका आग्रह और प्रेम होगा तो शायद थोड़े दिनों बाद तुम वापस आ भी सकते हो, कुछ भी असंभव नहीं है। सो आपका लिखना तो ठीक ही है। मुझे तो जहाँ आपकी रुचिपर न्योछावर हो जाना चाहिये था, वहाँ आपको ऐसा लिखना पड़ रहा है। क्या करूँ, मन अभी जरा भी पलटा नहीं है, वरन् उत्तरोत्तर और भी एकान्त-सेवनकी वासना बढ़ती हुई-सी प्रतीत होती है। स्पष्ट तो कुछ भी नहीं कहा जा सकता, परन्तु इसमें कोई दैवी प्रेरणा है अवश्य। न मालूम, भगवान्‌का क्या विधान है? उनकी कहाँके लिए कैसी रचना है? शरीर जबतक है, कहीं रहेगा ही, फिर गोरखपुर रहनेमें क्या आपत्ति है? पता नहीं, प्रभुकी लीला कब किस रूपमें अपना आत्मप्रकाश करती है। अभी कह तो नहीं सका– परन्तु अच्छा यही समझता हूँ कि

'भगवान्‌का जो कुछ विधान हो, वे जो दें उसीको सच्चे आनन्दसे ग्रहण करना चाहिये। भगवान्‌के चरणोंमें एकान्तिक आत्मोत्सर्ग ही सर्वोत्कृष्ट साधना है। उनकी इच्छाके सामने अपनी इच्छा रहे ही नहीं। वे इच्छारहित होकर जो इच्छा करें, उसीमें अपना महाकल्याण समाया हुआ है। न गोरखपुर रहनेसे इन्कार है, न कहीं जानेसे। इन्कार चल भी कब सकता है? वे जहाँ रखेंगे, जिस योनिमें रखेंगे, जैसा नाच नचायेंगे, वही नाचना होगा और वही हमारे लिये महामंगलकी खान है। जन्म-मृत्यु जो कुछ भी, जब कभी वे प्रदान करें, उसीमें उनका मंगल कर-स्पर्श पाकर कृतार्थ होना है।' ऐसी कल्पना मनमें आती है, परन्तु पता नहीं, मन और शरीर इन कल्पनाओंका कहाँतक अनुसरण करते हैं। मेरे मनकी टान हो या दैवी-प्रेरणा—भगवान्‌का विधान अवश्य है। आपके प्रेम तथा बर्तावकी निन्दा नहीं है, आप ऐसा मानते हैं, यह आपकी महानता है। आप मुझे त्याग नहीं सकते, यह तो विरद ही है। तेईस घंटे मौन रहनेका विचार किया था, तदनुसार ही लिखा था। परन्तु वैसा चल नहीं सका। सब मिलाकर लगभग दो घंटे बातचीत आदिके लिए है, शेष समय मौन रहता हूँ। उसमें सबेरे साढ़े सात बजेसे साढ़े दस और मध्याह्नोत्तर ढाई बजेसे साढ़े चार बजेतक तो बन्द कमरेमें सर्वथा एकान्तमें रहता हूँ। लगभग डेढ़ घंटा मिलता है, जो पत्रादि लिखनेमें बीत जाता है। और अवकाश ही नहीं है। पता नहीं यह क्रम कबतक निभेगा।

विशेषांककी तैयारीके लिये मैंने भी श्रीगोस्वामीजीको लिख तो दिया है, आप गोरखपुर पधारते ही हैं, आप भी कह देनेकी कृपा करें। छपाई पौषसे आरंभ हो जाय तभी ठीक है, नहीं तो बड़ी कठिनता होगी। अभीसे भरपूर उद्योग करना चाहिये। मैं कुछ काम कर सकूँगा या नहीं, कुछ कह नहीं सकता।

पं. विद्याधरजी वैद्य बाबत आपने जो कुछ लिखा सो पढ़ा। उन्होंने मुझसे शिकायत नहीं की, मैंने ही उनसे बात ही बातमें पूछा। इसपर उनसे जो कुछ बातें मालूम हुई, उसीका सार आपको लिखा था। उन्होंने कमीशनके रुपये पानेके लिये भी मुझसे आग्रह नहीं किया। यह सत्य है कि उन्होंने पचास रुपयेमें काम करना स्वीकार किया था। साधारण मनुष्य

परिस्थितिका दास है। स्वार्थ, संकोच आदि कई कारणोंसे मनके अनुकूल न होनेपर भी मनुष्य स्वीकार कर लेता है। हमलोगोंको भी जब दूसरेपर विचार करना हो तो, केवल उनके शब्दोंपर नहीं, उसकी परिस्थितिमें अपनेको ले जाकर विचार करना चाहिये। मेरी समझसे, मैंने उनका हृदय टटोलकर जो कुछ देखा उसमें लोभ नहीं, परन्तु दुःख दिखायी दिया। मेरी तुच्छ समझके अनुसार सब दवा उनसे वापस ले लेनी चाहिये। जितनी दवा उन्होंने बरती हों उनके बदलेमें या तो उचित दाम दे दें या दवा दे दें। मेरी समझसे दवा देना ही वे पसन्द करेंगे और यही उचित भी है। मकानसे उनको नहीं निकलना चाहिये। थोड़ी देरके लिये मान भी लें, इसमें अपने औषधालयके स्वार्थमें हानि पहुँचेगी तो इस हानिको एक ब्राह्मणके संतोषके लिये सन्तोष और आनन्दके साथ उनपर कुछ भी नाराज हुए बिना और कुछ भी अहसान जताये बिना सहना चाहिये। रही प्रेस और सोहबगंजवालोंके सन्तोषकी बात सो इस सम्बन्धमें मैं यदि स्पष्ट कहूँ, वह बात कुछ कड़वी होगी। हमलोग वेतनभोगी कर्मचारीको क्रीतदास (खरीदा हुआ गुलाम) समझना पसन्द करते हैं। पचास रुपयेमें उनका खर्च नहीं चलता, उन्हें और भी उद्योग करना पड़ता है। हमारे यहाँका बुलावा गया। उनके पास दो-चार रोगी बैठे हैं। कुछ दीन हैं और कुछ ऐसे हैं, जिनसे उन्हें पैसा मिलनेकी उम्मीद है। वे दोनोंको ही न्यायतः छोड़ नहीं सकते और न छोड़ना ही चाहिये। उन रोगियोंकी जगह हम हों और वैद्यजी हमें छोड़कर चले जायँ तो हमें दुःख होगा या नहीं? 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।' इसलिये वैद्यजीको हमारे यहाँ आनेमें देर हो गयी। उनके अपने बाल-बच्चे भी हैं, घर-परिवारका काम भी है, उसमें कुछ देर हो सकती है। डाक्टरोंको बुलाते हैं वे तीन-तीन घंटे बाद आते हैं, फीस देते हैं, पर हम उनपर नाराज नहीं होते, लेकिन हमारे वैद्यजीने यदि कुछ देर कर दी तो हमारा पारा गरम हो जाता है। हाँ, सांघातिक बीमारी हो तो दूसरी बात है। अबकी बार ही वैद्यजीने— अपने पंडित लाधूरामजीकी पत्नीकी बीमारीमें जितना परिश्रम किया है, उसके लिये वे पुरस्कारके पात्र हैं। रोगीका अच्छा होना, न होना तो उसके भाग्यपर निर्भर करता है। मौत आनेपर धन्वन्तरि भी नहीं बचा सकते, परन्तु चूँकि पंडितजी (वैद्यजी) हमारे वेतनभोगी हैं, इसलिये हमें मानो उनकी परिस्थिति पर कुछ भी विचार न करके नाराज

होनेका पूरा हक है। यह है साहेबगंजवाले और प्रेसवालोंके असन्तोषका सच्चा चित्र। चाहे वे इस बातको स्वीकार न करें, बात यही है। नहीं तो आप विश्वास करें, पक्षपात नहीं करता, दावेसे कहता हूँ कि वैद्यजी अच्छे वैद्य हैं, उनका व्यवहार यथासम्भव दूसरोंकी अपेक्षा बहुत अच्छा है। मेरे साथ नहीं, गरीबोंके साथ भी, जिनका मुझे परिचय है और मेरे पास प्रमाण हैं। बहुत अधिक लिख गया और वह भी बहुत तीव्र शब्दोंमें। साहेबगंजवाले और प्रेसवाले भाई मुझे बहुत प्यारे हैं। उनकी निन्दा करना नहीं चाहता। प्रसंगवश मनोवृत्तिका जो कुछ मैंने अध्ययन किया है, वह लिखा है। आप जो कुछ करेंगे वह वैद्यजीकी तथा सबकी भलाईके लिये ही होगा। मैं अपनी बालसुलभ धृष्टताके लिये क्षमा चाहता हूँ। लोभके सम्बन्धमें तो यह बात है कि महापुरुषोंको छोड़कर न्यूनाधिक रूपमें लोभ किसमें नहीं है? वैद्यजीको तो पचास रुपये मिलते हैं जो मकान भाड़े और नौकरोंके वेतनमें ही चले जाते हैं। उनको तो आवश्यकता भी है। जिनके पास लाखों रुपये हैं और घरमें खानेवाले भी नहीं हैं, वे भी दिन-रात धन बढ़ानेमें ही लगे रहते हैं। ऐसी अवस्थामें बाल-बच्चेवाले वैद्यजीका लोभ तो क्षम्य ही होना चाहिये।

हनुमान

* * * *

डालमिया दादरी
आश्विन शुक्ल ७, १९९६
(१९ अक्टूबर १९३९)

प्रिय श्रीगोस्वामीजी,

सप्रेम यथायोग्य। आपका पत्र मिला, सब समाचार जाने। मैं एकान्तमें रहकर निस्तब्ध-नीरव जीवन बिताना तो चाहता था, अब भी चाह मिटी नहीं है, परन्तु इस समय तो मेरी जीवन-नौका शायद भगवान्के विधानके ही प्रवाहमें— बड़े जोरके प्रवाहमें पड़ गयी है। कभी-कभी मनमें आता है तो अपनी ओरसे दो-चार डाँड़ मार लेता हूँ, फिर थककर बैठ जाता हूँ। पता नहीं, नैया किसी चट्टानसे टकराकर टूटेगी, कहीं भँवरमें फँसकर डूबेगी, किसी वीरान देशमें ले जायगी या किसी सुन्दर सुरम्य

तीरपर लंगर डालेगी। अभी तो बही जा रही है। अवश्य ही अभीतक डॉंड़ मारनेका हौसला बिलकुल छोड़ नहीं दिया है, परन्तु धीरे-धीरे थका जा रहा हूँ। मेरा पुरुषार्थ मरता-सा जा रहा है, पुरुषार्थका गर्व चूर होनेको आया है। इस जीवनको नीरव-निस्तब्ध कहूँ या प्रवाहमें पड़ा हुआ पराधीन, कुछ पता नहीं। नीरव तो यों भी नहीं हूँ, यद्यपि बहुत कम बोलता-सुनता हूँ, परन्तु मनका बोलना-सुनना तो बंद नहीं हुआ है। इस स्थानमें तो जो रात-दिन मिल कारखानाकी विकराल चक्कीमें बड़े-बड़े पत्थर तोड़े और पीसे जा रहे हैं, उन्हींकी आवाज होती रहती है। फिर नीरव जीवन कैसा? बहुत हुआ! यहाँ आ गया हूँ, पता नहीं अब कहाँ जाऊँगा। न भगवान्‌की इच्छापर ही जीवनको पूर्ण रूपसे— निःशेष रूपसे छोड़ सका और न अपनी इच्छा ही पूरी हो रही है।

श्रीवेणीमाधवजी गये, नाथूरामजी चले गये, माधवजी भी दशहरेतकके लिये घर गये। दूलीचन्द भी लखनऊ गये। यह सब ठीक ही है। जाना और आना यही तो संसारका स्वरूप है। यह यात्राका प्रसंग चला ही आ रहा है, चलता ही रहेगा, भगवान्‌की सृष्टिमें इसका कभी कहीं विराम नहीं है। परन्तु सभी अवस्थाओंमें सभी जगह भगवान् सदा ही हमारे साथ हैं। इस पार्थिव संसारमें बस, एक भगवान् ही नित्य हैं जो सदा सब जगह रहते हैं— जीवन-मृत्यु, दुःख-सुख, हानि-लाभ, मान-अपमान, सभीमें ये मुँह छिपाये सदा हँसते रहते हैं। जो अपनी सुखकी स्पृहा छोड़कर केवल इन्हींकी ओर अपने मानस नेत्रोंको लगाना चाहता है, उसके सामनेसे ये योगमायाका पर्दा हटा लेते हैं। फिर तो सर्वत्र असीम माधुर्य-सौन्दर्य, महान् आनन्द और विशाल शान्ति, दिव्य ज्योति और शीतल प्रकाश ही दिखायी देता है, इनकी हँसी ऐसी ही होती है, ऐसी ही है।

* * * *

आप कथा कह रहे हैं सो बड़ा अच्छा कर रहे हैं। इस शहरमें आप अवश्य लाभमें ही रहेंगे। इसे छोड़ियेगा नहीं।

* * * *

श्रीगंगाबाबू बिना किसी सूचनाके चित्रकूट चले गये। अच्छा ही

हुआ, उनकी बहुत दिनोंकी इच्छा थी। यह भी भगवान्‌का ही मंगल विधान है।

वकीलसाहब और उनके घरका हाल चिन्ताजनक है। इस अवस्थामें हमलोग उनकी कैसे-क्या सेवा कर सकते हैं? आपको कुछ जँचे तो सोचकर लिखियेगा। मुझे कई बार उनकी स्थितिका स्मरण हो आता है और उस स्मरणसे चित्तमें कुछ दुःख-सा होता है।

श्रीमाधवजीका पत्र मिल गया था, उसमें बडे चोखे भाव थे। मैंने अभी उत्तर नहीं लिखा है। घरके पतेपर लिखूँगा या उनके गोरखपुर लौटनेपर। पत्र लिखनेके बाद वे आपके पास आकर फूट-फूटकर रोये— यह उनके भावुक हृदयका परिचय है। क्या करूँ? मैं तो आपलोगोंके प्रेमका ऋणी ही रहूँगा। मुझमें कोई योग्यता ही नहीं कि मैं किसी तरह सन्तोष करवा सकूँ। (हिन्दी) विशेषांककी तैयारी प्रेसकी दृष्टिसे और सचमुच आपकी दृष्टिसे भी अभीसे शुरू कर देनी ठीक मालूम होती है। मेरी तरह आप प्रेसवालोंपर कुत्तेकी तरह भौंक नहीं सकेंगे। पहलेसे तैयार रहेंगे तो सहूलियतसे काम होगा। इस काममें श्रीमाधवजी और देवधरजीसे पूरी सहायता लीजिये। श्रीगर्देजी बहुत काम दे सकते हैं, पर उनका आना कठिन है। अंग्रेजी विशेषांकका काम कुछ-कुछ देखते रहिये, अब तो सारा भार आपपर ही है। श्रीभगवान्‌का भरोसा रखिये। वे ही वहन करनेकी शक्ति देंगे। घबराइये नहीं।

अपने साधन, भजन और आचरणकी बात लिखी सो ठीक है, भगवत्कृपासे असंभव भी संभव हो सकता है, इस बातपर विश्वास कीजिये। अपनी ओरसे आप, जैसे और जो कुछ भी हैं, स्पष्ट होकर अपनेको सदा भगवान्‌के प्रति निवेदन करते रहिये। आप तो बहुत अच्छे हैं, बहुतोंसे बहुत भले हैं, वे तो महान् पापीको ग्रहण करनेमें भी नहीं सकुचाते। पापीका सारा पाप लेकर स्वयं उसको धोते हैं— वैसे ही जैसे माँ छोटे शिशुका मल धोती है, बिना किसी घृणाके, अत्यन्त स्नेहसे प्रसन्न होती हुई! माताका उदाहरण भी पूरा नहीं घटता, क्योंकि माताका स्नेह उनके स्नेहकी छायाकी भी छाया नहीं है। रही मेरी शुभ भावनाकी बात सो मेरी भावनामें कोई ताकत तो मुझे नहीं दीखती; होगी तो मुझे पता नहीं। परन्तु स्वाभाविक ही

हृदयसे ही आप सब प्रेमी मित्रोंके लिए सदा ही मेरी शुभ भावना रही है, और है। फल, कुछ न भी होगा तो, हानि तो होगी नहीं। आपको जो-जो कुछ करना पड़े, करिश्मे देखने पड़ें, उन्हें आप अभिमानके पल्ले बाँधकर उनका महत्त्व गंवाइये मत। ये सब करिश्मे भगवान्‌के हैं। उनकी लीलाके अंग हैं। देख-देखकर प्रसन्न होते रहिये। आनन्द लूटिये। रोनेके अभिनयमें भी अन्दर-ही-अन्दर हँसिये। उनके विधानके उत्सवसे सदा आनन्दका ही स्रोत बहता है। विपत्ति-आपत्ति, प्रतिकूलता-पराजय, अपमान-तिरस्कार, पीड़ा-मृत्यु, सभीमें उनकी आनन्दभरी मुस्कान देखिये। भगवान्‌के प्रत्येक दानको आनन्दसे ग्रहण कीजिये।

मेरा स्वास्थ्य ठीक है, दर्दमें भी कुछ कमी ही समझिये। यहाँ खान-पान, शयन-जागरण सभी प्रायः नियमितसे होते हैं, इससे भी लाभ है। घूमना बहुत थोड़ा होता है और स्वास्थ्यके लिये यही ठीक है।

भोजनके बाद भाई जयदयालके घरपर कुछ मिनटोंके लिए अखबार देखता हूँ। अवश्य ही उसमें मनको विशेष रूपसे लगानेमें डरता हूँ।

मेरे पत्रोंके कुछ अंश छापनेकी बात लिखी, सो मेरा नाम न देकर छाप सकते हैं। व्यक्तिगत बात नहीं आनी चाहिये। पत्र लिखनेका पहले तो विचार ही नहीं था। फिर ऐसी भावना हुई, पत्रका उत्तर दे देना चाहिये। सबेरे डेढ़ घंटेका समय रखा। परन्तु पत्रोंकी संख्या बढ़ चली है। खासकर गोरखपुरके। इससे शायद पत्र लिखना बन्द करना पड़े। जबतक चलता है, चलाता हूँ। लोग अलग- अलग पत्र न लिखकर एक ही पत्रमें अपने समाचार लिखवा दें तो उत्तरमें सुविधा हो।

* * * *

'कल्याण' और 'कल्पतरु'में नाम न देनेकी बात सत्यके नाते आपको ठीक ही समझनी चाहिये। मैं जब कोई काम देखता ही नहीं, तब नाम क्यों रहना चाहिये? इसमें आप अन्यथा कुछ भी न समझें। पत्र बहुत लम्बा हो गया।

आपका
हनुमान

डालमिया दादरी
आश्विन शुक्ल ११, १९९६
(२३-१०-१९३९)

प्रिय श्रीमाधवजी,

सप्रेम हरिस्मरण। आपके पत्रको पढ़ते-पढ़ते मेरी आँखोंमें भी आँसू आ गये। मैं सच लिखता हूँ—आपलोगोंको छोड़कर आना मेरे मनके अनुकूल नहीं है। मुझे इसमें बड़ी प्रतिकूलताका बोध हुआ था। परन्तु, आप निश्चय सत्य समझें, मैं अपने वशमें नहीं हूँ। चक्करमें फँसा हूँ। उससे निकलनेकी शक्ति नहीं है, इच्छा भी नहीं है। सुख प्रतीत होता है। मेरे सुखके लिये आप यह दुःख सहिये। यह अपने मुँहसे कहना है तो बुरा परन्तु आपलोगोंके प्रेमके बलपर ऐसा मैंने कहा था। आप विश्वास कीजिये, मैं इसलिये गोरखपुरसे नहीं हटा कि मुझे आपलोगोंमेंसे किसीके व्यवहारसे असन्तोष था। आपलोग मेरे साथ रहने लायक नहीं थे। आप जानते हैं—मेरे मनमें आपलोगोंमेंसे किसीके प्रति कभी कोई दुर्भाव नहीं हुआ। मैं स्वयं दुर्बलताओंसे भरा हूँ। ऐसी हालतमें यदि आपमेंसे किसीमें कोई दुर्बलता भी हो तो वह मेरे लिये कोई घृणाकी चीज नहीं है। भगवान्‌को छोड़कर कौन ऐसा प्राणी है जो सारी दुर्बलतापर विजय प्राप्त कर चुका हो। मेरे लिये आपके जैसे भाव हैं, सचमुच मैं अपनी ओर देखता हूँ तो अपनेको वैसे भावोंका अधिकारी नहीं पाता हूँ। परन्तु इसलिये—मैं आपके हृदयके सच्चे सरल भावोंका तिरस्कार भी नहीं करता। पता नहीं—मुझ तुच्छ नगण्यके द्वारा ही भगवान्‌ने आपका कोई मंगल विधान रचा हो। 'मशकहिं कसहिं बिरंचि प्रभु।' परन्तु मैं स्वयं कुछ भी असाधारणता अपनेमें नहीं देखता। अस्तु, भगवान्‌के राज्यमें आप अपनेको आश्रयहीन कैसे (समझते) हैं? भगवान् सदा सर्वदा सबके साथ हैं। 'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।' ऐसी अवस्थामें अपनेको आश्रयहीन हम क्यों मानें? जिन्होंने सबको आश्रय दे रखा है, उनके मंगलमय आश्रयसे हमी वंचित क्यों रहेंगे? हमारेमें पाप हैं, दोष हैं—तो हम ज्यादा स्नेहके अधिकारी हैं। माँकी गोद उस बच्चेके लिये ज्यादा खुली रहती है जो बीमार होता है। माँ स्वयं उसका मैला धोती है। भगवान्‌को हम अपना आश्रय मान लेंगे तो भगवान् आप ही हमारी देख-रेख रखेंगे। आपका यह लिखना बहुत ही ठीक है कि 'मेरा तो सारा भार मैया पर है। वह मेरी सँभाल रखेगी ही, यह विश्वास दृढ़ कर मैं निश्चिन्त क्यों न हो जाऊँ। सचमुच

ऐसी ही बात है। विश्वास दृढ़ कीजिए। मैं तो तुच्छ प्राणी हूँ– आप भगवान्‌के बलपर अब भी संसारको चुनौती दे सकते हैं। विश्वास कीजिए– भगवान्‌का बल जिसके साथ हो उसे क्यों घबड़ाना चाहिये? धरती सरकेगी तो भगवान्‌की विशाल भुजाएँ आपको हृदयसे लगानेके लिये फैली हुई तैयार मिलेंगी। जिसका सिर आनन्दके साथ भगवान्‌की इच्छाके सामने झुका है वह तो आनन्दको पा गया।' सचमुच जो भगवान्‌को चाहता है– भगवान्‌से प्रेम करता है, उसे अपनी इच्छाको भगवान्‌की इच्छामें विलीन कर देना पड़ता है। भगवान्‌की जो इच्छा है, वही उसकी इच्छा होती है। इच्छा तो मोटी चीज है, भगवान्‌की रुचि, भगवान्‌का संकल्प, यही उसके जीवनके आदर्श बन जाते हैं। भगवान्‌के प्रेमकी प्राप्ति अन्य सारे प्रेमोंकी आहुति देनेपर ही होती है। इसमें एक बार कुछ दुःख-सा प्रतीत होता है परन्तु है बड़ा आनन्द, सच्ची शान्ति। यह भावुकताकी बात नहीं है, सत्य है।

बगीचेमें सारा कार्य चल रहा है, सो बड़े आनन्दकी बात है। कथा-कीर्तन जीवनका आधार रहे– प्राणदान करता रहे– यह हमारा बड़ा ही सौभाग्य है।

'आचरणकी पवित्रता और मनको प्रभुमें जोड़ना एवं इन दोनोंके लिये भगवान्‌के नामका एकान्त आश्रय।' –इसके अतिरिक्त और किसी बातकी आवश्यकता नहीं है। यह विश्वास अवश्य कीजिये कि इस जीवनमें, इसी जीवनमें भगवत्कृपासे आप ऐसा अवश्य कर सकेंगे। भगवत्कृपाके कोषमें असफलता नहीं है यदि सचमुच कृपाका अवलम्बन हो। 'निडरता जितनी ही होगी, उतनी ही सफलता समीप आयेगी' –यह स्थिर सिद्धान्त है। इस भगवत्कृपाके लिए सब कुछ न्योछावर कर देना चाहिये। वह मनुष्य धन्य है जिसका जीवन भगवत्कृपापर निर्भर है और जो भगवान्‌के नामका एकान्त आश्रय लिये हुए है।

एक रहस्यकी बात और है– ''भगवान् कृपालु ही नहीं है। कृपामें तो कुछ पराया भाव है, हम उनके बहुत ही निकट हैं। वे हमें छोड़ ही नहीं सकते– 'सुहृदं सर्वभूतानाम्।''

आपका
हनुमानप्रसाद

* * * *

डालमिया दादरी
कार्तिक शुक्ल ६, १९९६
(१७ नवम्बर १९३९)

सम्मान्य प्रिय भाई श्रीगिरिधारीजी,

सप्रेम हरिस्मरण। कृपा, दया तथा प्रेम तो श्रीभगवान्‌का हम सभीके ऊपर अपार है। अवश्य ही स्वयं भगवान् जिनकी प्रशंसा करें ऐसे सन्त पुरुषके चरणकमलोंमें कोटिशः साष्टांग प्रणाम हैं। सचमुच ऐसे महापुरुषकी चरणरज किसी भाग्यशालीको ही प्राप्त होती है।

आपके बुखार भगवान् और दुर्बलता मैयाके समाचार पढ़कर आनन्द हुआ। आप धन्य हैं जो इस रूपमें पधारे हुए भगवान्‌को पहचान लेते हैं। भगवान्‌के अनन्तरूप हैं– उनमें दो मुख्य हैं। एक सुन्दर, दूसरा भयानक। सुन्दरमें तो सभी प्रसन्नता प्राप्त करते हैं, यद्यपि उसमें भी भगवान्‌की झाँकी सबको नहीं होती, परन्तु भयानकमें भगवान्‌को देखना बहुत ही कठिन है। अर्जुन सरीखे महात्मा भी भगवान्‌के विकराल कालरूपको देखकर डर गये और पूछने लगे– 'आप कौन हैं?' रोग भी भयानक रूप है भगवान्‌का, और इसी प्रकार कोढ़ी, दरिद्र, श्मशान, सड़ा मुर्दा, भयानक जन्तु आदि भगवान्‌के भयानक, रुद्र और बीभत्स स्वरूप हैं। वे धन्य हैं जो सबमें भगवान्‌को देखते हैं। सचमुच भगवत्कृपासे जब सच्ची आँखें मिल जाती हैं, तब सबमें, सब ओर, सदा, सर्वदा और सर्वथा श्रीभगवान्‌की ही झाँकी दिखलायी पड़ती है। आपको उस अवस्थामें बड़ा आनन्द रहा, श्रीभगवान्‌ने अपनी कृपाके बड़े सुन्दर-सुन्दर नजारें दिखलाये सो ठीक है। श्रीभगवान्‌की लीला बड़ी विलक्षण है और उनकी कृपा जिसपर होती है, वे ही उस लीलाका आनन्द लूटते हैं।

मैं लगभग पौने दो महीनेसे यहाँ हूँ। प्रसन्नतासे दिन कटते हैं। पाँच घंटे तो बन्द कमरेमें रहता हूँ। कभी-कभी तो बड़ा ही आनन्द, अपूर्व सुख मिलता है। स्मरण भी अच्छा होता है। अवश्य ही वातावरण इतना बढ़िया नहीं है। यहाँ अभी तो दो-तीन सप्ताह और टिकना होता दीखता है, उसके बाद गंगातटपर जानेका मन है। प्रभु जैसा चाहेंगे वैसा ही होगा, और वही ठीक होगा। आपको बुलाऊँ क्या, आप चाहे जब पधार सकते हैं। परन्तु यहाँ आना ठीक न होगा। लिखूँगा। संकोचकी कोई बात नहीं है। आप मुझे भक्तिपथमें ऊँचेसे ऊँचा देखना

चाहते हैं, यह आपकी बड़ी शुभ भावना है। ऐसी शुभ भावना कीजिये जिससे श्रीभगवच्चरणोंमें मन स्थिर हो जाय, एक क्षणको भी वहाँसे न हटे। पूज्य श्रीश्रीमहाराजजी पधारे हों तो उनके श्रीचरणोंमें मेरा सादर साष्टांग निवेदन करें।

याद रहे तो कभी श्रीश्रीबालकरामजी और श्रीबिन्दुजी महराजसे मेरा सादर प्रणाम निवेदन कर दें।

श्रीरामललाजी, तीनों भैया, श्रीहनुमानजी, श्रीमाताजी और सरयूजी तथा अयोध्याजीको अनन्त प्रणाम कह दें।

आपका भाई
हनुमान

कृष्ण-प्रेममें निमग्न एक मुसलमान बहनको दादरीसे लिखा पत्र

एक परम सम्मान्या मुसलमान बहनने, जो उन दिनों श्रीकृष्ण-प्रेमसे भावित थीं, भाईजीको श्रीकृष्णके प्रेमीके नाते अपना धर्मभाई मानकर पत्र लिखा था। भाईजीने उनके पत्रका जो उत्तर दिया था, उसीका कुछ अंश यहाँ दिया जा रहा है—

।।श्रीहरिः।।

डालमिया दादरी (जिन्द स्टेट)
२८-११-३९

प्यारी बहिन,

आपने अपनी ही बातें कीं, बहुत अच्छा किया। परायी बातोंमें क्या रखा है? अपनी बात वही है, जिसमें अपने— सबसे बढ़कर अपने— एकमात्र अपने श्रीकृष्णकी मधुर चर्चा हो। आपकी अपनी बातें श्रीकृष्णकी माधुरीसे रँगी हैं, सनी हैं, इसलिये बड़ी ही मधुर हैं। श्रीकृष्णकी माधुरी हृदयको और दिमागको बेकाबू कर देती है, बहा देती है एक आनन्दकी अनोखी धारामें— समुद्रमें भी बाढ़ आ जाती है और वह भी बहने लगता है।

श्रीकृष्णके एक बड़े प्रेमीभक्त भगवत-रसिकजी कहते हैं—

लखी जिन लाल की मुसुकान।
तिनहिं बिसरी बेद बिधि, जप, जोग, संजम, ध्यान।।
नेम, ब्रत, आचार, पूजा, पाठ, गीता-ग्यान।
'रसिक भगवत' दृग दई असि ऐंचि कैं मुख-म्यान।।

बड़े-बड़े तपस्वियोंको मोहित करनेवाली सद्गुरुकी हँसी, जगत्में आनन्दका समुद्र बहा देनेवाली संतोंकी हँसी, भगवान्के नामपर प्राणोंकी बलि चढ़ानेवाली शहीदोंकी हँसी, अपनी शूरतापर हर्षित न होनेवाले वीरोंकी हँसी, सफलतापर आनन्दको न पचा सकनेवाले सकाम पुरुषोंकी हँसी, बहुत बड़े साधकोंके चित्तको हिला देनेवाली अप्सराओंकी हँसी, महात्मा गांधी-जैसे पुरुषोंको आनन्द-मुग्ध कर देनेवाली शिशुओंकी हँसी– जितने प्रकारकी हँसी– अनादिकालसे अबतक नित्य नवीन रूपोंमें, सदा ताजी होकर, लोगोंके मनोंको मोहती है, उन सारी हँसियोंको एक स्थानमें एकत्र करनेपर भी वह श्रीकृष्णकी मधुर हँसीके सामने समुद्रके सामने एक नन्ही-सी बूँदकी तुलनामें भी नहीं आ सकती। श्रीकृष्णकी उस हँसी, उस मुस्कान, उस माधुरीकी महिमा कौन कह सकता है? जगत्की सारी मधुरिमा, सारा सौन्दर्य जिस नटनागरकी हँसीकी छायाकी छाया नहीं कही जा सकती, वह हँसी कैसी होती है– इस बातको वे ही जानते हैं, जिन्होंने कभी उस हँसीका– उसकी छायाका भी साक्षात्कार किया है। परंतु यह निश्चय है, जिन्होंने वह हँसी देखी है, उनका सब कुछ उस हँसीने हर लिया है, बहन, मैं उस हँसीकी बात क्या कहूँ? यह भी नहीं कह सकता कि मैंने कभी उसकी छाया नहीं देखी है, यह भी नहीं कहते बनता कि देखी है। सचमुच देखी होती तो आज कुछ और ही स्वरूप होता आपके इस नाचीज भाईका।

सचमुच वे सब कुछ हैं, सब कुछसे परे भी वे ही हैं; वे सर्वेश्वर हैं, सर्वलोकनमहेश्वर हैं, योगेश्वरेश्वर हैं; सृष्टि-स्थिति-प्रलय उनके विनोदकी रेखाएँ मात्र हैं। वे हिंदुओंके ईश्वर, वेदान्तियोंके ब्रह्म, मुसलमानोंके अल्लाह, ईसाइयोंके गॉड, प्रेमी क्रिश्चियन संतोंके 'Beloved', सूफियोंके माशूक, आस्तिकोंके अस्तित्व, नास्तिकोंकी नास्ति, वैज्ञानिकोंके नियम और जो कुछ भी कहें– वे सब कुछ हैं; परंतु 'सब कुछ' होते हुए भी वे 'मेरे श्रीकृष्ण' हैं। मेरा उनसे 'मेरे'का नाता है।

और आप उस 'मेरे कृष्ण'को 'बन्धु कान्हा' कहकर पुकारती हैं और वे आपको– 'बन्धु'के रूपमें आकर्षित करते हैं। आप मेरी बहन तो थीं ही, इस नातेसे बहुत ही सम्माननीय, बहुत ही प्यारी, बहुत ही नजदीकी एक माँके पेटसे जन्मी हुई– से भी अधिक नजदीकी बहन हैं। वे आपके 'बन्धु' हैं, ठीक है। बहुत अच्छी बात। मेरे तो वे 'सर्वस्व' हैं। वे जिस-किसी भी नातेसे मुझे आकर्षित करें, मैं उसीके लिये तैयार रहना चाहता हूँ। यह तैयारी भी उन्हींके कराये होती है। वे बड़े लीलामय हैं। न मालूम कैसी-कैसी रंगतें दिखलाते हैं। सचमुच आपके सामने मैं बे-पर्द हो गया। पता नहीं, श्रीकृष्णकी क्या मन्शा है; उन्होंने क्यों मेरे जीवनकी गुप्त-से-गुप्त बात किसी अंशमें स्पष्टतौरपर आपके सामने कहलवा दी। मैं, बहन, शरीरसे तो पक्का सनातनी– वर्णाश्रमी हिंदू हूँ, परंतु मैं वस्तुतः कुछ भी नहीं हूँ। मैं तो 'मेरे' श्रीकृष्णका हूँ– क्या हूँ, सो पता नहीं है। यदि श्रीकृष्ण मुझे अपना बनाया रखें– तो यहाँ कुछ भी हो, कैसी भी हालत हो, नरकका स्थान मेरे लिये सुरक्षित रहे, जगत्‌की गालियोंकी बौछार सदा सिरपर बरसती रहे, मुझे मंजूर है। और उनको छोड़कर ऊँची-से-ऊँची पदवी, बड़े-से-बड़ा सौभाग्य भी मेरे लिये दुर्भाग्य है। फिर हिंदू-मुसल्मानके भेदकी तो बात ही क्या है? यह सारा भेद यदि तत्वतः देखें तो केवल शरीरको लेकर ही है और यदि मार्ग दिखानेवालोंकी नजरसे देखें तो उस एक ही 'सत्य'को प्राप्त करनेके ये अपने-अपने अलग-अलग अनुभूत रास्ते हैं। जिसने जिस रास्तेसे सफर की, और वहाँ पहुँचा, वह उसी रास्तेका बयाँ करता है और ठीक ही करता है। सच्चा सम्बन्ध तो आत्माका है। श्रीकृष्ण आत्माके भी आत्मा हैं, वे हमारे सब कुछ हैं। इसलिये उनके सामने, उनकी तुलनामें किसी भी धर्मकी कोई महत्ता नहीं है। ये मजहब तो बहुत ही इधरकी चीज हैं। श्रीकृष्णका प्रेम तो 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'से ही शुरू होता है। गोपियोंकी चरण-रजकी इच्छा करते हुए उद्धवजीने श्रीमद्भागवतमें कहा है–

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

'अहा, कैसे इन गोपियोंकी चरण-धूलि मेरे मस्तकपर पड़े? भगवान् मुझे इस वृन्दावनकी कोई बेल, कोई ओषधि, कोई नन्हा-सा झाड़ बना दें,

जिसपर इनके कदमोंकी धूलि पड़ती है। इन गोपियोंने श्रीकृष्णके लिये– जिनका छोड़ना बहुत ही कठिन है, उन स्वजनोंको और सनातन धर्मको भी छोड़ दिया और मुकुन्दके उन चरणोंका अनुसरण किया, जिनकी खोज सदा वेद करते रहते हैं, परंतु पाते नहीं।'

कृष्ण-प्रेम-पथ पथिक कें, रहि न सकैं कुल-कान।
मेंड मिटी, फाजिल भए, बेद-पुरान-कुरान॥

यह वेद-पुरान-कुरानका अपमान नहीं है– वेद-शास्त्र अपना फल देकर उसपरसे अपना अधिकार हटा लेते हैं। नारदजीने कृष्णप्रेमीकी व्याख्या करते हुए कहा है–

वेदानपि संन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते।

'वह वेदोंका भी भलीभाँति त्याग कर देता है। वही अखण्ड, असीम श्रीकृष्ण-प्रेमको प्राप्त होता है।'

है भी यही बात। नावपर सवार उस पार घर पहुँच गये, फिर नावको सिरपर ढोकर ले चलनेकी क्या जरूरत? परंतु यह प्रेम जबानकी चीज नहीं है। श्रीकृष्ण-कृपासे ही मिलता है। आपने ठीक ही लिखा है– 'इन्सान तो इतना ही कर सकता है कि उनको याद करे'– परंतु वह याद भी उनकी कृपासे ही कर सकता है। मैं उन्हें रो-रोकर पुकारता हूँ, ऐसी बात नहीं है। मेरे आँसू तो सूख गये हैं। लोगोंके सामने तो मैं कभी रो ही नहीं सकता। एकान्तमें– वे रुलाते हैं तो रोता हूँ, हँसाते हैं तो हँसता हूँ। इस समय आँखोंमें आँसू आ गये। अब तो बह चले हैं ....

आप अपनेमें श्रीकृष्णप्रेम नहीं देखतीं। कहती हैं– 'श्रीकृष्णप्रेम, ओ भाई साहब, वह मुझे कब मिलेगा?' यही तो प्रेमियोंके दिलका फोटो है। उन्हें कभी यह महसूस होता ही नहीं कि हमारे अंदर भी प्रेम है। इसीसे तो प्रेमका स्वरूप है– 'प्रतिक्षणवर्धमानम्' –प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है। जिस प्रेममें 'बस' है, जो प्रेम यह कहता है कि 'मैं तुझमें पूरा आ गया', वह तो प्रेम ही नहीं है। ज्ञानियोंकी भाँति प्रेमी यह नहीं कहता कि 'बस, अब कुछ भी मिलना बाकी नहीं है। सब मिल चुका, सब कर चुका।' वह खामोश नहीं हो जाता; वह तो एक-एक क्षणमें अनुभव करता रहता है– अपनी प्रेमकी

कमीका। उसमें ज्ञानका अभाव नहीं है। वह प्रेमास्पद प्रियतम श्रीकृष्णके स्वरूपको जानता है, तभी तो सब-कुछ छोड़कर— सबसे नाता तोड़कर उनसे प्रेमका सम्बन्ध स्थापित करता है। परंतु प्रेममें ज्ञान अलग स्वरूपस्थ होकर नहीं रहता, वह प्रेममें घुल-मिलकर छिप जाता है। इसीसे प्रेमी सदा तृप्त होकर भी अतृप्त रहता है। वह देखता हुआ भी नहीं देखता— देखना ही चाहता है; सुनता हुआ भी सुनना ही चाहता है; मिलता हुआ भी मिलना ही चाहता है। यही तो उसका पागलपन है। एक प्रेमिका गोपी अपनी आँखोंकी दशापर कहती है—

नित के जागत मिटि गयौ वा संग सुपन-मिलाप।
चित्र-दरसहू कौं लग्यौ आँखिनि आँसू पाप।।
इन दुखिया अँखियान कौं, सुख सिरजौ ही नाहिं।
देखत बनै न देखते बिनु देखे अकुलाहिं।।

'रातको कभी नींद आती ही नहीं; इससे सपनेमें— ख्वाबमें कभी मिलाप हो जाता था, वह भी नहीं होता। और दिनमें आँखोंमें आँसुओंका पाप लग गया, जो उनका चित्र भी नहीं देखने देता। विधाताने इन दुखियारी आँखोंके लिये सुख रचा ही नहीं; देखते समय देखना बन नहीं पड़ता, और बिना देखे ये व्याकुल रहती हैं।'

यह सच है कि किसी दिलमें जब उनकी प्रेमभरी याद भड़कने लगती है, तब वे आकर उस व्यक्तिके रोम-रोममें व्याप्त हो जाते हैं और फिर तमाम वायुमण्डल कृष्णमय ही हो जाता है। इसीसे तो प्रेमियोंकी यह घोषणा है—

नारायन जाके हिएँ सुंदर स्याम समाय।
फूल-पात-फल-डारमें ताकौं वही दिखाय।।
दर-दिवार दरपन भए, जित देखौं, तित तोहि।
काँकर पाथर ठीकरी भए आरसी मोहि।।

* * *

कानन दूसरौ नाम सुनै नहिं, एकहिं रंग रँगौ यह डोरौ।
धोखेहु दूसरौ नाम कढ़ै, रसना मुख बाँधि हलाहल बोरौ।।

ठाकुर प्रीति की रीति यही, हम कैसेहुँ टेक तजें नहिं भोरौ।
बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ, जो साँवरौ छाँडि निहारति गोरौ।।

तमाम वायुमण्डलव उनसे भर जात है, वे ही दीखते हैं। फिर भी प्रेमीकी तृप्ति नहीं होती। वह सबको भूल जाता है। सबमें उनको देखना तो सबको याद रखना है। वह तो, बस, एक उन्हींको लेकर, उन्हींसे मिल-जुलकर, उन्हींके साथ बातचीत कर, उन्हींमें मन-तन रमाकर अपने आपको भुला देता है। एक 'नारायण' नामके पागल कृष्ण-प्रेमी हुए हैं– पंजाबी शरीर था– वृन्दावन वास करते थे– श्रीकृष्णके बड़े प्यारे थे। वे कहते हैं–

जाहि लगन लगी घनस्याम की।
धरत कहूँ पग, परत कितेहीं, भूलि जाय सुधि धाम की।।
छबि निहारि नहिं रहत सार कछु, निसि-दिन-पल-छिन-जाम की।
जित मुँह उठै तितेही धावै, सुरति न छाया-धामकी।।
अस्तुति निंदा करौ भलेंहीं, मेंड़ तजी कुल-ग्राम की।
'नारायन' बौरी भई डोलै, रही न काहू काम की।।

जरूर वे 'माशूके-आलम' हैं; परंतु प्रेमी– आशिक तो उन्हें, बस, अपने ही 'माशूक' देखना चाहता है। वह अकेला ही उनके प्रेमकी वह 'मोनॉपली' (एकाधिकार) चाहता है। वह कहता है–

आवहु प्रीतम नैन में पलक बंद करि लेउँ।
ना मैं देखूँ और कौं ना तोहि देखन देउँ।।

इसीसे तो प्रत्येक प्रेमिका गोपीके साथ रास-मण्डलमें अलग-अलग श्रीकृष्ण थे। आज भी वही बात है। प्रेमियोंके लिये वे वैसे ही हैं।

बस, आज वे इतना ही करने देते हैं। बहन, क्या लिखूँ– उनकी एक-एक बातमें रंग भरा है। अनन्त– अजीब आनन्दके फव्वारे छूटते हैं। वे किसके साथ कब, कैसे खेलते हैं, किसको कब, किस खेलमें लगाते हैं– वे ही जानें। विचित्र है, अनूठी है उनकी लीला। बलिहारी है, जै जै।

आपका भाई,
हनुमानप्रसाद

साधनाके लिये रतनगढ़में एकान्तवास

मार्गशीर्ष शुक्ल १० वि.सं. १९९६ (२१ दिसम्बर १९३९) को भाईजी दादरीसे चलकर एकान्तवासके लिये रतनगढ़ पहुँचे। वहाँ भी दिनचर्या कुछ परिवर्तनके साथ दादरीकी भाँति ही चलती रही। लगभग पाँच-छः घण्टे एकान्त कमरेमें रहते और शामके समय शहरके बाहर टीबोंमें चले जाते। एक दिन उन्होंने अपने एक प्रेमीको संकेत भी किया कि गोरखपुरकी अपेक्षा दादरीमें और दादरीकी अपेक्षा भी रतनगढ़में श्रीकृष्णकी मधुर लीलाओंके दर्शन नित्य नये रूपमें अधिक होते हैं। वहाँके जीवनकी कुछ झलक नीचे दिये गये श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीको लिखे पत्रोंके अंश पत्रोंसे मिलेगी —

प्रिय श्रीगोस्वामीजी,

.... आप सबको समझा दें—मुझ भीतरी पागलको दूर पड़ा रहने दें। कहीं पागलपन बाहर आ गया तो सबको हैरान होना पड़ेगा। रोक-रोककर रखता हूँ सबके सामने। अन्दर तो उन्माद बढ़ रहा है। क्या लिखूँ।

आपका

हनुमान

गोरखपुरमें मुसलमान भाईयों द्वारा गीताप्रेसके विरुद्ध दुश्प्रचार एवं गीताजयन्तीके जुलूसपर हमला

उपरोक्त समाचार मिलनेपर मिलनेपर भाईजीने रतनगढ़से पत्रों द्वारा किस प्रकार मार्गदर्शन किया, देखें —

रतनगढ़ (बीकानेर)

मार्गशीर्ष शुक्ल १४, सं. १९९६

(२५ दिसम्बर १९३९)

प्रिय श्रीगोस्वामीजी, श्रीमदनलालजी,

सप्रेम हरिस्मरण। आपलोगोंके पत्र मिले। सब समाचार जाने। मैं होता तो ऐसी नौबत न आती या और कुछ हो जाता, किसको पता है। मुसलमान भाई प्रेसके विरुद्ध प्रोपेगंडा कर रहे हैं, सो अच्छी बात है। ये भगवान्‌के विधानसे ही ऐसा कर रहे हैं। इसीमें प्रेसका और हमारा मंगल होगा। वे लोग

सुलह नहीं चाहते, प्रेस तथा साहेबगंजवालोंको फँसाना चाहते हैं, कलक्टरसाहबके कान भर रहे हैं —यह सब बातें स्वाभाविक ही हैं। आपके साथ कोई नहीं है, हिन्दुओंकी ओरसे कोई पैरवी नहीं हो रही है, उनकी ओरसे मुस्तैदीसे काम हो रहा है— ऐसा होता ही है। हिन्दुओंमें ऐसी शिथिलता सभी जगह पायी जाती है। हमारे यहाँ कोई गिरफ्तारी हो तो जमानत देकर छुड़ानेकी चेष्टा कीजिए। वकील रखकर पैरवी कराइये। कोई साथ नहीं है तो क्या है, भगवान् सदा साथ हैं और प्रत्येक कार्यमें उनका मंगलमय हाथ है। श्रीशुक्लजीको सहायता वे करेंगे। मेरी समझमें तो इस कार्यमें शुक्लजीको कार्य करने दीजिये, वे अच्छा काम कर सकेंगे। हरदेवजी आ गये होंगे, वे भी सहायता देंगे। शुक्लजीको भगवान् गाइड करेंगे—जैसा कराना होगा, वैसी ही बुद्धि देंगे। आपलोग सभी इस बातपर विश्वास करके यथायोग्य सम्मति-सहायता देते रहिये। मुझे आना पड़ेगा तो मैं क्योंकर इन्कार कर सकूँगा। आपने घबड़ाकर पत्र नहीं लिखा है, परिस्थिति ऐसी ही है, समझमें आ रही है, परन्तु कुछ डाँवाडोल तो हुए ही हैं जो स्वाभाविक ही है। आपसमें खूब प्रेम बढ़ानेकी तथा एकमतसे काम करनेकी चेष्टा कीजिए। बहुत सावधानी रखिये। भगवद्विश्वास न हिल जाय। और किसीके अहितकी भावना हमारे मनमें न आ जाय। प्रेसकी पोजिसन और उसके आध्यात्मिक रूपकी सच्ची रक्षा इसीमें है। बदनामी हो, प्रेस गोरखपुरसे अन्यत्र चला जाय, उठ जाय, इसमें कुछ भी हर्ज नहीं है। भगवान्का यही विधान होगा तो यही परम श्रेष्ठ है। शायद किसी खास परिवर्तनके लिये या हमलोगोंकी परीक्षाके लिये ही इस काममें प्रेसका सम्बन्ध भगवान्ने जोड़ा है। मुझे सब बातोंसे जानकारी रखते रहिये। श्रीशुक्लजीसे मेरा सादर सप्रेम हरिस्मरण कहिये और कहिये कि भगवान् तथा इष्टदेवपर विश्वास रखकर कर्तव्य-पालन करते रहें। भगवान् सब मंगल ही करते हैं। पता नहीं भगवत्कृपा कब किस रूपमें हमारे सामने प्रकट होती है। ऐसी ही स्थितिमें तो परीक्षा होती है, आपलोग जरा भी घबराइये नहीं। एक अच्छा वकील जरूर कर लीजिए। मुझे लिखिये, यदि किन्हींको पत्र लिखना हो तो लिखूँ। किसी भी परिस्थितिमें धैर्य, साहस, बुद्धि और भगवद्विश्वासको मत खोइये।

आपका
हनुमान

रतनगढ़ (बीकानेर)

प्रिय श्रीगोस्वामीजी,

सप्रेम सादर हरिस्मरण। आपका तथा मदनलालजीका एक-एक पत्र मिला। तार भी मिले थे। तीन-चार दिनोंसे हृदयके पास दर्द कुछ ज्यादा है, पीठमें भी कुछ दर्द है। इस दर्दका सावित्रीकी माँको पता लग गया था, इसीसे आज नहीं आ पाया, नहीं तो मैंने तो आनेका विचार कर लिया था। मुझे मुकदमें आदिका तो कुछ भी भय नहीं है। यदि मनमें कोई संकोच है तो इसी बातका है कि आपलोगोंमेंसे किन्हींके मनमें इस बातको लेकर दुःख न हो कि हमलोगोंकी इस विपत्तिकी अवस्थामें भी भाईजी नहीं आये। इसके अतिरिक्त और जरा भी चिन्ता नहीं है।

श्रीभगवान् मंगलमय है, उनकी देखरेखमें ही सब कुछ होता है। आपका हमारा हृदय इस बातको जानता है कि अपने न तो कोई बुरी नीयत थी, न मुसलमानोंपर या मस्जिदपर आक्रमण करनेकी कल्पना थी, न किसीने आक्रमण किया ही। इसपर भी यदि वे लोग गढ़-गढ़ाकर कोई केस खड़ा कर सकें तो मानना चाहिये कि यही भगवान्की इच्छा है। भगवान्की कृपा ही सब कुछ कराती है। उन्हींके विधानसे उन्हींकी गीताजयन्तीके जुलूसपर हमला हुआ, उन्हींके विधानसे चोट लगी, उन्हींके विधानसे आगे जो कुछ होना होगा, होगा ही। अपने भगवान्के सामने निर्दोष हैं, इसपर कलक्टर साहब हमें क्यों दोषी मान लेंगे? थोड़ी देरके लिये मान लें, किन्हींके उल्टा-सीधा समझा-बुझा देनेसे उनका विचार पलट जाय और वे हमें दोषी ही मानने लगें तो हमारा क्या बिगड़ेगा? हमलोग जबतक भगवान्के सामने निर्दोष हैं, तबतक यहाँकी किसी भी घटनासे हमारे यथार्थ नुकसान कदापि नहीं हो सकता। मान लीजिये, गिरफ्तारियाँ हों, हमारे आदमी पकड़े जायँ तो जमानत देकर उन्हें छुड़ाइये। एक अच्छे वकीलको कर लीजिए, उनकी रायसे सारे काम हों– मामला लड़िये। ठीक सच्ची-सच्ची बात कोर्टमें कह दीजिए। जो होना होगा, हो ही जायगा। यदि हमारा दोष नहीं होगा तो हमपर क्यों कुछ होगा, और यदि कुछ हो ही जाय तो वह किसी पूर्वकर्मके फलदानोन्मुख प्रारब्धके कारण होगा, वह होना ही चाहिए। हमें उसके लिये चिन्ता क्यों करनी चाहिए? थोड़ी देरके लिये मान लिजिये, हमारे किसी कर्मचारीको या

हमलोगोंमेंसे किसीको पूरी पैरवी और सच्चाईपर कायम रहते हुए ही जेल जाना पड़े, तो वह अवश्य ही हमारे कल्याणके लिये होगा। कर्मचारी जेल जायगा तो उसके घरवालोंके लिये भरण-पोषणका प्रबन्ध हो जाना चाहिये, जो हो सकता है। अधिक-से-अधिक कोई बात हो तो वह यही न होगी कि प्रेस वहाँसे उठ जायगा, हमलोग मारे जायेंगे। पर इससे हमारा क्या बिगड़ेगा? भगवान्‌के विधान बिना होगा नहीं। विधानको बदलना किसीके लिये साध्य नहीं है। और बदला भी क्यों जाय, वह मंगलमय भगवान्‌के मंगलमय हाथकी रचना है। हमारे मंगलके लिये ही है। हाँ, यदि हम सच्चाई और भगवद्विश्वासको छोड़कर अपने उद्देश्यसे गिरते हैं तो जरूर गलती करते हैं। मुझे तो इस बातकी जरा भी चिन्ता नहीं है। केस चले, सब बातें बिल्कुल सच-सच कह देनी चाहिये। झूठे गवाह सजानेकी, बनानेकी जरा भी आवश्यकता नहीं। पैरवी अच्छी तरह हो, अच्छे-अच्छे वकील भी रहें। पैसा खर्च हो तो हर्ज नहीं। फिर परिणाम जो कुछ होना होगा, वही होगा। मान लीजिये, प्रेसकी बदनामी होगी, कलक्टरका मन फिर जायगा। इससे क्या बिगड़ेगा? भगवान्‌का मन तो नहीं बदलेगा। आखिर सत्यका परिणाम विजयमें ही पर्यवसित होगा। चाहे वह हमारे इस जींवनमें सामने न आये। मैं आपसे, मदनलालजी, गंगाबाबू, पं.लादूरामजी, बजरंगलालजी, श्रीशुक्लजी महाराज, बगीचेके सभी लोग तथा और सभीसे यह अनुरोध करता हूँ कि भगवान् और सत्यपर तथा भगवान्‌के मंगलमय विधानपर निश्चित विश्वास करके परिणामकी ओरसे तो निश्चिन्त हो जाइये। जो उन्होंने रचा है वही होगा और वही मंगलमय होगा, चाहे देखनेमें भयानक ही हो। जरा भी चिन्ता करके उनकी कृपापर अविश्वास मत कीजिए।

इच्छा यही रहे— गोरखपुरमें शान्ति रहे और प्रेम बढ़े। अपने मनसे किसी भी मुलसमानका बुरा न चाहा जाय। सबका भला हो, सब सुखी हों, यही भाव रहे।

एक अच्छा वकील तय कर लें, उनकी रायसे काम करें। मैंने पं.हरदेवजी शर्माको डालमिया नगरसे बुलानेका तार दिया है, वे शायद पहुँच गये हों। बहुत ही होशियार तथा योग्य पुरुष हैं, उनसे काफी मदद लीजिये। परन्तु विश्वासको रखिये भगवान्‌पर ही, किसी चाल या चालाकीपर नहीं।

मुख्य बात तो भगवत्कृपा और भगवद्विधानपर तथा सत्यपर विश्वास है। जरा भी चिन्ताकी बात नहीं है।

रही मेरे आनेकी बात, सो इस कामके लिये तो मैं अपनी कोई आवश्यकता नहीं समझता। भगवान्‌का रचा हुआ ही हो रहा है, रचा हुआ ही होगा। न मालूम किस रूपमें भगवान् क्या करना चाहते हैं। हाँ, आपलोगोंके चित्तमें मेरे न आनेसे कोई धक्का लगे तो उससे मैं बहुत डरता हूँ। मैं आज ही चला आता, परन्तु नहीं आ सका। इसमें भी भगवान्‌का ही विधान है। अब यदि आपलोग यही समझें कि मेरे आनेसे ही आपलोगोंको सन्तोष होगा तो किसी भी हालतमें मुझे जरा भी इन्कार नहीं है। मैं सदा ही आपके साथ हूँ। अधिक क्या लिखूँ। भगवद्विश्वास, साहस, परिणामके सम्बन्धमें निश्चिन्तता, सत्य न छोड़िये और बुद्धिमानीके साथ कार्य करते रहिये।

आपका
हनुमान

* * * *

रतनगढ़ (बीकानेर)
२९ दिसम्बर १९३९

प्रिय श्रीगोस्वामीजी,

सप्रेम सादर हरिस्मरण। परसों आपका तार मिला था। कल दो तार तथा पत्र दिये थे सो पहुँचे ही होंगे। आज सबेरे आपका तार मिला, उसी समय श्रीचेतरामजी छोटेलालजीका मदुरासे घबराहटका तार मिला। उन्होंने चारोंके गिरफ्तार होनेकी बात लिखकर मुझे तुरन्त गोरखपुर जानेके लिये अनुरोध किया था। यद्यपि दर्द था, परन्तु मैंने यह निश्चय कर लिया, सावित्रीकी माँसे भी सम्मति ले ली कि यदि गोरखपुरको तार देनेपर उत्तरमें बुलानेका समाचार आ जाय तो मैं गोरखपुर चला जाऊँ, इसी निश्चयसे आपको तार दिया गया तथा दादरीमें श्रीजयदयालको तार दे दिया कि मेरे साथ जानेके लिये श्यामलालजी वकीलको तैयार रखो तथा मदुराको भी तार दे दिया था कि मैं गोरखपुरके तारकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ—स्वास्थ्य बहुत अच्छा न होनेपर भी मैं गोरखपुर चला जाऊँगा। आपके तारकी प्रतीक्षा कर रहा था।

इसी समय आपका तार मिला। पढ़कर बड़ा आश्वासन मिला। मैं आपको पहले ही लिख चुका हूँ कि दर्द कुछ बढ़ा हुआ-सा है, परन्तु उस दर्दके कारण मैं आवश्यक होनेपर रुक नहीं सकता। आज तो दर्द भी कुछ कम है। यद्यपि मुझे इस मामलेके कारण कोई चिन्ता नहीं है, न भगवान्‌के मंगलमय विधानमें जरा भी शंका ही है, तथापि प्रेसवाले, साहेबगंजवाले यह अनुभव न करें कि भाईजी हमारी विपत्तिके समय नहीं आये, इसीसे मैंने अपना विचार स्थिर कर लिया था। अब आपका तार मिलनेपर रुक गया हूँ। आपने मेरे आने-न-आनेके बाबत कुछ नहीं लिखा। स्थिति कुछ ठीक है और मेरे दर्दका समाचार आप पा चुके हैं, इसलिये बुलानेकी बात तो कैसे लिखते। और मेरे गोरखपुर जानेसे कुछ सुविधाकी सम्भावना है ही, इसलिये 'ना' भी कैसे लिखते। परन्तु मैंने तो यही समझा कि जैसी घबराहट पहले थी, वैसी अब नहीं है, इसीलिये मैंने गोरखपुरका विचार अभी छोड़ दिया है। कलके और आजके लिखे हुए आपके पत्र मिलनेपर या बीचमें कोई दूसरा तार मिलनेपर पुनः विचार किया जायगा।

यह समझमें नहीं आता कि इन लोगोंको क्यों पकड़ा, ये तो बेचारे निरीह आदमी हैं, पकड़ते ही इन लोगोंकी तो एक बार बुरी दशा हो गयी होगी। हमला तो मुसलमानोंने किया था, उनमेंसे एक भी क्यों नहीं पकड़ा गया? क्या पुलिसकी जाँच पक्षपातपूर्ण हो रही है अथवा कान्फ्रेन्सके समय हिन्दुओंको डराये रखनेके लिये ऐसा किया गया है? कलक्टरका रुख कैसा है? मेरा पत्र उन्हें जरूर दे दिया गया होगा।

वास्तवमें हिन्दुओंको कलक्टरपर यह जोर डालना चाहिये था कि हमलोगोंके शान्तिमय जुलूसपर अकारण ही आक्रमण किया गया, इसलिये उन लोगोंको उचित शिक्षा मिलनी चाहिये, जिससे आइन्दा ऐसा न होने पाये। परन्तु गोरखपुरके हिन्दू कुछ करते ही नहीं, तब क्या किया जाय?

विशेषांकके लिये श्रीगर्देजीको बुलाकर काम शुरू कर देना चाहिये। आपको तो अधिक समय इस काममें लगाना पड़ेगा।

आपका
हनुमान

* * * *

रतनगढ़ (बीकानेर)
४ जनवरी १९४०

प्रिय श्रीगोस्वामीजी,

सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका पौष कृष्ण ७ का पत्र मिला। मैंने कल पत्र लिखा था, पहुँचा होगा। सुलहकी मीटिंगमें जो कुछ बातें होंगी, उनका सार आप लिखेंगे ही।

श्रीज्वालाप्रसादजीने तो वायसराय, गवर्नर, गांधीजी, नेहरूजी आदिको तार देनेके लिए कहा बताते हैं, परन्तु मेरी समझसे उसमें लाभ नहीं है। गांधीजी, नेहरूजीका मत मुसलमानोंके लिये यही होना संभव है कि उनके सामने आत्मसमर्पण कर दो। यद्यपि हमलोग शान्ति ही चाहते हैं, तथापि यह हमारे मतके अनुकूल नहीं है। वायसराय, गवर्नर आदिको तार वगैरह कलक्टरको सूचना देकर या उनसे कुछ न होता दीखे या वे जान-बूझकर अन्याय करते हों और उनसे भलेकी आशा न हो, तभी देने चाहिये। नहीं तो जैसा कलक्टर कह गये हैं, उन्हींको मार्फत गवर्नरके पास अपनी सच्ची बातें जायँ तो और अच्छा है।

श्रीमहावीरप्रसादजीके मार्फत सुलहका प्रस्ताव आ रहा है, सो ठीक है। यदि विश्वसनीय पुरुषोंके द्वारा आये, धोखेकी संभावना न हो तो अपने तो सदा ही सुलह चाहते हैं। आपके लिखनेके अनुसार न तो अपनी किसीसे दुश्मनी है और न अपनी ओरसे हमला या कोई ज्यादती ही हुई है।

गोरखपुरके दंगेके इस मामलेमें श्रीशुक्लजीका प्रयत्न, पुरुषार्थ, दौड़-धूप, साहस, बुद्धिमानी सभी सराहनीय है। इस सम्बन्धमें आप श्रीजयदयालजीको कुछ लिख सकते हैं, श्रीमहन्तजी बाबत भी लिखना चाहिये। इनका उचित एप्रेसियेशन होना चाहिये। सबसे सादर यथायोग्य। श्रीजयदयालजी वाला लेख जल्दी ही भेजनेका विचार है।

आपका
हनुमान

* * * *

रतनगढ़ (बीकानेर)
९ जनवरी १९४०

प्रिय श्रीगोस्वामीजी,

सादर सप्रेम यथायोग्य। आपका पत्र मिला। कलक्टरको लिखे हुए दुसरे पत्रकी नकल मिली। एक जगह उसे बढ़ाकर बहुत ठीक कर दिया गया है। हिन्दू-सभाका डेपुटेशन कलक्टरसे मिला होगा। मुसलमानोंमें जैसा जोश होता है, वैसा हिन्दुओंमें नहीं होता। इसका कारण उदासीनता और अकर्मण्यता ही नहीं है, उदारता, न्यायप्रियता और विचारशीलता भी है। मि. दासका पत्र कल आया है। उसका एक अंश इस पत्रके साथ भेज रहा हूँ। साथ ही मैंने जो उत्तर लिखा है उसे भी भेज रहा हूँ। यह पत्र उनके पास सुरक्षित पहुँचा दीजियेगा। मि. दासके पत्रमें मुसलमानोंका पक्षपात नहीं है– मेरी समझसे न्यायप्रियता है जो एक उत्तम गुण है और हिन्दु-संस्कृतिका आदर्श है। अवश्य ही युगधर्मके अनुसार मुसलमान भाई तथा अधिकारी-वर्ग इसका अनुचित लाभ भी उठा सकते हैं या स्वाभाविक ही परिस्थितिवश इससे हिन्दुत्व कुछ शिथिल हो सकता है। तथापि गुण तो गुण ही है। भगवान्‌के सामने तो सद्गुणकी ही विशेष महिमा है। श्रीचारुबाबूका एक पत्र मिला है। उन्होंने भी मेरे हिन्दू-मुसलमानोंके मेल बने रहनेके भावको विशेष पसन्द किया है, यह भी हिन्दू-चित्तवृत्तिकी एक तस्वीर है। मुसलमानोंमें इस प्रकारकी विचारधारा कम है, यह तो मानना ही पड़ता है। इसका कारण उनकी शिक्षा-दीक्षा, धार्मिक संस्कार आदि ही है।

श्रीबाबा राघवदासजीकी स्कीमोंका क्या हुआ– इसका तो पीछेके पत्रोंसे पता लगेगा। यदि दोनों पक्ष स्वयं मिलकर तय कर लें तब तो अच्छा ही है। मनमुटाव रहना भविष्यके लिये खतरनाक है। यों तो न्याययुक्त प्रयत्न अपनी ओरसे हो ही रहा है।

श्रीगर्देजी महाराज आ गये होंगे। उनसे मेरा सादर प्रणाम कहिये। उनको कोई तकलीफ न हो, इस बातका ख्याल तो आप लोग रखते होंगे। 'साधनांक'का काम अब जोरसे समाप्त हो जाना चाहिये।

आपका
हनुमान

रतनगढ़ (बीकानेर)
१६ जनवरी १९४०

श्रीमदनलालजीसे हनुमानका सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला, उत्तर दिया ही था, पहुँचा होगा। अब मालूम हुआ—मुसलमान भाई समझौतेके लिये तैयार नहीं हुए, मामला कोर्टमें जायगा। इससे संभव है, कुछ भयकी स्थिति पैदा हो जाय। आपको मैं क्या समझाऊँ, आप बहुत समझते-जानते हैं। फिर भी कुछ कहनेकी धृष्टता करता हूँ—जो कुछ हो रहा है वह सभी भगवान्‌के संकेतसे, उन्हींके विधानके अनुसार हो रहा है। जिन लोगोंका कोर्टमें विश्वास है, वे कोर्टमें चेष्टा जरूर करें। अफसरोंसे मिलना, मामला ठीक पेश करना, गवाहियोंसे सच्ची बातें कहलवाना, पुलिस अन्याय न कर सके इसकी व्यवस्था करना, आन्दोलन करना आदि अनेक ऐसी बातें हैं, जो आवश्यक मालूम होती हैं, की जाती हैं और जबतक भगवान्‌में विश्वास पूरा नहीं है तबतक सभीको, लोकसंग्रहार्थ कर्मयोगीको, अन्याय रोकने और अपना पक्ष ऊँचा रखनेके लिये संभावित पुरुषोंको अवश्य करनी भी चाहिये ही। परन्तु जो लोग भगवान्‌में विश्वास जमाना चाहते हैं उनका कर्तव्य कुछ दूसरा ही होता है, वे श्रीभगवान्‌का चिन्तन करें, श्रीभगवान्‌में विश्वास करके उन्हें प्रसन्न करने—उनके प्रिय बननेके लिये उनका भजन-स्मरण करते रहें, योगक्षेमकी चिन्ता न करें। बच्चेको कब क्या चाहिये, उसका किस बातमें हित है— यह सब माँ सोचे, माँ ही व्यवस्था करे। बच्चा तो यह भी न सोचे कि माँ मेरा हित सोचेगी और व्यवस्था करेगी, वह तो बस, माताके परायण हो रहे। गीता-तत्त्वांकमें योगक्षेम-महात्म्य श्लोककी व्याख्या एक बार पढ़कर विचार करें और देखें कि हम जितना प्रयत्न बाह्य रूपसे करते हैं उसका थोड़ा-सा अंश भी भगवान्‌पर निर्भर रहकर उनका चिन्तन-मनन करनेका प्रयत्न नहीं करते। अपने प्रेसमें कमसे कम दो-चार आदमियोंको तो ऐसा भी बनना चाहिये—जो भगवान्‌पर निर्भर करना सीखें। बाहरकी चेष्टा करनेवाले करते ही हैं, वे यथायोग्य करते रहें परन्तु सभीको बाहरी चेष्टामें लगने-लगानेकी क्या जरूरत है? जो बाहरकी चेष्टामें उतना विश्वास नहीं करते—भगवान्‌के विधानमें विश्वास करके उनपर निर्भर ही रहना चाहते हैं—उनको वही करने दें। उत्तम बात तो यह है कि भगवान्‌पर निर्भर करनेवाले साधकको कभी मनमें यह संकल्प नहीं लाना चाहिये कि मैं निर्भर

रहूँगा तो मेरा भगवान् और भी सुन्दर कर देंगे। वह तो बस, निर्भरतासे भजन करता रहे। भगवान् कभी असुन्दर करते ही नहीं। फिर निर्भर भक्तको कामसे क्या मतलब? उसको तो भगवान्के भजनसे ही मतलब है, उसका तो बस यही काम है। और काम बने- बिगड़े, रहे-उजड़े, उनकी ओर उसकी दृष्टि ही नहीं जानी चाहिये। हाँ, यह सत्य है कि जो भगवान्पर निर्भर करता है उसका सँभाल श्रीभगवान् बहुत सुन्दर करते हैं। परन्तु अनुकूलता सब समय अनुकूल स्वरूपमें ही नहीं आती। कभी-कभी बड़े भारी प्रतिकूल अत्यन्त भयानक रूपका नकाब डाले आती है। परन्तु वस्तुतः वह होती है बहुत ही अनूठी, सदाके लिये निहाल कर देनेवाली। यह स्वाभाविक बात है, अटल नियम है, इसमें कभी परिवर्तन नहीं होता। भगवान् कभी असुन्दर और अमंगल करते ही नहीं, फिर जो उनपर निर्भर करके उनका भजन करते हैं, उनके लिये तो 'असुन्दर' और 'अमंगल' शब्द, कोशमेंसे ही निकल जाते हैं। इस बातपर जो तनिक भी विश्वास करते हैं, उनको भगवान्का एकान्त भजन छोड़कर दूसरी चेष्टा क्यों करनी चाहिये? और वे कैसे कर सकते हैं? यह तो हुई कुछ ऊँचे निर्भर साधकोंकी बात। जो सकाम हैं, वे भी यदि भगवान्पर निर्भर करें तो उनका भी परम कल्याण हो सकता हैं। जो सफलता मानव-शक्तिके लाख प्रयत्नोंसे भी असंभव है, वही भगवान्के एक संकल्पमात्रसे हुई तैयार रहती है। द्रौपदीका चीर बढ़नेकी बात क्या उपन्यासकी कहानी है? हम पढ़ते-सुनते हैं, कहते हैं, परन्तु फिर भी काम पड़नेपर विश्वास नहीं कर सकते। यह तो एक प्रकारकी नास्तिकता है। और क्या इसे दम्भ भी कह सकते हैं। क्या यह लौकिक कार्य है इसलिये निर्भरता नहीं करनी चाहिये? मेरी तुच्छ समझमें तो सकाम भावकी पूर्ति भी भगवान्से करानी उत्तम है। माना कि इसमें भक्तिकी कमी है, भगवान्के तत्त्व और महत्त्वका पूरा ज्ञान नहीं है, परन्तु भगवान्को छोड़कर दूसरे उपायोंकी शरण लेना तो व्याभिचार है।

'जग जाँचिय को न जाँचिय तो एक जाँचिय जानकी-जानहि रे।
जेहि जाँचत जाँचकता जरि जाय जो जारत जोर जहानहि रे।'

यह पद केवल गानेका नहीं है। यह तो सिद्धान्त है— माननेका और क्रियारूपमें लानेका। मेरे इस पत्रसे कोई यह समझ सकते हैं कि दूर बैठा उपदेश कर रहा है। स्थितिमें होता, तब पता लगता। यही बात है तो यहाँ आता क्यों नहीं? इसका उत्तर यही है कि मैं कमजोर हृदयका

बुजदिल तो हूँ ही। स्थितिमें होनेपर क्या करता, पता भी नहीं है, परन्तु मनमें ऐसी आती है कि यदि भगवान् चेतना रहने देते तो चेष्टा तो यही करता। न आनेमें इसी प्रकारका-सा कोई कारण भी हो सकता है।

दूसरी बात यह कही जा सकती है कि जैसे भूखे या रोगीको कहें— भैया! 'राम-राम' कर। तो वह कहेगा— मेरे तो प्राणोंकी बनी है और तुम्हें 'राम-राम' सूझता है? ऐसी बात हो सकती है। परन्तु किसीका यह तनिक भी विश्वास हो कि 'राम-राम' से यह भूख भी मिट सकती है और यह रोग भी अच्छा हो सकता है और वह भी ऐसी सुन्दरतासे कि जैसा अन्य उपायोंसे नहीं हो सकता, तो वह यदि कहे कि 'राम-राम' करो, तो चाहे यह बात अच्छी न लगे, मनको रुचे नहीं, कहीं बुरी भी लगे, परन्तु उसके तनिकसे विश्वासके अनुसार वह ऐसा कह तो सकता ही है। कुछ ऐसी ही बात है।

इसलिये मेरा यह निवेदन है कि बाहरकी चेष्टा पूरे खूब उत्साह और लगनके साथ जरूर होनी चाहिये। रुपयेसे जो काम हो सकता है, उसमें भी त्रुटि नहीं करनी चाहिये, दौड़-धूप भी पूरी होनी चाहिये, परन्तु कुछ लोग तो ऐसे भी होने चाहिये जो गीताके उपदेशोंको और सन्तोंकी वाणीको प्रैक्टिकली-कार्यरूपमें परिणत करनेकी भी नम्र चेष्टा करते रहें। चाहे वे पूरी न कर सकें।

मान लीजिये— गीताप्रेस उजड़ जायगा, गीताप्रेसवालोंकी बात नीची हो जायगी। झूठ-मूठ ही वे दोषी भी मान लिये जायँगे और दण्ड हो जायेगा। प्रेसकी जो इज्जत है, उसका लोगोंके सामने जो स्वरूप दिखता है, वह नष्ट हो जायगा। मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि यदि ऐसा भी होगा तो क्या बिगड़ जायगा? अहंकारको छोड़कर कहें तो यह सत्य है कि गीताप्रेसका यह स्वरूप हमारी किसी स्कीम, योजना या शक्तिसे बना नहीं। और अब हमारी स्कीमोंसे और हमारी ताकतसे यदि हम इसके स्वरूपको बचाना चाहेंगे (और जिस शक्तिसे यह बना है, वह शक्ति बिगड़ना चाहेगी) तो वह बचेगा नहीं। बस, उनकी सर्वथा कल्याणमयी व्यवस्थापर आस्था जमाकर आनन्दसे रहिये। चिन्ता करनी ही हो तो यह कीजिये कि उनके चिन्तनमें कमी क्यों होती है? क्या लिखूँ।

आपसे यह प्रार्थना है— करबद्ध प्रार्थना है कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, मुझे करने दिया जाय। आप लोगोंको समझाते रहिए जिसमें मुझे बुलानेमें ज्यादा जोर न दिया जाय। इसीलिये इतना बड़ा पत्र लिख गया। सोचा नहीं था इतना लिखूँगा। कलम चलती ही गयी। जब होश आया, तब बन्द कर रहा हूँ।

आपका
हनुमान

* * * *

रतनगढ़ (बीकानेर)
श्रावण बदी १०, १९९८
(२९ जुलाई १९४०)

प्रिय श्रीदुजारीजी,

... .

बीकानेर आनेके सम्बन्धमें आपका लिखना ठीक है। परन्तु एक बात तो यह है कि मेरा स्वास्थ्य अभी ठीक नहीं है, छातीमें दर्द रहता है। दूसरे, मैं भरसक अलग-सा रहना चाहता हूँ। ज्यादा मिलने-जुलनेमें मुझे बहुत ही भार-सा मालूम होता है। बाध्य होकर मिलना भी पड़ता ही है। इसमें आपको तथा सभी मित्रोंको मेरी सहायता करनी चाहिये।

तीसरे, आजकल मैं दो बजेतक मौन रहता हूँ जिसमें सुबह दस बजेतक तो बन्द रहता हूँ। उस समय मैं अपना कोई खास अध्यात्म-कार्य करता हूँ। मैं चाहता हूँ वह निभता रहे, टूटे नहीं। ऐसी कई बातें हैं, जिनके कारण मैं कहीं भी मनसे जाना नहीं चाहता। यों बाध्य होकर प्रारब्धवश जाना पड़े, तब दूसरी बात है। मुझे आपसे ऐसी ही आशा करनी चाहिये कि आप इस प्रवृत्तिमें सच्चे हृदयसे मेरी सहायता करें। ... ...

कृपा श्रीभगवान्‌की सबपर है।

आपका
हनुमान

रतनगढ़ (बीकानेर)
पौष कृष्ण ५, १९९६
(सन् १९४०)

प्रिय श्रीदुजारीजी,

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समस्त इच्छाओंका आनन्दपूर्वक समर्पण श्रीभगवान्के चरणोंमें ही करना चाहिये। मनुष्यको न तो पूर्ण समर्पण किया ही जा सकता है और न उसमें वैसा लाभ ही है। समर्पणका भाव मनुष्यमें आता है, परन्तु सोच-समझकर भी कर नहीं पाता। जहाँतक अनुकूलता होती है, वहाँतक तो समर्पण-सा प्रतीत होता है। परन्तु प्रतिकूलता आते ही चित्तमें क्षोभ हो उठता है। इसलिये बस– इस युगमें एकमात्र भगवान्का नाम-जप ही सबके लिये सरल अवलम्बन है।

आप अपने रहनेमें विरोधकी विस्तृत व्याख्या चाहते हैं सो ठीक है, मैं क्या व्याख्या करूँ, स्पष्ट सब कह चुका हूँ। सचमुच अभी तो मैं जैसी साधना करना चाहता था, उसके उपयुक्त परिस्थिति ही नहीं हो पायी है, होगी कि नहीं, पता नहीं। परन्तु मेरे पास अन्य कोई व्याख्या नहीं है। इतनी ही बात है कि एक स्वामीजी (चक्रधरजी) को छोड़कर सत्संगियोंमें किसीके भी पास रहनेमें मनमें नाना प्रकारकी आपत्ति होती है और अनुमानसे ऐसी भगवत्प्रेरणा भी प्रतीत होती है। श्याम-राधा, हरिकृष्ण, सबसे हरिस्मरण। फूलाँबाईसे राम-राम कहिएगा।

आपका भाई
हनुमान

रतनगढ़में अधिक अस्वस्थ होनपर अजमेरमें उपचार

वि.सं.२००० (सन् १९४२) में पूज्य भाईजी रतनगढ़में अधिक अस्वस्थ हो गये थे। ऐसा प्रतीत होने लगा कि शरीर भी रहेगा या नहीं। अजमेरमें चिकित्सासे लाभ हुआ। इस सम्बन्धमें निम्नलिखित पत्र पठनीय हैं –

अजमेर, मिगसर सुदी ५, २०००
(१ दिसम्बर १९४२)

प्रिय भैया रामकृष्ण (डालमिया),

सप्रेम राम-राम। तुम्हारा पत्र मिला। दो पत्र रतनगढ़से होकर मिले। तुम्हारा अकृत्रिम प्रेम सर्वथा अतुल्य है। मेरी गुदामें अन्दरकी ओर एक घाव हो गया है और उसका पस ऊपरको रास्ता बना रहा है, जिससे अन्दर-ही-अन्दर पस निर्मित हो रहा था। जबतक आपरेशन टेबलपर नहीं गया, तबतक इस बातका पूरा पता किसीको न लगा। ... ... तो निर्णय हो गया था। दर्द बहुत ज्यादा था इससे क्लोरोफार्म करके आपरेशन किया गया। आज चौथा दिन है, अब धीरे-धीरे घाव भरेगा। अन्दरका घाव होनेसे टट्टी जानेमें और ड्रेसिंगमें कुछ कष्ट होता है। कल तीसरे दिन पट्टी खोली थी। आज ड्रेसिंग किया, घावकी हालत सन्तोषजनक है। आशा तो है पन्द्रह-बीस दिनोंमें बिलकुल आराम हो जायगा। शरीर बहुत ही कमजोर हो गया है। रक्त प्रायः सूखा जा रहा है। इधर महीनोंसे शरीर रुग्ण चल रहा है। ऐसी हालत चलती रही तो सम्भवतः बहुत दिन शरीर नहीं चलेगा।

मुझे कुछ भी चिन्ता नहीं है। यह अच्छी तरहसे ज्ञान है कि यहाँका सम्बन्ध इस शरीरको लेकर ही है। पहले भी हमलोग कहीं थे, वहाँ भी घर-परिवार रहा होगा, उसकी अब याद भी नहीं आती। वैसे ही मरनेके बाद यहाँकी स्थिति होगी।

अवश्य ही सावित्रीकी माँ कभी-कभी ऐसा महसूस करती है कि मेरे बाद उसकी देख-रेख कौन करेंगे। इस समय तो वह सांसारिक दृष्टिसे आराममें है। नौकर-चाकर हैं। चार सौ-पाँच सौ अपने मासिक खर्च लगता है। पचासों आदमी आदर करते हैं। पीछे घरमें कोई भी देवर-पुत्र आदि न रहनेसे कौन सँभालेगा और किस तरह बितायेगी? उसने मुझसे कभी कोई बात कही नहीं। पूछनेपर भी कभी कुछ नहीं कहा। परन्तु उसके ढंगसे कभी-कभी ऐसा अनुमान होता है कि वह भगवान्में विश्वास करती है। पढ़ी-लिखी न होनेपर भी समझती है, औरोंको काम पड़नेपर समझाती है, परन्तु किसी अभावका-सा अनुभव करती है, ऐसा मालूम होता है।

भैया! भगवान्के बिना संसार है ही अभावमय। यहाँ किसी भी स्थितिमें

किसीको भी अभावके अभावका अनुभव नहीं होता। किसी-न-किसी अभावकी भावना मनमें खटकती ही रहती है और जबतक अभावका अनुभव है, तबतक किसी भी हालतमें मनुष्य सुखी नहीं रह सकता। भगवान्‌का कभी अभाव नहीं होता। जो भगवान्‌को सर्वथा-सर्वदा अपने साथ, अपने समीप समझता है, वही अभावसे मुक्त हो सकता है और अभावकी मुक्ति, मुक्ति है।

यह पत्र तुम्हें बिछौनेपर पड़े-पड़े लिख रहा हूँ। अब और ताकत नहीं, फिर लिखनेका मन है।

तुम्हारा भाई
हनुमान

* * * *

अजमेर, १०-१२-१९४२
मार्गशीर्ष शुक्ल १४, २०००

प्रिय भैया रामकृष्ण,

सप्रेम राम-राम। तुम्हारा एक पत्र परसों मिला था। एक आज मिला। शरीरका हाल पूछा सो शरीरका हाल वैसे ही है। घावकी हालत डॉक्टर बहुत अच्छी बताते हैं। ऑपरेशनके बाद कल केस्टर आयलसे टट्टी लगाई गई थी, इससे तकलीफ रही। दर्द कुछ ज्यादा रहा। बेचैनी भी रही। आज कलसे ठीक है।

तुम्हारा पत्र पढ़कर हृदय गद्‌गद हो गया। भैया! सच है– तुम सब मेरे ही हो। मेरे चित्तमें कोई भी अशान्ति नहीं है। पद-पदपर भगवान्‌की कृपाका अनुभव होता है। यद्यपि इस बारकी बीमारियाँ बहुत ही पीड़ाजनक रहीं– परन्तु इनमें भी समय-समयपर भगवान्‌की मंगलमयी कृपाकी तो झाँकी होती ही रहती है। यह जगत् भगवान्‌का नाट्य-मंच है। सभी रसोंके अभिनयकी आवश्यकता है, परन्तु प्रत्येक अभिनयके अन्तरालमें वही है। असलमें तो खेल और खिलाड़ी दोनों ही उसीके मंगलमय स्वरूप हैं।

तुम बहुत प्रसन्न होओगे। अपने यहाँकी काम-काजकी शृंखला और अव्यवस्थाओंकी चिन्ता चारपाईपर पड़े-पड़े भी कभी-कभी हो जाती है और प्रबल रूपसे होती है।

तुम्हारा
हनुमान

सेवाके कार्य

पता नहीं, भगवान्‌की किस प्रेरणासे मेरे जीवनमें गरीब, अनाथ, विविध कष्टोंसे पीड़ित नर-नारियोंकी तथा गौ आदि पशु-जातिकी सेवाके सुअवसर प्राप्त होते रहे हैं— और उनमें अनायास ही अबतक इतनी अपार 'धनराशि'का उपयोग हुआ है, जिसकी संख्यापर विश्वास करना कठिन है। फिर आश्चर्य यह है कि बाढ़-अकाल आदि सार्वजनिक सेवाके कुछ कार्योंके अतिरिक्त कहीं किसी सेवाका विज्ञापन नहीं हुआ है और न ऐसे सेवाकार्यके लिये कभी किसीसे कुछ माँगा ही गया है। भगवान्‌की प्रेरणासे भगवान्‌की वस्तु भगवत्स्वरूप महानुभावों तथा देवियोंसे प्राप्त होती रही और भगवत्स्वरूप अभावग्रस्त नर-नारियोंकी सेवामें यथायोग्य लगती रही। मेरी अनुभूतिमें इसमें सभी दिशाओंमें केवल भगवान्‌की मङ्गलमयी प्रेरणाने काम किया। प्रत्येक सत्कर्ममें जरा भी अभिमान न करके उसका एकमात्र कारण मङ्गलमयी भगवत्प्रेरणाको ही मानना चाहिये। मैंने ऐसा मानने तथा अनुभव करनेकी चेष्टा की है। यही सभीको करना चाहिये।

* * * *

गोरखपुर आनेके पश्चात् (सन् १९२७ से) अर्थकी दृष्टिसे मैं निःस्व रहा हूँ—न मेरे पास अपना एक पैसा है, न कहीं कुछ जमा है, न मैंने कुछ कमाया है। गीताप्रेस, 'कल्याण' या अन्य किसी भी संस्थासे मेरा आर्थिक सम्बन्ध नहीं रहा; न मैंने भेंट-पूजा-उपहारके रूपमें किसीसे भी एक पैसा कभी लिया है। अवश्य ही मेरे द्वारा विभिन्न संस्थाओंकी, भूकम्प, बाढ़, अकाल, अग्निकाण्ड आदि दैवी प्रकोपोंसे पीड़ित प्राणियोंकी एवं विधवा बहनोंकी सहायतामें प्रचुर अर्थ व्यय हुआ है, पर वस्तुतः उसमें मेरा अपना कुछ भी नहीं था। यह सब हुआ है उन लोगोंके भाग्यसे और दाताओंके भगवत्प्रेरित या स्वेच्छाप्रेरित दानसे। इसके लिए किसीपर दबाव डालनेकी बात ही नहीं थी। मैंने न तो किसीसे माँगा है और न अपील की है, वरन् परिस्थितिवश कभी-कभी दानकी रकम पूरी-की-पूरी या अधूरी वापस कर दी है। जब 'भारतीय-चतुर्धाम-वेद-भवन-न्यास'का निर्माण हुआ और उसके लिए दानकी अपील प्रकाशित हुई, तब उसमें सब ट्रस्टियोंके साथ मेरा भी नाम प्रकाशित

कर दिया गया, पर मैंने उसमेंसे अपना नाम निकलवा दिया और तब पत्रोंको भिजवाया। मैंने कभी अर्थके लिए की जानेवाली अपीलमें अपना नाम नहीं दिया है। इस प्रकारकी सहायताके लिए जो पैसे आते थे, उनमेंसे मैंने एक-एक पैसेका हिसाब रखा है, किसकी सेवामें वे पैसे लगे, यह भी बराबर लिखता रहा हूँ। तीन वर्षतक उस हिसाबको रखता था। तीन वर्षके पश्चात् उसे नष्ट कर डालता था। कहाँसे पैसा आया, किस-किसको दिया गया– इससे सम्बद्ध नाम मैं यथासम्भव ज्ञात नहीं होने देता था। कारण, मैंने जिसको जो-कुछ दिया है, वह भगवद्भावसे दिया है, वह मेरी अर्चाका एक स्वरूप रहा है। जिस कार्यके लिए जितने पैसे प्राप्त होते थे, उस कार्यमें उतने पैसे अवश्य लगा देता था। चेष्टा तो यह रखता था कि उसमें कुछ अपने पाससे भी सम्मिलित कर दूँ। मेरे पासका अर्थ है–मेरे ऐसे साथी, ऐसे स्वजन, जिनका मुझसे कोई अलगाव न रहा हो।

* * * *

बाढ़ एवं अकालके समय कितने बड़े रूपमें वे सेवामें लग जाते थे, इसका अनुमान निम्न पत्रसे लगाया जा सकता है–

गोरखपुर
श्रावण कृष्ण ११ सं. १९९१
(५ अगस्त १९३४)

प्रिय श्रीदुजारीजी,

सप्रेम राम-राम। ... ...

इस समय हमलोग बाढ़के काममें लगे हैं। पानी चार फीट घट गया है, परन्तु गाँव अभी पानीमें हैं। यहाँ गीताप्रेसकी ओरसे छः हजार पाँच सौ आदमियोंको रोज खिलाया जाता है और गाँवोंमें अनाज नावोंद्वारा भेजा जाता है। प्रायः सभी लोग काम कर रहे हैं। ... ...

आपका
हनुमान

* * * *

इसी सन्दर्भमें एक घटनाकी चर्चा करते हुए वे लिखते हैं—

एक बार कपड़ा बाँटनेके लिए हमलोग देहातोंमें गये। पाँच-छः गाँवोंमें सात-आठ घर हमें ऐसे मिले, जो बाहरसे बन्द थे। पूछनेपर पड़ोसियोंने बताया कि इन घरोंकी बहनोंके पास पहननेकी साड़ी नहीं है। जो साड़ी है, वह इतनी फट गयी है कि शरीर दिखाई देता है। अतएव वे बहनें घरको बन्द करके उसीमें रहती हैं। आप भीतर साड़ी फेंकिये और आवाज दीजिये। वे आपकी साड़ी पहनकर बाहर आ सकेंगी। वैसा ही किया गया। बात सर्वथा सत्य थी। मेरी आँखोंमें अपने देशकी बहनोंकी यह दुर्दशा देखकर आँसू आ गये। मनमें आता है कि यदि हमारी बहनें चार-पाँच सौ रुपयेकी साड़ी न पहनकर, तीस-चालीस रुपयेकी साड़ियाँ पहन लें और जो बचे उसमें वे पाँच-छः रुपये मूल्यवाली साड़ियाँ खरीदकर पचासों बहनोंको पहना दें तो कितना अच्छा हो! देशकी एक भी बहन नंगी न रहे। बढ़िया कीमती कपड़े पहनना पाप है।"

* * * *

डालमिया दादरी
मार्गशीर्ष कृष्ण ३०, १९९६
(११ दिसम्बर १९३९)

प्रिय श्री ... ...,

सप्रेम हरिस्मरण। भाई ... ... यहाँ आये थे। उनको मैंने पाँच सौ रुपयेकी चिट्ठी आपपर लिखकर दी है सो चिट्ठी देनेपर उन्हें पाँच सौ रुपये दे दीजियेगा। रुपये चाहे मेरे नाम लिख लीजिये, चाहे प्रेसके। दो-तीन महीनेमें ये रुपये आपको मिल सकें, ऐसी व्यवस्था करनेका विचार है। बात यह है भाई ... ... इस समय बहुत ही संकटमें हैं, वह यहाँ मुझसे रुपये माँगने नहीं, परन्तु घबराकर और सहारा न देखकर सलाह लेने आये थे। उनकी बात सुनते ही मेरी आँखोंके सामने रामायणकी चौपाइयाँ मानो मूर्तिमान होकर नाचने लगीं

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी।।
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना।।

जिन्ह कें असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठि करत मिताई।।
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा।।
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई।।
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा।।

* * * *

धीरज धर्म मित्र अरु नारी । आपद काल परिखिअहिं चारी।।

मेरे पास कोई सहायताकी आशासे आता है तो उसके सामने आते ही मुझे ऐसा प्रतीत होता है—जैसा कर्जदारको महाजन प्रतीत होता है और जैसे उसका सिर संकोचसे नीचा हो जाता है, वैसे ही मेरा भी हो जाता है। ··· ··· ··· सहायताके लिये नहीं आया था, यह तो मित्र था, इसका उतना ही अधिकार है, जितना मेरा। मैं कुछ कर सकता तो बड़े आनन्दसे करता, परन्तु मेरे पास सिवा उसको भगवान्‌का भजन करनेकी सलाह देनेके और कुछ साधन नहीं है, मैंने यही उसे बतलाया। मुझे उसके घरकी हालत पूछनी चाहिये थी, परन्तु मैंने नहीं पूछी। उसके घरसे आये पत्र अकस्मात् मैंने पढ़ लिये। पता लगा कि घर-खर्चके सामानके बीस-बीस, तीस-तीस रुपयेके लिए बड़ी बुरी तरहसे तकाजे हो रहे हैं। तब मैंने कहनेपर पाँच सौ रुपयेकी चिट्ठी लिख दी। दो-तीन महीनेमें रुपये वापस आपको दे दें तो ले ही लीजियेगा, तकाजा न कीजियेगा। नहीं तो किसी तरह व्यवस्था करके रुपये मैं आपको भेज ही दूँगा।

आपको यह पत्र लिखकर *'गुन प्रकटे अवगुनहि दुरावा'* इसके विरुद्ध मैं कर रहा हूँ। खैर, यह बात किसीपर भी प्रकट न होने दीजियेगा। न ··· ··· ··· की हालत ही किसीको बतलाइयेगा। पाचसौ रुपयेका एक लिफाफा दे दीजियेगा।

आपका
हनुमान

* * * *

ऐसे अवसर भी आये जब सहायताके लिये वे अपनी पत्नीके गहनोंतकको बेचनेमें संकोच नहीं करते थे। श्रीमोहनलाल सारस्वत (रतनगढ़) को लिखे गये निम्नांकित पत्रमें इस प्रकारकी एक घटनाका उल्लेख है —

॥श्रीहरिः॥

गोरखपुर, जेठ बदी २, सं. २०१०
(३० मई १९५३)

प्रिय श्रीमोहनजी,

सादर सप्रेम हरिस्मरण।

आपका तारीख २७-५-१९५३ का पत्र मिला। एक कार्ड जयपुरसे मिला था। ··· की पत्नीको ····· मासिक देकर रसीद लेते रहियेगा। श्री ··· ··· के बाबत लिखा, सो ठीक है, मुझे स्वयं उनकी बड़ी चिन्ता है। उनकी बीमारीकी स्थिति सुनकर मैं और कुछ भी नहीं कर सकता, जो-कुछ व्यवस्था हो सकी उनको दे दिया गया; भविष्यमें (छः महीनेके लिए सोचकर) सौ रुपये प्रतिमास भेजनेकी बात उनसे कह दी है। पर आप जानते हैं, मैं तो सर्वथा अकिंचन हूँ। मेरे पास पैसा नहीं। दुनियाकी आर्थिक स्थिति इतनी कमजोर हो गयी है कि पहले लोग अपनी इच्छासे अच्छे काममें पैसा लगानेको कहते थे, अब वह तो सर्वथा बन्द हो गया है— कहनेपर भी नहीं होता। मैं बंबईसे काम छोड़कर इसीलिए आया था कि एक पैसा भी कमाऊँगा नहीं, पैसेका सम्बन्ध किसीसे रखूँगा नहीं, गरीबीसे रहूँगा। लगभग बीस वर्षोंतक ऐसा निभ गया। उसके बाद मायाके चक्करमें फँसा। पैसोंका सम्बन्ध होने लगा— चाहे परोपकारके लिए ही हो, परन्तु किसीसे माँगा नहीं। इधर दो-तीन वर्षोंसे मित्रोंके, अभावग्रस्तोंके आग्रहपर लोगोंसे कहनेका कुछ काम पड़ा। बड़ा कटु अनुभव हुआ। मनमें ग्लानि हो गयी। कहनेपर काम नहीं हुआ। यदि कुछ हुआ तो बड़े भारी एहसान तथा ऋणका बोझ उठाकर। मित्र लोग तथा जिनके अभाव है, वे इस बातको कैसे समझें? मैं बहुत असमंजसमें पड़ जाता हूँ। श्री ···· से कह दिया। पर मेरे पास एक पैसा भी नहीं, प्रेसकी रोकड़से— उचंतमें लेकर उनको रुपये दे दिये, किन्तु अभीतक वे वापस नहीं किये जा

सके। पिछले दिनों एक सज्जनको छः सौ रु. देने थे– सहायतामें। कहीं प्रबन्ध नहीं हुआ– सावित्रीकी माँका एक गहना बेचकर दिया। यह स्थिति है! कैसे लेता-देता हूँ, इसीसे आप अनुमान कर सकते हैं। किससे कहूँ? लाभ भी क्या है? इसीसे श्री ··· ··· को पत्र नहीं दिया। उनके दो पत्र आये, एक पहले आया था, दूसरा आज आया। आप उन्हें मेरे नाम लिखकर एक सौ रुपया दे दीजियेगा।

उन्होंने दो सौ सत्यासी रु. अंदाज ऋणके लिखे हैं, मासिक खर्चके भी एक सौ पचास रु. अंदाज बतलाये हैं और ठंडी जगह जानेकी बात लिखी है। बातें तीनों ही ठीक हैं, पर मैं उन्हें क्या लिखूँ? मेरे पास कोई व्यवस्था नही है। सौ रु. महीना तो छः महीनेतक मैं किसी प्रकार भेजता रहूँगा, पर इससे अधिक कुछ भी करनेकी मेरी परिस्थिति नहीं है। उनके ऋणके रुपये मैं शीघ्र भेज दूँ, ऐसी मेरी बड़ी इच्छा है, पर जबतक व्यवस्था न हो तबतक मैं क्या लिखूँ? ··· ··· ··· उनके बाहर जाने बाबत भी मैं क्या लिखूँ? उनके शरीरपर बुरा असर न पड़े, इसलिए उनको न लिखकर ये समाचार मैंने आपको लिखे हैं। आप इनका स्पष्ट सारांश उन्हें बता दीजिये। मैं हृदयसे उनकी सेवा करना चाहता हूँ, पर कर सकूँगा तभी, जब भगवान् चाहेंगे। उनको मैं अभी पत्र नहीं लिख रहा हूँ।

आपका भाई

हनुमान

सार्वजनिक संस्थाओंसे सम्बन्ध

गोरखपुरमें कई सार्वजनिक संस्थाएँ बनीं, उनसे सम्पर्क स्थापित हुआ। इस समय दो संस्थाएँ काम कर रही हैं– (१) 'कुष्ठ सेवाश्रम'; (२) 'मूक-बधिर विद्यालय'। दोनों ही मानव-सेवा करनेवाली संस्थाएँ हैं, दोनोंमें ही बड़ा उपयोगी कार्य हो रहा है। इन संस्थाओंकी जो कुछ सेवा बन सकी है– उस सेवाके उत्तराधिकारी बहुत लोग हो सकते हैं।

इनके अतिरिक्त एक अखिल-भारतीय संस्था है– 'भारतीय चतुर्धाम वेद-भवन-न्यास'। उत्तरप्रदेशके तत्कालीन राज्यपाल साधुमना श्रीविश्वनाथ-दासजीके मनोरथ तथा प्रयासके फलस्वरूप इसकी प्रतिष्ठा हुई थी। श्रीअनन्तशयनम् आयंगर महोदय इसके अध्यक्ष हैं और श्रीविश्वनाथदासजी और मैं, इसके संयुक्त-मन्त्री।

* * * *

जीवनमें उतारने योग्य आदर्श क्रियायें

कलकत्तामें हमारी दूकान पारख-कोठीमें थी। तो वहीं पारख-कोठीमें श्रीलक्ष्मीनारायणजी मुरोदियाकी दूकान थी। इसलिये उनसे मेरा बहुत प्रेम हो गया। मैं उनको ताऊजी कहता था। वे ऐसी बढ़िया सेवा करते कि उनकी कुछ बातें आपको बताता हूँ। दो आदमी लड़ते तो वे बीचमें पड़ जाते। अपने-आप ही बीचमें पड़ जाते, यह परवाह न करते कि लड़नेवाले हमें क्या कहेंगे– वे हमें गाली देंगे या पीट देंगे! उनको गाली देते तो खड़े-खड़े सुनते रहते। अब कोई गाली कहाँतक देगा? गालियोंका कोष समाप्त हो जाता तो बोलते– बोलो और कुछ। तो एक आदमी खीज गया। उसने कहा– लक्ष्मीनारायण! तुम ऐसे दुष्ट हो कि संसारमें तुम्हारी कहीं खोज नहीं रहेगी। वे हँसने लगे, बोले– भाई, तुमने आशीर्वाद तो बहुत अच्छा दिया, पर हमारे कर्म ऐसे नहीं दीखते कि हमारी धरतीपर खोज न रहे। यह तो तब हो, जब हम मुक्त हो जायँ। अब सामनेवाला क्या बोलता, हँसने लगा। इतनेमें दूसरा आदमी आया और बोला– देखो, कितनी गाली देता है। ये बोले– हमें सुननेमें मजा आता है। वह बेचारा चुप हो गया।

* * * *

उनकी एक घटना और सुनाऊँ। दो भाइयोंमें आपसमें झगड़ा हो गया। यह सच्ची घटना है। भाइयोंमें बँटवारा होने लगा– उनके घरमें एक अँगूठी थी। एक बोला– यह अँगूठी मैं लूँगा, दूसरा बोला– मैं लूँगा। दूसरा भाई बोला– इसके बदले रुपया ले लो, पर रुपया लेनेके लिए कोई तैयार नहीं। इस बातका लक्ष्मीनारायणजीको पता लगा। वे बिना बनाये पंच बन गये। उनके घर चले गये और बोले– सुना है, आपलोगोंका आपसमें झगड़ा हो रहा है। वे बोले– हाँ बाबू, झगड़ा तो हो रहा है। ये बोले– हम आपलोगोंको झगड़ा मिटा देंगे। हमें बताओ क्या झगड़ा है? वे बोले– आप झगड़ा मिटा दें तो बहुत अच्छा है। हमारी एक हीरेकी अँगूठी है, ये बोलते हैं हम लेंगे, मैं बोलता हूँ, मैं लूँगा। ये बोले– हम सोचते हैं, देखें तुम्हारा झगड़ा मिटानेकी चेष्टा करेंगे। दो-चार दिन बाद जिसके पास अँगूठी थी, उसके घर पहुँचे। उससे बोले कि वह अँगूठी आपके पास है न? जरा एक बार मुझे वह अँगूठी दिखाइये। उसको अच्छी तरहसे देखा। उस समय उसकी कीमत पचीस हजार

रुपयें थी। पचीस हजार रुपये उस समय बहुत बड़ी चीज थी। देखकर बोले– अच्छा, हम कल आयेंगे। हम बात करके आयेंगे। दूसरे दिन फिर उसके घर पहुँचे। उससे बोले– देखो भाई! आपको अँगूठी लेनी है न, झगड़ा तो नहीं करना? वह बोला– अँगूठी मिल जाय तो फिर झगड़ा किस बातका? ये बोले– एक बात करो, इस अँगूठीको ले जाकर घरमें रख दो और पाँच-सात वर्षतक इसे बाहर नहीं निकालना। दूसरे भाईको तो हमने समझा दिया है, पर तुम बाहर निकालोगे तो वह अपना मान भंग समझेगा। अँगूठी न उसके पास पहननेको, न तुम्हारे पास। तुम अँगूठी पहनोगे तो दिक्कत होगी, नहीं तो हम उसे समझा देंगे। वह बोला– हम बाहर नहीं निकालेंगे, अन्दर ही रखेंगे। इन्होंने वैसीकी वैसी दूसरी अँगूठी अपने रुपयोंसे बनवाई। दूसरे भाईके पास गये और बोले– अँगूठी तो हम ले आये हैं, पर एक बात है, तुम उसे जाकर कह दो कि अँगूठी हमें मिल गई, हम जीत गये तो वह अपना मानभंग समझेगा। अँगूठी देकर बोले कि इसे तुम घरके अन्दर रखना, उसे दिखाना नहीं कि अँगूठी हमने तुम्हें दे दी है। वह मान गया। बोला– बाबूजी! ठीक है, मैं अँगूठी अन्दर ही रख लूँगा। दोनों भाइयोंका झगड़ा मिट गया और बहुत प्रेम हो गया। वे आपसमें मिलने लगे, बोलने लगे। अब वह बात तो भूल गई। पाँच-सात वर्षोंके बाद दोनों अँगूठी पहनकर आ गये। दोनों एक-दूसरेसे पूछने लगे कि तुम्हारे पास अँगूठी कहाँसे आई? दोनों ही बोले– हमें तो लक्ष्मीनारायणजी दिलवा गये। लक्ष्मीनारायणजी उस समय जीवित थे। दोनों भाई उनके पास गये और बोले– बाबूजी! यह अँगूठी दोनोंके पास कैसे आ गई? वे बोले– तुम दोनों चाहते थे, इसलिये दोनोंके पास आ गई। वे बोले– एक की दो कैसे हो गई? इन्होंने कहा– दो न होती तो झगड़ा कैसे मिटता? इस प्रकार झगड़ा मिट गया।

असली सेवा

(१)

उनकी एक बात और बताऊँ। वे रास्तेमें जा रहे थे। रास्तेमें एक व्यक्ति जा रहा था, उसके पैरमें चोट लग गई थी। वह बहुत प्रतिष्ठित व्यक्ति था, पर गरीब था। उसके सामने यह कैसे कहें कि आपको किरायेकी गाड़ी कर दें। इससे उसकी प्रतिष्ठामें धक्का पहुँचता। यह बहुत

ध्यान रखनेकी बात है कि जिसकी कुछ सेवा की जाय उसकी प्रतिष्ठाको आँच न आने पाये। ये उसके पीछे ठहर गये। उस समय कलकत्तेमें मोटरें बहुत ही कम व्यक्तियोंके पास थीं। बन्द घोड़ा-गाड़ी चलती थीं। इन्होंने एक गाड़ी भाड़ेपर की और उसमें स्वयं बैठ गये। चलानेवालेको कहा—जरा धीरे-धीरे चलाना। धीरे-धीरे उसके पाससे निकले तो बोले—भाईजी! मैं गाड़ीमें अकेला बैठा हूँ, आप भी आइये, बैठ जाइये, बातें करते चलें। अब वह कैसे 'ना' कहे। वह समझ ही नहीं पाया कि गाड़ी मेरे लिये की है; यह है असली सेवा।

(२)

एक हमारे बद्रीदासजी लोहिया थे। वे वृद्ध थे, शायद उस समय साठ से ऊपर उम्र थी। वे सेवा करनेमें इतने निपुण थे कि सेवा करानेवालेको पता भी न लगे और वह सेवा स्वीकार भी कर ले। सेवा करने हर समय तैयार, पर सेवाका कोई विज्ञापन नहीं। कोई व्यक्ति पासमें बैठा है, सर्दीका समय है, उसे भी सर्दी लगती है। वे यह नहीं कहते कि आपके लिये कम्बल या रजाई ला दें। पूछनेसे वह बेचारा संकोचसे कहेगा—नहीं-नहीं, कोई आवश्यकता नहीं है। वे अपने-आप जाते और दो-चार कम्बल ले आते। लाकर पासमें रख देते। स्वयं भी कम्बल ओढ़कर सो गये और उससे कहा—आप भी सो जाइये, कम्बल पासमें फालतू पड़ी है, आपको जँचे तो ओढ़ लीजिये। आपके लिये तो मँगाई नहीं, ऐसे ही फालतू पड़ी है। अब महाराज सर्दी तो उसे लगती ही थी, उसने भी कम्बल ओढ़ लिये। ऐसी सेवा करते थे वे। दूसरी बात, उनके पिता बड़े वृद्ध थे, वे बीमार थे। पिताको थूकना हो तो बर्तन लेने कौन जाय—हाथ सामने कर देते और पिताजी थूक देते। एक दिन मैं उनके पिताजीसे मिलने गया। मैंने प्रणाम किया, उनके पास बैठ गया। वे गद्गद हो गये, आँखोंसे आँसू निकलने लगे। मुझसे बोले— आपको पता है कि नहीं? मैंने कहा—क्या? बोले—मेरा बद्री मुक्त हो गया। आशीर्वाद हृदयसे निकलता है। यह मेरी इतनी सेवा करता है कि यह तो मुक्त हो गया। यह है माता-पिताकी सेवाका आदर्श। डॉक्टर बुलाने और नर्स रखनेसे सेवा नहीं होती। सेवा करनेवालेके मनकी होती है।

(३)

एक बारकी बात है, हिन्दी-साहित्य सम्मेलनका अधिवेशन हमारे यहाँ गोरखपुरमें हुआ। उस समय हमलोग गोरखनाथ मन्दिरके पास एक छोटे-से स्थानमें रहते थे। सम्मेलनमें बाहरसे जो महानुभाव आये थे, वे कहीं किसी कॉलेजमें ठहरे थे। वहाँ उनकी व्यवस्था कुछ ठीक ढंगसे हुई नहीं। उनमेंसे दस-बारह व्यक्ति हमारे यहाँ आ गये। उस समय हमारे यहाँ न चारपाई थी, न अच्छे पक्के फर्श बने हुए थे, न पक्की छत थी। आनेवालोंमें रामकुमार वर्मा, रामनरेश त्रिपाठी, बनारसीदास चतुर्वेदी जैसे महारथी लोग थे। उस समय हमारे यहाँ एक साधन-समिति बनी हुई थी, उसमें यहींके लोग सदस्य थे। उन लोगोंके आनेकी बात हुई तो एक दिन रात्रिमें बात हो गई कि यहाँ उन लोगोंकी ऐसी सेवा होनी चाहिये कि ये लोग आप्यायित हो जायँ। सब लोग तन-मनसे जुट गये। हमारे पास मोटर नहीं थी, लेकिन उनकी ऐसी सेवा हुई कि बनारसीदास चतुर्वेदीने एक पत्र लिखा। हमें भी लिखा और समाचार-पत्रोंमें भी भेजा। उसमें लिखा कि यदि कोई सेवाका कॉलेज खुले और मुझसे पूछा जाय कि उसका प्रिंसिपल किसे बनाया जाय तो मैं कहूँगा कि गीताप्रेसके रामजीदास बाजोरियाको बनाया जाय। क्योंकि यह मैंने अनुभव किया कि वे कैसी सेवा करते हैं और करते थे। अब देखिये कुछ दिया-लिया नहीं, पर अपने सद्भावसे दूसरेके अन्दर सद्भावना पैदा कर दी।

(४)

पहलेकी बात है, अपने यहाँ गीताप्रेसमें जो गंगाबाबू हैं, उनके पास एक सज्जन रहते थे। वे भगवान्‌का नाम नहीं लेते थे। वे पन्द्रह-बीस दिन बीमार हो गये। गंगाबाबूने उनकी बड़ी सेवा की। सेवाके बाद जब वे अच्छे हुए तो कहने लगे कि भाई! ये गंगाबाबू माला जपते हैं, मालूम होता है, वह इसीका प्रभाव है कि ये इतनी अच्छी सेवा करते हैं। अब हम भी माला जपेंगे। जो भगवान्‌के विरोधी थे, उनको जप करनेकी मनमें आ गई। अब देखिये जो काम उपदेशसे नहीं होता, वह काम अपने अच्छे आचरणसे हो जाता है। असली सेवा यही है कि अपनी क्रियाके द्वारा, अपने आचरणके द्वारा, अपने भावोंके द्वारा दूसरेके हृदयमें भगवान्‌को जगा दे।

बहुत वर्षों पूर्व लिये हुआ ऋण बिना माँगे चुकाया

(१)

उस दिन तीन स्थानीय मेरे सुपरिचित सज्जन एक प्रौढ़ पुरुषके साथ मेरे पास आये और कुशल-प्रश्नके पश्चात् बोले– ये पैंतालीस हजार हम वापस करना चाहते हैं, कृपया जिन-जिनके हों, उन्हें दिलाकर हमें ऋणामुक्त कराइये। मुझे कुछ भी याद नहीं था। पूछनेपर उन लोगोंने बताया तब मुझे सब याद आयी। बात यह थी– लगभग बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व इन तीन भाइयोंके फार्मकी आर्थिक स्थिति कुछ विशेष खराब हो गयी थी। तब इन्हींके परिवारके एक अन्य सज्जनके साथ (जिनका कई वर्ष हुए देहावसान हो गया है) परामर्श करके इन्हींके निकट-दूरके परिवारोंके नौ फार्मोंसे इन्हें पैंतालीस हजार रुपये इस शर्तपर दिलवाये गये थे कि ''देनेवाले तो देकर भूल जायँ, हमारा ऋण इनपर है ऐसी भावना भी न रखें और कभी रुपयोंकी माँग करें ही नहीं। और इनके पास यदि कभी रुपये हों तो ये बिना माँगे ही सब चुका दें; ब्याज न दें और उस स्थितिमें देनेवाले अपने रुपये वापस ले लें।''

वर्षों बीत गये, इनकी स्थितिमें कोई खास सुधार नहीं हुआ। तीनों भाई साधारण कमाई करके अपनी गृहस्थीका खर्च चलाते रहे। देनेवालोंमें दो-तीन सज्जनोंका देहावसान हो गया। उनके लड़के हैं। देनेवालोंने कभी रुपयोंकी याद ही नहीं की, तकाजा करना तो दूर रहा। इनकी रुपये वापस लौटाने लायक स्थिति नहीं हुई। अब भी इन्होंने बहुत रुपये पैदा किये हों, सो बात नहीं है। इनमेंसे एक भाईके पास यह पुराना ऋण चुकाने-जितने रुपये इकट्ठे हो गये और तीनों भाइयोंने विचार करके रुपये लौटानेका निश्चय किया और इसी कामके लिये मेरे पास आये। मुझे इनकी ऐसी शुद्ध तथा ईमानदारीभरी नीयत देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने रुपये देनेवाले सज्जनोंसे बातचीत की। कुछको तो स्मरण ही नहीं था, कुछने वापस लेनेमें जरा आनाकानी की; पर मेरे कहनेपर सबने स्वीकार कर लिया और अपने-अपने मूल रुपये वापस ले लिये। इनमें कुछको इस समय विशेष आवश्यकता थी, उनको रुपये मिलनेसे बड़ी सुविधा हुई। कुछने रुपये लेकर उनमेंसे कुछ हिस्सा दान-धर्ममें लगा दिया और ये ऋण-मुक्त हो गये।

वास्तवमें अपना ऋण चुकानेमें कोई बड़ाईकी बात नहीं है, वरं

सौभाग्य है, पर आजके इस युगमें जहाँ पैसेके लिये मनुष्य किसी पापको पाप नहीं समझता, कानूनसे न देनेसे काम चलता हो तो प्रायः देनेकी इच्छा ही नहीं करता; वहाँ बीस-पच्चीस वर्ष पहलेके रुपये, जिनकी देनेवालोंको भी याद नहीं है, अपनी थोड़ी-सी कमाईसे संग्रह करके, अपने-आपको साधारण स्थितिमें रखते हुए ही, बिना माँगे लौटा देना– सर्वथा प्रशंसनीय और आदर्श कार्य है। इनकी इस बातको जो कोई भी सुनता है, प्रशंसा करता है और उसपर इनकी ईमानदारीकी गहरी छाप पड़ती है। भारतीयोंकी यह सहज वृत्ति थी, दूसरेकी चीज अपने पास न रहे। इस वृत्तिको इनके इस कार्यसे बड़ा पोषण मिला है। भगवान् सभीको ऐसी सद्बुद्धि प्रदान करें।

(२)

कुछ ही दिनों पहलेकी बात है। एक दिन चार सौ रुपयेका एक बीमापत्र बम्बईसे भेजा हुआ मिला। रजिस्ट्रीके लिफाफेपर भेजनेवालेको नाम पढ़ा, पर मैं पहचान नहीं पाया। लिफाफा खोलनेपर देखा, उसमें सौके चार नोट थे, साथ एक पत्र था। पत्रका आशय था– मेरे पिताजी श्री ······ ने संवत् १९९५ (सन् १९३८) में आपसे चार सौ रुपये लिये थे। उस समय उनका हाथ तंग था। अब मैं कमाने लगा कहूँ। पिताजीने कहा है– रुपये भेज दो। इसलिये भेज रहा हूँ। आप अवश्य रख लीजियेगा।

मुझे न उन सज्जनकी स्मृति थी, न रुपये देनेकी। मैंने उनको पत्र लिखा कि मुझे कुछ भी याद नहीं है, न मेरे पास कोई हिसाब है। मैं रुपये कैसे लूँ? अतः रुपये लौटानेका विचार है। इसके उत्तरमें उन भाईका पत्र आया– उन्होंने लिखा– आप देनेवाले हैं अतः आपको याद नहीं है, परन्तु रुपये लेनेवालेको तो याद रहता है। ईश्वर कभी वापस लौटाने योग्य बनाता है, तभी लौटाये जाते हैं। आप रुपये अवश्य स्वीकार कर लीजिये। वापस कदापि न भेजिये। नहीं तो हमें बहुत दुःख होगा। रुपये हमारे लिये हुए हैं ·········· संवत् १९९५ (सन १९३८) को बहुत समय बीत गया। आपको स्मरण नहीं है; क्योंकि आपसे बहुत लोगोंको लाभ मिलता रहता है।

साथ ही इन भाईके पिताजी श्री ····· का पत्र राजस्थानसे आया– उन्होंने भी बड़ी नम्रतासे लिखा– संवत् १९९५ कार्तिक मास (सन् १९३८) में मैंने रुपये आपसे लिये थे। आप भूल गये हैं, पर मैं कैसे

भूलता? अबतक दे नहीं सका सो दूसरी बात है। रुपये आपकी सेवामें भेजे हैं, उन्हें वापस न भेजियेगा। अवश्य रख लीजियेगा। जरा भी शङ्का न कीजियेगा। मैं आपसे लिये हुए रुपये ही आपको लौटा रहा हूँ। केवल असली रुपयेमात्र भेजे हैं– ब्याज थोड़े ही भेजा है। आप कदाचित् लौटा देंगे तो मेरी आत्माको बड़ा ही दुःख होगा। मेरे मनको शान्ति नहीं मिलेगी ……।

इसके बाद पत्रमें और भी बहुत नम्रताके शब्द लिखे थे। मैं इन वृद्ध सज्जनको क्या लिखता, जो अट्ठाइस वर्षोंके बाद इतने विनयपूर्ण आग्रहके साथ रुपये लौटा रहे हैं। मैंने लिख दिया– रुपयेकी बात मुझे जरा भी याद नहीं है, पर मैंने आपके आज्ञानुसार रुपये इसलिये रख लिये हैं कि जिससे आपको दुःख न हो और मनको शान्ति मिले। आपका यह कार्य अनुकरणीय है, सराहनीय है और आजके युगमें तो सबके लिये आदर्श है। यही अपनी हिन्दू-संस्कृति है। रुपये मैंने रख लिये हैं और किसी अभावग्रस्त भाईकी सेवामें लगा दिये गये हैं। आपकी सद्भावनाके लिये धन्यवाद– मैं बम्बई पत्र नहीं लिख रहा हूँ। आप लिख दीजियेगा।

इस समय भी ऐसे आदर्श मानव हैं।

भगवत्निष्ठा

(१)

हमारे यहाँ गोरखपुरमें एक रघुजी रहे। आप लोगोंमेंसे बहुतोंने उनको देखा होगा। सिन्धके रहनेवाले थे। ग्रेजुएट पढ़े-लिखे योग्य पुरुष थे। पहले 'चित्रा' पत्रका सम्पादन करते थे। वे हमारे यहाँ छः वर्ष रहे। वे मौन रहते थे, केवल 'रघु-रघु' बोला करते। इसलिये उनका नाम 'रघुबाबा' पड़ गया। सत्संग सुनने आते तो उनकी स्थिति यह रहती कि जबतक भगवत्सम्बन्धी, साधन-सम्बन्धी चर्चा होती, तबतक तो ध्यानसे उनकी आँखें इधर लगी रहतीं और बीचमें कोई संसारकी चर्चा हुई तो उनका मुँह उधर घूम जाता। मैंने स्वयं देखा है कि बाईस-बाईस घंटेतक उनके विरहके आँसू बहा करते थे। उनके चेहरेपर आँसूके निशान पड़ गये थे। ऐसी उनकी विरहकी दशा थी। उनके पास पूजामें भगवान् राम, लक्ष्मण, सीता और हनुमानजीका एक चित्र था। उसके दर्शन वे किसीको नहीं कराते थे। उनके लिये वह चित्र नहीं था, साक्षात् भगवान् थे। एक दिन लोग उनसे बहुत आग्रह करने लगे कि आपके

भगवान्‌का एक बार दर्शन कराइये। बहुत आग्रहके बाद स्वीकार किया, बड़े संकोची स्वभावके थे। वे बोले कि नहाकर एक-एक आदमी आओ, बिना नहाये कोई न आये। सब लोग नहा-नहाकर आये। वे चित्रको हाथमें लेकर खड़े हो गये, दो-चार कदम दूरसे दर्शन कराते, अधिक देर किसीको सामने नहीं रखा। जल्दी-जल्दी दर्शन कराकर सबको भेज दिया। वे अपने ठाकुरजीको तीन पावका भोग लगाते। हमलोग तो ऐसे ही बला-सी टाल देते हैं। वे सबेरे अंग्रेजीमें एक कागजपर लिखकर मुझे दे जाते कि आज अमुक चीज रघुके लिये चाहिये। वैसी व्यवस्था उनके लिये कर दी जाती थी। वह तीन पावका प्रसाद सारा-का-सारा समाप्त हो जाता था। किसी-किसी दिन तो केवल करेला। अब उनकी बात वे जानें या भगवान् जानें। हमने तो उनके भगवान्‌को अन्दर जाकर खाते देखा नहीं, इसलिये हम कुछ कह नहीं सकते, पर विश्वास करनेकी बात है कि उनके भगवान् खानेवाले थे, केवल चित्रपट नहीं थे। एक दिन उन्होंने केले मँगाये। केले शायद कुछ नरम आ गये थे या कुछ खराब आ गये थे। दोपहरके समय मैं बैठा था, तो मेरे पास आये और झर-झर आँसू बहने लगे। मैंने कहा— महाराज! क्या बात हो गई? तो उन्होंने अंग्रेजीमें लिखकर बताया कि रघु कितना सुकुमार है, वह तो राजकुमार है, उसके लिये केले खराब आ गये। मुझे अपना बड़ा अपराध प्रतीत हुआ कि जो चीज आती है, वह इनके भगवान् खाते हैं। इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जो भगवान् प्रह्लादके लिये खंभेमेंसे निकले, वे आज भी वर्तमान हैं। मैंने कहा— महाराज! अब भूल नहीं होगी। उसके बाद मैं स्वयं ध्यान रखता था कि कोई चीज खराब न आ जाय। वे किसीसे सेवा नहीं लेते थे। यहींपर उनका देहावसान हुआ। जिस दिन देहावसान हुआ, उस दिन भी शामको अपने हाथसे कुएँसे पानी निकालकर वे नहाये। रातको तीन बजे जटायुकी स्तुति करने लगे। दिन- रातमें दो बार जटायुके मरणकालकी स्तुति उन्होंने दूसरे आदमीसे सुनी।

छः वर्षोंमें एक बार मुझसे बोले। मैं उनकी कोठरीमें गया तो बोले— मैं तो प्रेम-दिवानी मेरा दरद न जाने कोय। बस, उनकी वाणीसे इतने ही शब्द सुने गये। यह साधकका आदर्श है।

अब आपको उनके देहान्तके बादकी बात बताऊँ। वे एक बार चित्रकूट गये थे। उस समय देवरियाके मुंसिफ थे— श्रीकृष्णचन्द्र श्रीवास्तव। वे

साधुओंके भक्त थे। उनके यहाँ रातको ठहरे तो उनसे प्रेम हो गया था। देहान्तके बाद उनके पास कोई विशेष सामान तो था नहीं– हमने किसीको दान दे दिया। उनके जो ठाकुरजी थे, उनको हम रतनगढ़ ले गये। आपको सच्ची घटना सुनाता हूँ। रतनगढ़ ले जाकर उनकी पूजा कौन करता? उनको बाहरकी बैठकमें एक स्थानपर रख दिया। वे कृष्णचन्द्रजी श्रीवास्तव जज हो गये थे। उनके और उनकी स्त्रीके सामने रघुजी प्रकट हुए और उनसे कहा कि भाईजीको समाचार लिखो कि उन्होंने हमारे भगवान्‌को अमुक स्थानपर ऐसे ही रख दिया है। भाईजीको तो हम क्या कहें? आप हमारे भगवान्‌को मँगाकर उनकी पूजा करो। कृष्णचन्द्र हमारा पता जानते नहीं थे। गोरखपुरमें एक बैरिस्टर थे श्रीअयोध्यादासजी। उनको उन्होंने पत्र लिखकर सारी घटना लिखी एवं हमारा पता पूछा। उन्होंने मुझे लिखा। बात सत्य थी, मैंने देखा, भगवान् ऐसे ही पड़े हैं। उनके ऊपर धूल छाई हुई थी। फिर वह चित्र उनके पास भेजा। उनके यहाँ अबतक उनकी पूजा होती है। वे अभीतक हैं। अब वे वहाँसे रिटायर्ड हो गये हैं, इलाहाबाद हाईकोर्टमें वकालत करते हैं। भगवान् इतने प्रत्यक्ष होते हैं, इतनी कृपा करते हैं।

(२)

बम्बईमें जिस मकानमें हम रहते थे, मकानमें नीचे चिड़ावाके एक घासीराम डालमिया रहते थे। अब तो वे मर गये। देखनेमें लोग कहते फालतू आदमी हैं। उसके पत्नी नहीं थी, अकेला था। दिनमें बाजार जाया करता था। उसके एक गोपालजी थे। उसका वात्सल्य भाव था। वह गोपालजी नहीं कहता– गोपालिया कहता। वह दिनमें चार-पाँच बार बाजारसे आता। आकर गोपालियाको देखता, कभी कुछ प्रसाद लगा दिया करता, फिर चला जाता। कभी पीनेके लिये जल रख जाता, फिर चला जाता। एक दिन मैंने पूछा– तुम बार-बार क्यों आते हो? भगवान्‌के दो समय भोग लगा दिया करो। वह बोला– भाईजी, आपको मालुम नहीं है। गोपालियाको न मालूम कितनी बार भूख लगती है और कितनी बार प्यास लगती है। इसकी माँ घरमें है नहीं, वह तो मर गई। यदि मैं इसे न सँभालूँ तो यह भूखा रह जायगा, प्यासा रह जायगा। बच्चा है न! कहीं मर जाय तब? बच्चा ही तो है। भाईजी! इसीलिये मैं चार-पाँच बार आता हूँ। जब बाजारमें रहता हूँ तब भी मेरे मनमें रहता है कि कहीं गोपालिया दुःख तो नहीं पाता होगा। गर्मी रहती है तो मैं आकर

थोड़ी देर हवाकर जाता हूँ। फिर वे वृन्दावन चले गये। वृन्दावनमें एक चिड़ावाके महात्मा थे श्रीराधिकादासजी। पहले उनका नाम रामप्रसादजी था, बहुत बड़े पंडित थे। मिर्जापुरवाली धर्मशालामें रहते थे। उन्होंने मुझे बताया कि घासीराम यहाँ आकर रहा था। एक दिन बोला– पंडितजी आज तो गोपालिया आया था, वह कह गया, अब तू मेरे साथ चल। उन्होंने कहा– मैंने सोचा, ऐसे ही हँसीकी बात है। दूसरे दिन यमुनाजी नहाने गये तो वापिस लौटे नहीं। एक पत्थरके नीचे एक कागज लिखा मिला कि मैं गोपालियाके साथ जा रहा हूँ।

(३)

पं.मदनमोहनजी शास्त्रीका नाम आपलोगोंमेंसे बहुतोंने सुना होगा। काशीके बहुत बड़े विद्वान् थे। थे तो पंजाब-सीमाप्रान्तके, पर काशीमें आकर बस गये थे। हमारे यहाँ तो बहुत बार आया करते थे। हमलोगोंपर उनकी बड़ी कृपा रहती। श्रीसेठजीसे भी उनका बड़ा प्रेम था। एक बार मैं काशी गया तो वे मुझे एक स्थानपर ले गये। बोले कि तुम मेरे साथ चलो, आपको एक चीज दिखायें। एक खत्री सज्जन थे, उनके मकानमें ले गये। मकानके दो तल्लेपर एक बड़ा सुन्दर सजा हुआ कमरा था। कमरेमें चारों और खिड़कियाँ थीं और बीचमें भगवान्का एक मण्डप बना हुआ था, मन्दिरनुमा-सा। उसमें भगवान् लड्डूगोपालकी बड़ी सुन्दर एक मूर्ति थी। वहाँ ले जाकर मुझे दर्शन करवाया। दर्शन करानेके बाद बोले– बैठो। मैं बैठ गया तो बोले– इन (मकान मालिक) का इतिहास सुनो। ये (सज्जन) खत्री थे, उनका तो देहान्त हो गया, जब ये इस मकानको बना रहे थे तो इन्हें सपना आया। सपनेमें भगवान्ने कहा कि मैं दीवालमें हूँ, मुझे निकालकर मेरी प्रतिष्ठा करो। वे खत्री महोदय मेरे यजमान थे तो वे मेरे पास आये और वह बात सुनाई। मैंने कह दिया– ऐसे ही सपना आया होगा, छोड़ो इस बातको। दूसरे दिन फिर सपना आया। वे फिर मेरे पास आये, पर मैंने टाल दिया। तीसरे दिन फिर सपना आया, फिर टाल दिया। चौथे दिन क्या हुआ कि उनकी एक छोटी लड़की थी, एक छोटी-सी सावर पड़ी थी, उसको लेकर वह लड़की दीवालपर ठोंक रही थी। ऐसे ही खेलनेमें दीवालके एक कोनेमें वह सावर लगी और दीवाल जरा-सी टूट गई। उसके अन्दरसे यह बड़ी सुन्दर लड्डूगोपालकी मूर्ति निकली। तब वे मेरे पास आये। मैंने जाकर देखा तो अपनेको बड़ा अपराधी माना कि हे भगवान्! आपने तो सपना दिया और मैं अपने विद्याके मदमें अविश्वासी बना रहा। मैंने इनको सलाह नहीं दी और आप

तो प्रकट हो गये। उसके बाद उनकी इतनी श्रद्धा हुई कि दोनों स्त्री-पुरुष उस मूर्तिके लिये एक मन्दिर-सा बनाकर अपने घरमें पधराकर, उनकी सेवा करने लगे। रात-दिन सेवामें लगे रहते। घरका, व्यापारका कोई भी काम करते तो भगवान्‌के सामने चिट्ठी डालकर पहले पूछ लेते, बादमें मनसे भगवान्‌से पूछकर करते। भगवान्‌को पूछे बिना कोई भी काम न करते। उनके लिये वह मूर्ति, मूर्ति नहीं थी। गर्मीके दिनोंमें रातमें दो-दो घंटे जगकर पंखा झलते रहते, क्योंकि उस समय बिजली नहीं थी। बादमें चारों ओर खिड़कियोंवाला कमरा बनवाया। सर्दीमें अँगीठी रखते, पर अँगीठी रखकर कमरा बन्द न करते। शास्त्रीजीने कहा कि हमारी समझमें तो भगवान् उनसे बातें करते थे।

(४)

एक हमारे रिश्तेमें ताऊजी थे। उनकी भगवान्‌में बड़ी निष्ठा थी। मथुराजीमें उनका मंदिर है। एक दिन रातमें दो बजे उनको स्वप्नमें भगवान्‌ने कहा— देखो, पुजारीने बड़ी भूल कर दी, वह अँगीठी अन्दर रख गया, मुझे बड़ी गर्मी लग रही है। जल्दी चलो, वह अँगीठी बाहर निकालो। अब आजकल कौन स्वप्नकी बात मानता है? कह देंगे— ऐसे ही स्वप्न आया होगा और भगवान् थोड़े ही बोलते हैं। भगवान्‌को माननेवाले भी कह देते हैं कि भगवान्‌को कहीं गर्मी लगती है? पर वे रातमें उठे। आदमी नहीं भेजा, स्वयं वे पुजारीके घर गये। पुजारीको साथ लिया। मंदिरमें जाकर गर्भगृह खोला। देखा, सचमुच अँगीठी जल रही थी, धधक रही थी और भगवान्‌को पसीना आ गया था। अँगीठी तुरन्त बाहर निकाली गयी, फिर लौटकर आये। भगवान्‌को हम मूर्ति मानते हैं तब मूर्ति है, पत्थर मानते हैं तब पत्थर हैं और भगवान् मानते हैं तो भगवान् हैं।

नाम-जप निष्ठा : दीर्घजीवी महात्मा

भारतवर्ष रत्नोंकी खानि है। पता नहीं, यहाँ कितने वयोवृद्ध महात्मा होंगे। मुझे एक परम भक्त वैष्णव महापुरुषके दर्शनका सौभाग्य कई बार हुआ था। उनका शुभ नाम था पण्डित रसिकमोहन विद्याभूषण। शुभ्र गौर शरीर, साक्षात् शान्त शङ्करकी-सी मूर्ति, विशाल उन्नत ललाट, लम्बी स्वर्ण-प्रतिम जटा, अपूर्व ज्योतिसे चमकते हुए प्रेमाश्रुपूर्ण नेत्र, स्नेह और वात्सल्यसे पूरित मधुर वाणी, वैष्णव-शास्त्रका विशाल पाण्डित्य, अधिक क्या, उनके एक-एक गुणके सामने भक्ति-प्रणत होकर मस्तक झुक जाता था। पहले-पहल झूसीमें

ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी महाराजके अखण्ड कीर्तनमें उनके दर्शन हुए थे। पं.श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी मेरे साथ थे। गोस्वामीजी कीर्तन कराने लगे, इतनेमें ही आसनपर विराजित विद्याभूषण महाशय उठे और गोस्वामीजीका हाथ पकड़कर नाचने लगे। उस समय भी उनकी अवस्था सौ वर्षसे ऊपर थी। कलकत्तेमें रहते थे। उसके बाद भी मैंने कई बार उनके दर्शन किये। वे 'कल्याण'में लिखते भी थे। वे प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनशास्त्रके पण्डित थे। संस्कृत, बंगला, उड़िया तथा अंग्रेजी भाषापर आपका पूर्ण अधिकार था। गतवर्ष * (सं. २०००४ वि.के मार्गशीर्ष मासमें) वे गोलोकवासी हुए। उस समय उनकी अवस्था एक सौ नौ वर्षकी थी। उन्होंने अपने सुदीर्घ भजनमय जीवनमें वैष्णव-जगत्‌को बंगलाभाषामें जो बीसों ग्रन्थरत्नोंका दान किया है, वह सचमुच अपूर्व है। वे इधर प्रायः बीस सालसे सोये नहीं थे। रातों जगकर नाम-जप किया करते थे। कहते हैं कि अन्तकालमें उन्होंने कहा— देखो-देखो! कैसे सुन्दर दो बालक नाच रहे हैं। कितनी सुन्दर खोल बज रही है। अहा! इतना सुन्दर खोलका बजना तो मैंने कभी नहीं सुना, बालकोंका ऐसा नृत्य तो मैंने कभी नहीं देखा। ये मुझे बुला रहे हैं, जल्दी मेरी नाम-जपकी माला दो। किसी भक्तने नाम-जपकी माला दी। उन्होंने उसे तुरन्त हृदयसे लगा लिया और महान् योगिराजकी भाँति परमधाममें चले गये।

इनके-जैसे अन्य कोई महात्मा इतनी उम्रके इस समय कहीं हैं या नहीं, मुझे पता नहीं। बरहजमें भक्तराज परमहंस श्रीअनन्तप्रभुजी भी बहुत बड़ी अवस्थामें साकेत पधारे थे और कहते हैं, उनके रोम-रोमसे भगवन्नामकी ध्वनि निकला करती थी। प्रसिद्ध राजनीतिक नेता बाबा राघवदासजी इन्हींके शिष्य हैं।

गुप्तदान

कई वर्षों पहलेकी बात है। राजस्थानमें भीषण अकाल था। गौओंकी बड़ी दुर्दशा थी। उस समय गीताप्रेसकी ओरसे राजस्थानमें स्थान-स्थानपर सहायताका काम हो रहा था। रतनगढ़में मैं काम देख रहा था। एक दिन दोपहरको अपनी बैठकमें अकेले बैठे डाक देख रहा था कि वहाँ एक सज्जन, जो बहुत सम्पन्न थे,

* सं. २००४ वि. (सन् १९४७) के मार्गशीर्षमें वे परमधाम पधारे।

जिनका बंगालमें बड़ा कारोबार था, बड़े दानी थे, पर जो अपने लिये व्यय करनेमें बड़े ही अनुदार थे, घुटनोंतककी धोती, एक कमरी तथा सिरपर पगड़ी, जाड़ेमें एक बीकानेरी कम्बल– यही उनकी पोशाक थी। वे रिश्तेमें मेरे मामा लगते थे– आये। मैंने प्रणाम करके आनेका कारण पूछा– उनके हाथमें कागजका एक छोटा-सा पुलिंदा था, उसे मेरे हाथमें देते हुए बोले– ले भैया! ये दस हजार रुपयेके नोट हैं। इस समय तू अकेला मिलेगा, इसीसे दुपहरीमें आया हूँ। इनको गायोंकी सेवामें लगा देना, पर देखना, कहीं मेरा नाम न आने पाये। भगवान्‌की चीज भगवान्‌की सेवामें लगे, इसमें देनेवाले किसी दूसरेका नाम क्यों आना चाहिये? मैंने मुस्कराते हुए नोट ले लिये। मैं जानता था मामाजीकी गुप्तदानकी क्रियाको। इस प्रकार प्रचुर धनका ये दान करते थे। जगह-जगह कुएँ-तालाबोंकी मरम्मत कराते थे, नये भी बनवाते थे, पर इनके नामकी जानकारी केवल वहीं होती थी, जहाँ बिना बताये काम चलता नहीं। आज तो दानके नामपर इन्वेस्टमेंट करनेवाले– और दानसे पहले ही समाचारपत्रोंमें समाचार भेज देनेवाले दानी महोदय इससे शिक्षा ग्रहण करें।

अमृत-भोजन

मैं एक बार किसी कामसे कलकत्ते गया था। एक दिन एक सज्जन मेरे पास आये। फटा कुरता, मैली धोती, पुरानी फटी-सी जूती। दुपहरीका समय था, सकुचाते-डरते हुए-से मुझसे कुछ दूर पायदानके (पैर पोंछनेका बिछावन) पास बैठ गये। मैं एक अन्य सज्जनसे बात कर रहा था। मेरी नजर उनकी ओर गयी। उन्होंने बड़ी विनम्रता, पर संकोचके साथ नमस्कार किया, मानो वे ऐसा मानते हों कि वे नमस्कार करने योग्य भी नहीं हैं। मैंने बदलेमें नमस्कार किया। उनको नजदीक आकर सतरंजीपर बैठनेके लिए कहा, वे नहीं उठे। हाथ जोड़कर बोले– यहाँ बहुत ठीक है। मैंने उठकर उनका हाथ पकड़कर अपने पास बैठा लिया। उनके नेत्रोंमें आँसू छलक आये। पहलेवाले सज्जन कुछ देर बात करके चले गये। तब मैंने उनसे पूछा– भाईजी, आप कैसे पधारे? कहाँ रहते हैं? उन्होंने अपने नाम-जातिका परिचय दिया। मालूम हुआ कि वे मेरी ही जातिके अच्छे घरानेके व्यक्ति हैं। फिर उन्होंने कहा– मैं आया तो था एक कामसे, पर मुझे कहते बड़ा संकोच होता है, डर भी लगता है।

मैंने उनसे कहा– आप जरा भी संकोच न कीजिए। आप तो मेरे बड़े भाई

हैं, अपना काम बताइए। मुझसे होने लायक होगा तो मैं अवश्य करूँगा। मेरी बात सुनकर उनमें साहस आया, उनके चेहरेपर कुछ आश्वासन तथा आनन्दकी रेखा दिखायी दी। वे बोले— आप कर सकते हैं, तभी तो आया हूँ। मेरी वृद्धा माता तीन महीनेसे बीमार हैं, वे चल-फिर नहीं सकतीं। पता नहीं क्यों, दो महीने पहले मुझसे उन्होंने कहा— ··· ··· ··· से मुझे मिलना है। वे यदि कलकत्ते कभी आयें तो ख्याल रखना और मुझसे मिलाना। अब परसों आपके यहाँ आनेका पता लगा, तब माताजीके कहनेपर मैं यहाँ आया हूँ। माताजी आपसे मिलना चाहती हैं— आप पधार सकें तो। मैंने कहा— जरूर आऊँगा। वे मेरी भी तो माताजी हैं, मुझे उनके दर्शनका सौभाग्य और लाभ प्राप्त होगा। मैंने उनका पता नोट कर लिया और दूसरे दिन ग्यारह बजे उनके घरपर पहुँचनेका समय दे दिया। मैंने उनसे कहा— हम शायद तीन-चार आदमी होंगे।

दूसरे दिन सबेरे मैं अपने दो मित्रोंके साथ निकला। जहाँ पहले जाना था, वहाँ पहुँचा। वहाँसे एक जगह और गया। लौटते समय कोई जुलूस जा रहा था। रास्ता बन्द था। इसलिए रास्तेमें रुकना पड़ा। पहले ही कुछ देर हो गयी थी। हमारी मोटर लगभग एक बजे उनके मकानकी गलीके सामने पहुँची। वे वहाँ खड़े इन्तजार कर रहे थे। पूछनेपर पता लगा, ढाई घण्टेसे खड़े हैं। मुझे बड़ा ही संकोच हुआ। मैंने क्षमा माँगी, वे तो मानो लाजसे गड़ गये। पर उनके चेहरेपर इस बातकी बड़ी खुशी थी कि ये हमारे घर आये हैं। मैं उनके साथ-साथ उधर गया। जाकर देखा— एक छोटा-सा कमरा है। सामान प्रायः कुछ भी नहीं है, पर बड़ा साफ-सुथरा है। एक चारपाईपर बुढ़िया माताजी लेटी हैं। उनके पैरोंकी ओर उक्त सज्जनकी धर्मपत्नी खड़ी हैं, एक आठ-दस वर्षका बच्चा भी उनके पास खड़ा है। वे मुझे देखकर बड़ी प्रसन्न हुईं। मैंने माताजीके चरणोंमें नमस्कार किया। माताजीकी आँखोंमें आँसू आ गये। कुछ देरके बाद वे आँसू पोंछकर बोलीं— आप बैठिए। अब मैं सुखसे मर सकूँगी। कई वर्ष पहले मैंने आपका एक भाषण सुना था, तबसे मनमें थी— आपको घर बुलाकर भोजन कराऊँ, पर मेरा भाग्य ऐसा कहाँ था। आप दूर देशमें रहते हैं और हमलोग वहाँ नहीं जा सकते। अब बीमार होनेपर तो मेरा धीरज टूटने लगा। मैंने लड़केसे कहा— मैं रात-दिन आपको याद करती रहती हूँ। अबकी आयें तो जरूर मिलाना। लड़केने कहा— वे यहाँ बहुत कम आते हैं और आते भी हैं तो बहुत व्यस्त रहते हैं तथा हम गरीबोंके घर शायद उनके साथी-संगी उन्हें न आने दें। मैंने कहा— जरूर आयेंगे,

प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू को गीताप्रेस के प्रकाशनों का उपहार प्रदान करते हुए

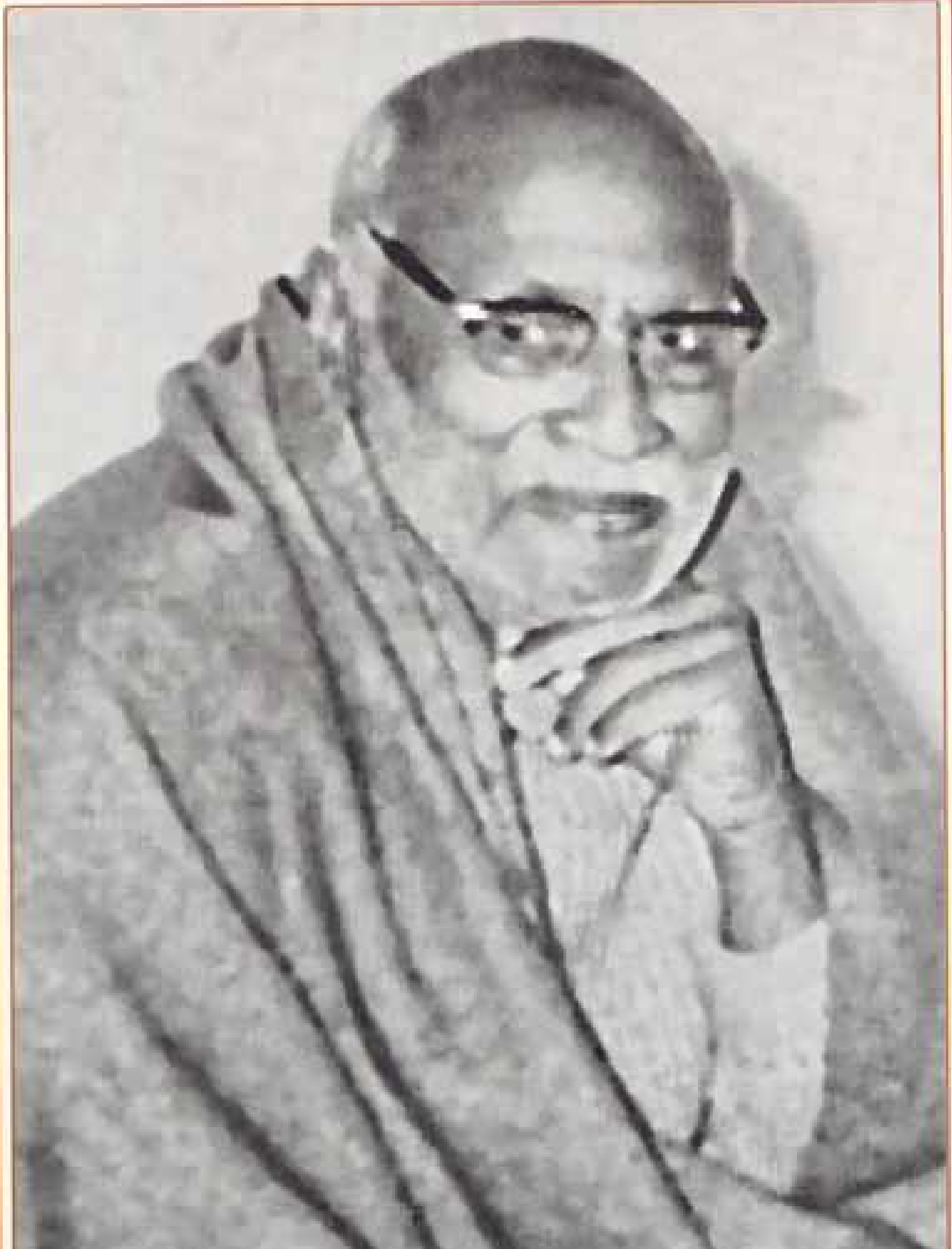

भाईजी-चरितामृत

(रस-सिद्ध संत भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार के जीवन प्रसंग उन्हींके शब्दोंमें)

है। पूज्य माँजी तथा सावित्रीकी माँ जाय तो उत्तम है। माँजीकी तो इच्छा भी है। मैंने लिख भी दिया है।

पत्रमें मैं आपकी बड़ाई और अपनी लघुता नहीं लिखता, मुझमें तो इतने दोष भरे हैं कि उन सबको तो मैं लिख ही नहीं सकता। आपके बाबत कभी कुछ लिखता हूँ, वह भी एक प्रकारसे स्तुतिमें आपकी निन्दा ही होती है और अपने लिये जो कुछ लिखता हूँ वह तो एक प्रकारसे प्रशंसा या प्रशंसा पानेके लिए होती ही है।

स्वामीकी सेवक हितता सब, कुछ निज साँइ दुहाई।
निज मति बुला तीलि देखि भई, अपनी ही दिसि गरुआई।।

आपने मेरे जिन आदर्शगुणोंके नाम गिनाये, सो ये तो आपकी शुभ दृष्टिके फलस्वरूप आपको दीखते हैं। मैं क्या लिखूँ—

मत्समः पातकी नास्ति पापघ्नी त्वत्समा न हि।
एवं ज्ञात्वा महादेवि यथायोग्यं तथा कुरु।। अस्तु।

मैं अभी तो यहीं हूँ परन्तु यहाँ स्थायी रूपसे रहनेका विचार नहीं है। हाँ, पूज्य माँजी तथा सावित्रीकी माँ दोनों ही तीर्थ-स्पेशलट्रेनमें चली गई तो वैसी हालतमें शायद तबतक यहाँ रह भी जाऊँ। अभी कोई निश्चय नहीं है। स्वामी चक्रधरजी महाराज प्रसन्न हैं। वे यहाँ कुछ नहीं कहते। गोरखपुर थे, तब कहा करते थे– गोरखपुर ही रह जाओ। आपने लिखा– हमलोगोंका आग्रह और प्रेम होगा तो शायद थोड़े दिनों बाद तुम वापस आ भी सकते हो, कुछ भी असंभव नहीं है। सो आपका लिखना तो ठीक ही है। मुझे तो जहाँ आपकी रुचिपर न्योछावर हो जाना चाहिये था, वहाँ आपको ऐसा लिखना पड़ रहा है। क्या करूँ, मन अभी जरा भी पलटा नहीं है, वरन् उत्तरोत्तर और भी एकान्त-सेवनकी वासना बढ़ती हुई-सी प्रतीत होती है। स्पष्ट तो कुछ भी नहीं कहा जा सकता, परन्तु इसमें कोई दैवी प्रेरणा है अवश्य। न मालूम, भगवान्‌का क्या विधान है? उनकी कहाँके लिए कैसी रचना है? शरीर जबतक है, कहीं रहेगा ही, फिर गोरखपुर रहनेमें क्या आपत्ति है? पता नहीं, प्रभुकी लीला कब किस रूपमें अपना आत्मप्रकाश करती है। अभी कह तो नहीं सका– परन्तु अच्छा यही समझता हूँ कि

'भगवान्‌का जो कुछ विधान हो, वे जो दें उसीको सच्चे आनन्दसे ग्रहण करना चाहिये। भगवान्‌के चरणोंमें एकान्तिक आत्मोत्सर्ग ही सर्वोत्कृष्ट साधना है। उनकी इच्छाके सामने अपनी इच्छा रहे ही नहीं। वे इच्छारहित होकर जो इच्छा करें, उसीमें अपना महाकल्याण समाया हुआ है। न गोरखपुर रहनेसे इन्कार है, न कहीं जानेसे। इन्कार चल भी कब सकता है? वे जहाँ रखेंगे, जिस योनिमें रखेंगे, जैसा नाच नचायेंगे, वही नाचना होगा और वही हमारे लिये महामंगलकी खान है। जन्म-मृत्यु जो कुछ भी, जब कभी वे प्रदान करें, उसीमें उनका मंगल कर-स्पर्श पाकर कृतार्थ होना है।' ऐसी कल्पना मनमें आती है, परन्तु पता नहीं, मन और शरीर इन कल्पनाओंका कहाँतक अनुसरण करते हैं। मेरे मनकी टान हो या दैवी-प्रेरणा– भगवान्‌का विधान अवश्य है। आपके प्रेम तथा बर्तावकी निन्दा नहीं है, आप ऐसा मानते हैं, यह आपकी महानता है। आप मुझे त्याग नहीं सकते, यह तो विरद ही है। तेईस घंटे मौन रहनेका विचार किया था, तदनुसार ही लिखा था। परन्तु वैसा चल नहीं सका। सब मिलाकर लगभग दो घंटे बातचीत आदिके लिए है, शेष समय मौन रहता हूँ। उसमें सबेरे साढ़े सात बजेसे साढ़े दस और मध्याह्नोत्तर ढ़ाई बजेसे साढ़े चार बजेतक तो बन्द कमरेमें सर्वथा एकान्तमें रहता हूँ। लगभग डेढ़ घंटा मिलता है, जो पत्रादि लिखनेमें बीत जाता है। और अवकाश ही नहीं है। पता नहीं यह क्रम कबतक निभेगा।

विशेषांककी तैयारीके लिये मैंने भी श्रीगोस्वामीजीको लिख तो दिया है, आप गोरखपुर पधारते ही हैं, आप भी कह देनेकी कृपा करें। छपाई पौषसे आरंभ हो जाय तभी ठीक है, नहीं तो बड़ी कठिनता होगी। अभीसे भरपूर उद्योग करना चाहिये। मैं कुछ काम कर सकूँगा या नहीं, कुछ कह नहीं सकता।

पं.विद्याधरजी वैद्य बाबत आपने जो कुछ लिखा सो पढ़ा। उन्होंने मुझसे शिकायत नहीं की, मैंने ही उनसे बात ही बातमें पूछा। इसपर उनसे जो कुछ बातें मालूम हुई, उसीका सार आपको लिखा था। उन्होंने कमीशनके रुपये पानेके लिये भी मुझसे आग्रह नहीं किया। यह सत्य है कि उन्होंने पचास रुपयेमें काम करना स्वीकार किया था। साधारण मनुष्य

परिस्थितिका दास है। स्वार्थ, संकोच आदि कई कारणोंसे मनके अनुकूल न होनेपर भी मनुष्य स्वीकार कर लेता है। हमलोगोंको भी जब दूसरेपर विचार करना हो तो, केवल उनके शब्दोंपर नहीं, उसकी परिस्थितिमें अपनेको ले जाकर विचार करना चाहिये। मेरी समझसे, मैंने उनका हृदय टटोलकर जो कुछ देखा उसमें लोभ नहीं, परन्तु दुःख दिखायी दिया। मेरी तुच्छ समझके अनुसार सब दवा उनसे वापस ले लेनी चाहिये। जितनी दवा उन्होंने बरती हों उनके बदलेमें या तो उचित दाम दे दें या दवा दे दें। मेरी समझसे दवा देना ही वे पसन्द करेंगे और यही उचित भी है। मकानसे उनको नहीं निकलना चाहिये। थोड़ी देरके लिये मान भी लें, इसमें अपने औषधालयके स्वार्थमें हानि पहुँचेगी तो इस हानिको एक ब्राह्मणके संतोषके लिये सन्तोष और आनन्दके साथ उनपर कुछ भी नाराज हुए बिना और कुछ भी अहसान जताये बिना सहना चाहिये। रही प्रेस और सोहबगंजवालोंके सन्तोषकी बात सो इस सम्बन्धमें मैं यदि स्पष्ट कहूँ, वह बात कुछ कड़वी होगी। हमलोग वेतनभोगी कर्मचारीको क्रीतदास (खरीदा हुआ गुलाम) समझना पसन्द करते हैं। पचास रुपयेमें उनका खर्च नहीं चलता, उन्हें और भी उद्योग करना पड़ता है। हमारे यहाँका बुलावा गया। उनके पास दो-चार रोगी बैठे हैं। कुछ दीन हैं और कुछ ऐसे हैं, जिनसे उन्हें पैसा मिलनेकी उम्मीद है। वे दोनोंको ही न्यायतः छोड़ नहीं सकते और न छोड़ना ही चाहिये। उन रोगियोंकी जगह हम हों और वैद्यजी हमें छोड़कर चले जायँ तो हमें दुःख होगा या नहीं? 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।' इसलिये वैद्यजीको हमारे यहाँ आनेमें देर हो गयी। उनके अपने बाल-बच्चे भी हैं, घर-परिवारका काम भी है, उसमें कुछ देर हो सकती है। डाक्टरोंको बुलाते हैं वे तीन-तीन घंटे बाद आते हैं, फीस देते हैं, पर हम उनपर नाराज नहीं होते, लेकिन हमारे वैद्यजीने यदि कुछ देर कर दी तो हमारा पारा गरम हो जाता है। हाँ, सांघातिक बीमारी हो तो दूसरी बात है। अबकी बार ही वैद्यजीने—अपने पंडित लाधूरामजीकी पत्नीकी बीमारीमें जितना परिश्रम किया है, उसके लिये वे पुरस्कारके पात्र हैं। रोगीका अच्छा होना, न होना तो उसके भाग्यपर निर्भर करता है। मौत आनेपर धन्वन्तरि भी नहीं बचा सकते, परन्तु चूँकि पंडितजी (वैद्यजी) हमारे वेतनभोगी हैं, इसलिये हमें मानो उनकी परिस्थिति पर कुछ भी विचार न करके नाराज

होनेका पूरा हक है। यह है साहेबगंजवाले और प्रेसवालोंके असन्तोषका सच्चा चित्र। चाहे वे इस बातको स्वीकार न करें, बात यही है। नहीं तो आप विश्वास करें, पक्षपात नहीं करता, दावेसे कहता हूँ कि वैद्यजी अच्छे वैद्य हैं, उनका व्यवहार यथासम्भव दूसरोंकी अपेक्षा बहुत अच्छा है। मेरे साथ नहीं, गरीबोंके साथ भी, जिनका मुझे परिचय है और मेरे पास प्रमाण हैं। बहुत अधिक लिख गया और वह भी बहुत तीव्र शब्दोंमें। साहेबगंजवाले और प्रेसवाले भाई मुझे बहुत प्यारे हैं। उनकी निन्दा करना नहीं चाहता। प्रसंगवश मनोवृत्तिका जो कुछ मैंने अध्ययन किया है, वह लिखा है। आप जो कुछ करेंगे वह वैद्यजीकी तथा सबकी भलाईके लिये ही होगा। मैं अपनी बालसुलभ धृष्टताके लिये क्षमा चाहता हूँ। लोभके सम्बन्धमें तो यह बात है कि महापुरुषोंको छोड़कर न्यूनाधिक रूपमें लोभ किसमें नहीं है? वैद्यजीको तो पचास रुपये मिलते हैं जो मकान भाड़े और नौकरोंके वेतनमें ही चले जाते हैं। उनको तो आवश्यकता भी है। जिनके पास लाखों रुपये हैं और घरमें खानेवाले भी नहीं हैं, वे भी दिन-रात धन बढ़ानेमें ही लगे रहते हैं। ऐसी अवस्थामें बाल-बच्चेवाले वैद्यजीका लोभ तो क्षम्य ही होना चाहिये।

हनुमान

* * * *

डालमिया दादरी
आश्विन शुक्ल ७, १९९६
(१९ अक्टूबर १९३९)

प्रिय श्रीगोस्वामीजी,

सप्रेम यथायोग्य। आपका पत्र मिला, सब समाचार जाने। मैं एकान्तमें रहकर निस्तब्ध-नीरव जीवन बिताना तो चाहता था, अब भी चाह मिटी नहीं है, परन्तु इस समय तो मेरी जीवन-नौका शायद भगवान्के विधानके ही प्रवाहमें– बड़े जोरके प्रवाहमें पड़ गयी है। कभी-कभी मनमें आता है तो अपनी ओरसे दो-चार डाँड़ मार लेता हूँ, फिर थककर बैठ जाता हूँ। पता नहीं, नैया किसी चट्टानसे टकराकर टूटेगी, कहीं भँवरमें फँसकर डूबेगी, किसी वीरान देशमें ले जायगी या किसी सुन्दर सुरम्य

तीरपर लंगर डालेगी। अभी तो बही जा रही है। अवश्य ही अभीतक डाँड़ मारनेका हौसला बिलकुल छोड़ नहीं दिया है, परन्तु धीरे-धीरे थका जा रहा हूँ। मेरा पुरुषार्थ मरता-सा जा रहा है, पुरुषार्थका गर्व चूर होनेको आया है। इस जीवनको नीरव-निस्तब्ध कहूँ या प्रवाहमें पड़ा हुआ पराधीन, कुछ पता नहीं। नीरव तो यों भी नहीं हूँ, यद्यपि बहुत कम बोलता-सुनता हूँ, परन्तु मनका बोलना-सुनना तो बंद नहीं हुआ है। इस स्थानमें तो जो रात-दिन मिल कारखानाकी विकराल चक्कीमें बड़े-बड़े पत्थर तोड़े और पीसे जा रहे हैं, उन्हींकी आवाज होती रहती है। फिर नीरव जीवन कैसा? बहुत हुआ! यहाँ आ गया हूँ, पता नहीं अब कहाँ जाऊँगा। न भगवान्‌की इच्छापर ही जीवनको पूर्ण रूपसे— निःशेष रूपसे छोड़ सका और न अपनी इच्छा ही पूरी हो रही है।

श्रीवेणीमाधवजी गये, नाथूरामजी चले गये, माधवजी भी दशहरेतकके लिये घर गये। दूलीचन्द भी लखनऊ गये। यह सब ठीक ही है। जाना और आना यही तो संसारका स्वरूप है। यह यात्राका प्रसंग चला ही आ रहा है, चलता ही रहेगा, भगवान्‌की सृष्टिमें इसका कभी कहीं विराम नहीं है। परन्तु सभी अवस्थाओंमें सभी जगह भगवान् सदा ही हमारे साथ हैं। इस पार्थिव संसारमें बस, एक भगवान् ही नित्य हैं जो सदा सब जगह रहते हैं— जीवन-मृत्यु, दुःख-सुख, हानि-लाभ, मान-अपमान, सभीमें ये मुँह छिपाये सदा हँसते रहते हैं। जो अपनी सुखकी स्पृहा छोड़कर केवल इन्हींकी ओर अपने मानस नेत्रोंको लगाना चाहता है, उसके सामनेसे ये योगमायाका पर्दा हटा लेते हैं। फिर तो सर्वत्र असीम माधुर्य-सौन्दर्य, महान् आनन्द और विशाल शान्ति, दिव्य ज्योति और शीतल प्रकाश ही दिखायी देता है, इनकी हँसी ऐसी ही होती है, ऐसी ही है।

* * * *

आप कथा कह रहे हैं सो बड़ा अच्छा कर रहे हैं। इस शहरमें आप अवश्य लाभमें ही रहेंगे। इसे छोड़ियेगा नहीं।

* * * *

श्रीगंगाबाबू बिना किसी सूचनाके चित्रकूट चले गये। अच्छा ही

हुआ, उनकी बहुत दिनोंकी इच्छा थी। यह भी भगवान्‌का ही मंगल विधान है।

वकीलसाहब और उनके घरका हाल चिन्ताजनक है। इस अवस्थामें हमलोग उनकी कैसे-क्या सेवा कर सकते हैं? आपको कुछ जँचे तो सोचकर लिखियेगा। मुझे कई बार उनकी स्थितिका स्मरण हो आता है और उस स्मरणसे चित्तमें कुछ दुःख-सा होता है।

श्रीमाधवजीका पत्र मिल गया था, उसमें बड़े चोखे भाव थे। मैंने अभी उत्तर नहीं लिखा है। घरके पतेपर लिखूँगा या उनके गोरखपुर लौटनेपर। पत्र लिखनेके बाद वे आपके पास आकर फूट-फूटकर रोये— यह उनके भावुक हृदयका परिचय है। क्या करूँ? मैं तो आपलोगोंके प्रेमका ऋणी ही रहूँगा। मुझमें कोई योग्यता ही नहीं कि मैं किसी तरह सन्तोष करवा सकूँ। (हिन्दी) विशेषांककी तैयारी प्रेसकी दृष्टिसे और सचमुच आपकी दृष्टिसे भी अभीसे शुरू कर देनी ठीक मालूम होती है। मेरी तरह आप प्रेसवालोंपर कुत्तेकी तरह भौंक नहीं सकेंगे। पहलेसे तैयार रहेंगे तो सहूलियतसे काम होगा। इस काममें श्रीमाधवजी और देवधरजीसे पूरी सहायता लीजिये। श्रीगर्देजी बहुत काम दे सकते हैं, पर उनका आना कठिन है। अंग्रेजी विशेषांकका काम कुछ-कुछ देखते रहिये, अब तो सारा भार आपपर ही है। श्रीभगवान्‌का भरोसा रखिये। वे ही वहन करनेकी शक्ति देंगे। घबराइये नहीं।

अपने साधन, भजन और आचरणकी बात लिखी सो ठीक है, भगवत्कृपासे असंभव भी संभव हो सकता है, इस बातपर विश्वास कीजिये। अपनी ओरसे आप, जैसे और जो कुछ भी हैं, स्पष्ट होकर अपनेको सदा भगवान्‌के प्रति निवेदन करते रहिये। आप तो बहुत अच्छे हैं, बहुतोंसे बहुत भले हैं, वे तो महान् पापीको ग्रहण करनेमें भी नहीं सकुचाते। पापीका सारा पाप लेकर स्वयं उसको धोते हैं— वैसे ही जैसे माँ छोटे शिशुका मल धोती है, बिना किसी घृणाके, अत्यन्त स्नेहसे प्रसन्न होती हुई! माताका उदाहरण भी पूरा नहीं घटता, क्योंकि माताका स्नेह उनके स्नेहकी छायाकी भी छाया नहीं है। रही मेरी शुभ भावनाकी बात सो मेरी भावनामें कोई ताकत तो मुझे नहीं दीखती; होगी तो मुझे पता नहीं। परन्तु स्वाभाविक ही

हृदयसे ही आप सब प्रेमी मित्रोंके लिए सदा ही मेरी शुभ भावना रही है, और है। फल, कुछ न भी होगा तो, हानि तो होगी नहीं। आपको जो-जो कुछ करना पड़े, करिश्मे देखने पड़ें, उन्हें आप अभिमानके पल्ले बाँधकर उनका महत्त्व गंवाइये मत। ये सब करिश्मे भगवान्के हैं। उनकी लीलाके अंग हैं। देख-देखकर प्रसन्न होते रहिये। आनन्द लूटिये। रोनेके अभिनयमें भी अन्दर-ही-अन्दर हँसिये। उनके विधानके उत्सवसे सदा आनन्दका ही स्रोत बहता है। विपत्ति-आपत्ति, प्रतिकूलता-पराजय, अपमान-तिरस्कार, पीड़ा-मृत्यु, सभीमें उनकी आनन्दभरी मुस्कान देखिये। भगवान्के प्रत्येक दानको आनन्दसे ग्रहण कीजिये।

मेरा स्वास्थ्य ठीक है, दर्दमें भी कुछ कमी ही समझिये। यहाँ खान-पान, शयन-जागरण सभी प्रायः नियमितसे होते हैं, इससे भी लाभ है। घूमना बहुत थोड़ा होता है और स्वास्थ्यके लिये यही ठीक है।

भोजनके बाद भाई जयदयालके घरपर कुछ मिनटोंके लिए अखबार देखता हूँ। अवश्य ही उसमें मनको विशेष रूपसे लगानेमें डरता हूँ।

मेरे पत्रोंके कुछ अंश छापनेकी बात लिखी, सो मेरा नाम न देकर छाप सकते हैं। व्यक्तिगत बात नहीं आनी चाहिये। पत्र लिखनेका पहले तो विचार ही नहीं था। फिर ऐसी भावना हुई, पत्रका उत्तर दे देना चाहिये। सबेरे डेढ़ घंटेका समय रखा। परन्तु पत्रोंकी संख्या बढ़ चली है। खासकर गोरखपुरके। इससे शायद पत्र लिखना बन्द करना पड़े। जबतक चलता है, चलाता हूँ। लोग अलग- अलग पत्र न लिखकर एक ही पत्रमें अपने समाचार लिखवा दें तो उत्तरमें सुविधा हो।

* * * *

'कल्याण' और 'कल्पतरु'में नाम न देनेकी बात सत्यके नाते आपको ठीक ही समझनी चाहिये। मैं जब कोई काम देखता ही नहीं, तब नाम क्यों रहना चाहिये? इसमें आप अन्यथा कुछ भी न समझें। पत्र बहुत लम्बा हो गया।

आपका
हनुमान

डालमिया दादरी
आश्विन शुक्ल ११, १९९६
(२३-१०-१९३९)

प्रिय श्रीमाधवजी,

सप्रेम हरिस्मरण। आपके पत्रको पढ़ते-पढ़ते मेरी आँखोंमें भी आँसू आ गये। मैं सच लिखता हूँ—आपलोगोंको छोड़कर आना मेरे मनके अनुकूल नहीं है। मुझे इसमें बड़ी प्रतिकूलताका बोध हुआ था। परन्तु, आप निश्चय सत्य समझें, मैं अपने वशमें नहीं हूँ। चक्करमें फँसा हूँ। उससे निकलनेकी शक्ति नहीं है, इच्छा भी नहीं है। सुख प्रतीत होता है। मेरे सुखके लिये आप यह दुःख सहिये। यह अपने मुँहसे कहना है तो बुरा परन्तु आपलोगोंके प्रेमके बलपर ऐसा मैंने कहा था। आप विश्वास कीजिये, मैं इसलिये गोरखपुरसे नहीं हटा कि मुझे आपलोगोंमेंसे किसीके व्यवहारसे असन्तोष था। आपलोग मेरे साथ रहने लायक नहीं थे। आप जानते हैं—मेरे मनमें आपलोगोंमेंसे किसीके प्रति कभी कोई दुर्भाव नहीं हुआ। मैं स्वयं दुर्बलताओंसे भरा हूँ। ऐसी हालतमें यदि आपमेंसे किसीमें कोई दुर्बलता भी हो तो वह मेरे लिये कोई घृणाकी चीज नहीं है। भगवान्‌को छोड़कर कौन ऐसा प्राणी है जो सारी दुर्बलतापर विजय प्राप्त कर चुका हो। मेरे लिये आपके जैसे भाव हैं, सचमुच मैं अपनी ओर देखता हूँ तो अपनेको वैसे भावोंका अधिकारी नहीं पाता हूँ। परन्तु इसलिये— मैं आपके हृदयके सच्चे सरल भावोंका तिरस्कार भी नहीं करता। पता नहीं— मुझ तुच्छ नगण्यके द्वारा ही भगवान्‌ने आपका कोई मंगल विधान रचा हो। 'मशकहिं कसहिं विरंचि प्रभु।' परन्तु मैं स्वयं कुछ भी असाधारणता अपनेमें नहीं देखता। अस्तु, भगवान्‌के राज्यमें आप अपनेको आश्रयहीन कैसे (समझते) हैं? भगवान् सदा सर्वदा सबके साथ हैं। 'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।' ऐसी अवस्थामें अपनेको आश्रयहीन हम क्यों मानें? जिन्होंने सबको आश्रय दे रखा है, उनके मंगलमय आश्रयसे हमी वंचित क्यों रहेंगे? हमारेमें पाप हैं, दोष हैं— तो हम ज्यादा स्नेहके अधिकारी हैं। माँकी गोद उस बच्चेके लिये ज्यादा खुली रहती है जो बीमार होता है। माँ स्वयं उसका मैला धोती है। भगवान्‌को हम अपना आश्रय मान लेंगे तो भगवान् आप ही हमारी देख-रेख रखेंगे। आपका यह लिखना बहुत ही ठीक है कि 'मेरा तो सारा भार मैया पर है। वह मेरी सँभाल रखेगी ही, यह विश्वास दृढ़ कर मैं निश्चिन्त क्यों न हो जाऊँ। सचमुच

ऐसी ही बात है। विश्वास दृढ़ कीजिए। मैं तो तुच्छ प्राणी हूँ– आप भगवान्के बलपर अब भी संसारको चुनौती दे सकते हैं। विश्वास कीजिए– भगवान्का बल जिसके साथ हो उसे क्यों घबड़ाना चाहिये? धरती सरकेगी तो भगवान्की विशाल भुजाएँ आपको हृदयसे लगानेके लिये फैली हुई तैयार मिलेंगी। जिसका सिर आनन्दके साथ भगवान्की इच्छाके सामने झुका है वह तो आनन्दको पा गया।' सचमुच जो भगवान्को चाहता है– भगवान्से प्रेम करता है, उसे अपनी इच्छाको भगवान्की इच्छामें विलीन कर देना पड़ता है। भगवान्की जो इच्छा है, वही उसकी इच्छा होती है। इच्छा तो मोटी चीज है, भगवान्की रुचि, भगवान्का संकल्प, यही उसके जीवनके आदर्श बन जाते हैं। भगवान्के प्रेमकी प्राप्ति अन्य सारे प्रेमोंकी आहुति देनेपर ही होती है। इसमें एक बार कुछ दुःख-सा प्रतीत होता है परन्तु है बड़ा आनन्द, सच्ची शान्ति। यह भावुकताकी बात नहीं है, सत्य है।

बगीचेमें सारा कार्य चल रहा है, सो बड़े आनन्दकी बात है। कथा-कीर्तन जीवनका आधार रहे– प्राणदान करता रहे– यह हमारा बड़ा ही सौभाग्य है।

'आचरणकी पवित्रता और मनको प्रभुमें जोड़ना एवं इन दोनोंके लिये भगवान्के नामका एकान्त आश्रय।' –इसके अतिरिक्त और किसी बातकी आवश्यकता नहीं है। यह विश्वास अवश्य कीजिये कि इस जीवनमें, इसी जीवनमें भगवत्कृपासे आप ऐसा अवश्य कर सकेंगे। भगवत्कृपाके कोषमें असफलता नहीं है यदि सचमुच कृपाका अवलम्बन हो। 'निडरता जितनी ही होगी, उतनी ही सफलता समीप आयेगी' –यह स्थिर सिद्धान्त है। इस भगवत्कृपाके लिए सब कुछ न्योछावर कर देना चाहिये। वह मनुष्य धन्य है जिसका जीवन भगवत्कृपापर निर्भर है और जो भगवान्के नामका एकान्त आश्रय लिये हुए है।

एक रहस्यकी बात और है– ''भगवान् कृपालु ही नहीं है। कृपामें तो कुछ पराया भाव है, हम उनके बहुत ही निकट हैं। वे हमें छोड़ ही नहीं सकते– 'सुहृदं सर्वभूतानाम्।''

आपका
हनुमानप्रसाद

* * * *

डालमिया दादरी
कार्तिक शुक्ल ६, १९९६
(१७ नवम्बर १९३९)

सम्मान्य प्रिय भाई श्रीगिरिधारीजी,

सप्रेम हरिस्मरण। कृपा, दया तथा प्रेम तो श्रीभगवान्‌का हम सभीके ऊपर अपार है। अवश्य ही स्वयं भगवान् जिनकी प्रशंसा करें ऐसे सन्त पुरुषके चरणकमलोंमें कोटिशः साष्टांग प्रणाम हैं। सचमुच ऐसे महापुरुषकी चरणरज किसी भाग्यशालीको ही प्राप्त होती है।

आपके बुखार भगवान् और दुर्बलता मैयाके समाचार पढ़कर आनन्द हुआ। आप धन्य हैं जो इस रूपमें पधारे हुए भगवान्‌को पहचान लेते हैं। भगवान्‌के अनन्तरूप हैं– उनमें दो मुख्य हैं। एक सुन्दर, दूसरा भयानक। सुन्दरमें तो सभी प्रसन्नता प्राप्त करते हैं, यद्यपि उसमें भी भगवान्‌की झाँकी सबको नहीं होती, परन्तु भयानकमें भगवान्‌को देखना बहुत ही कठिन है। अर्जुन सरीखे महात्मा भी भगवान्‌के विकराल कालरूपको देखकर डर गये और पूछने लगे– 'आप कौन हैं?' रोग भी भयानक रूप है भगवान्‌का, और इसी प्रकार कोढ़ी, दरिद्र, श्मशान, सड़ा मुर्दा, भयानक जन्तु आदि भगवान्‌के भयानक, रूद्र और बीभत्स स्वरूप हैं। वे धन्य हैं जो सबमें भगवान्‌को देखते हैं। सचमुच भगवत्कृपासे जब सच्ची आँखें मिल जाती हैं, तब सबमें, सब ओर, सदा, सर्वदा और सर्वथा श्रीभगवान्‌की ही झाँकी दिखलायी पड़ती है। आपको उस अवस्थामें बड़ा आनन्द रहा, श्रीभगवान्‌ने अपनी कृपाके बड़े सुन्दर-सुन्दर नजारें दिखलाये सो ठीक है। श्रीभगवान्‌की लीला बड़ी विलक्षण है और उनकी कृपा जिसपर होती है, वे ही उस लीलाका आनन्द लूटते हैं।

मैं लगभग पौने दो महीनेसे यहाँ हूँ। प्रसन्नतासे दिन कटते हैं। पाँच घंटे तो बन्द कमरेमें रहता हूँ। कभी-कभी तो बड़ा ही आनन्द, अपूर्व सुख मिलता है। स्मरण भी अच्छा होता है। अवश्य ही वातावरण इतना बढ़िया नहीं है। यहाँ अभी तो दो-तीन सप्ताह और टिकना होता दीखता है, उसके बाद गंगातटपर जानेका मन है। प्रभु जैसा चाहेंगे वैसा ही होगा, और वही ठीक होगा। आपको बुलाऊँ क्या, आप चाहे जब पधार सकते हैं। परन्तु यहाँ आना ठीक न होगा। लिखूँगा। संकोचकी कोई बात नहीं है। आप मुझे भक्तिपथमें ऊँचेसे ऊँचा देखना

चाहते हैं, यह आपकी बड़ी शुभ भावना है। ऐसी शुभ भावना कीजिये जिससे श्रीभगवच्चरणोंमें मन स्थिर हो जाय, एक क्षणको भी वहाँसे न हटे। पूज्य श्रीश्रीमहाराजजी पधारे हों तो उनके श्रीचरणोंमें मेरा सादर साष्टांग निवेदन करें।

याद रहे तो कभी श्रीश्रीबालकरामजी और श्रीबिन्दुजी महराजसे मेरा सादर प्रणाम निवेदन कर दें।

श्रीरामललाजी, तीनों भैया, श्रीहनुमानजी, श्रीमाताजी और सरयूजी तथा अयोध्याजीको अनन्त प्रणाम कह दें।

आपका भाई
हनुमान

कृष्ण-प्रेममें निमग्न एक मुसलमान बहनको दादरीसे लिखा पत्र

एक परम सम्मान्या मुसलमान बहनने, जो उन दिनों श्रीकृष्ण-प्रेमसे भावित थीं, भाईजीको श्रीकृष्णके प्रेमीके नाते अपना धर्मभाई मानकर पत्र लिखा था। भाईजीने उनके पत्रका जो उत्तर दिया था, उसीका कुछ अंश यहाँ दिया जा रहा है–

॥श्रीहरिः॥

डालमिया दादरी (जिन्द स्टेट)
२८-११-३९

प्यारी बहिन,

आपने अपनी ही बातें कीं, बहुत अच्छा किया। परायी बातोंमें क्या रखा है? अपनी बात वही है, जिसमें अपने– सबसे बढ़कर अपने– एकमात्र अपने श्रीकृष्णकी मधुर चर्चा हो। आपकी अपनी बातें श्रीकृष्णकी माधुरीसे रँगी हैं, सनी हैं, इसलिये बड़ी ही मधुर हैं। श्रीकृष्णकी माधुरी हृदयको और दिमागको बेकाबू कर देती है, बहा देती है एक आनन्दकी अनोखी धारामें– समुद्रमें भी बाढ़ आ जाती है और वह भी बहने लगता है।

श्रीकृष्णके एक बड़े प्रेमीभक्त भगवत-रसिकजी कहते हैं–

लखी जिन लाल की मुसुकान।
तिनहिं बिसरी बेद बिधि, जप, जोग, संजम, ध्यान॥
नेम, ब्रत, आचार, पूजा, पाठ, गीता-ग्यान।
'रसिक भगवत' दृग दई असि ऐंचि कैं मुख-म्यान॥

बड़े-बड़े तपस्वियोंको मोहित करनेवाली सद्गुरुकी हँसी, जगत्में आनन्दका समुद्र बहा देनेवाली संतोंकी हँसी, भगवान्के नामपर प्राणोंकी बलि चढ़ानेवाली शहीदोंकी हँसी, अपनी शूरतापर हर्षित न होनेवाले वीरोंकी हँसी, सफलतापर आनन्दको न पचा सकनेवाले सकाम पुरुषोंकी हँसी, बहुत बड़े साधकोंके चित्तको हिला देनेवाली अप्सराओंकी हँसी, महात्मा गांधी-जैसे पुरुषोंको आनन्द-मुग्ध कर देनेवाली शिशुओंकी हँसी— जितने प्रकारकी हँसी— अनादिकालसे अबतक नित्य नवीन रूपोंमें, सदा ताजी होकर, लोगोंके मनोंको मोहती है, उन सारी हँसियोंको एक स्थानमें एकत्र करनेपर भी वह श्रीकृष्णकी मधुर हँसीके सामने समुद्रके सामने एक नन्ही-सी बूँदकी तुलनामें भी नहीं आ सकती। श्रीकृष्णकी उस हँसी, उस मुस्कान, उस माधुरीकी महिमा कौन कह सकता है? जगत्की सारी मधुरिमा, सारा सौन्दर्य जिस नटनागरकी हँसीकी छायाकी छाया नहीं कही जा सकती, वह हँसी कैसी होती है— इस बातको वे ही जानते हैं, जिन्होंने कभी उस हँसीका— उसकी छायाका भी साक्षात्कार किया है। परंतु यह निश्चय है, जिन्होंने वह हँसी देखी है, उनका सब कुछ उस हँसीने हर लिया है, बहन, मैं उस हँसीकी बात क्या कहूँ? यह भी नहीं कह सकता कि मैंने कभी उसकी छाया नहीं देखी है, यह भी नहीं कहते बनता कि देखी है। सचमुच देखी होती तो आज कुछ और ही स्वरूप होता आपके इस नाचीज भाईका।

सचमुच वे सब कुछ हैं, सब कुछसे परे भी वे ही हैं; वे सर्वेश्वर हैं, सर्वलोकनमहेश्वर हैं, योगेश्वरेश्वर हैं; सृष्टि-स्थिति-प्रलय उनके विनोदकी रेखाएँ मात्र हैं। वे हिंदुओंके ईश्वर, वेदान्तियोंके ब्रह्म, मुसलमानोंके अल्लाह, ईसाइयोंके गॉड, प्रेमी क्रिश्चियन संतोंके 'Beloved', सूफियोंके माशूक, आस्तिकोंके अस्तित्व, नास्तिकोंकी नास्ति, वैज्ञानिकोंके नियम और जो कुछ भी कहें— वे सब कुछ हैं; परंतु 'सब कुछ' होते हुए भी वे 'मेरे श्रीकृष्ण' हैं। मेरा उनसे 'मेरे'का नाता है।

और आप उस 'मेरे कृष्ण'को 'बन्धु कान्हा' कहकर पुकारती हैं और वे आपको– 'बन्धु'के रूपमें आकर्षित करते हैं। आप मेरी बहन तो थीं ही, इस नातेसे बहुत ही सम्माननीय, बहुत ही प्यारी, बहुत ही नजदीकी एक माँके पेटसे जन्मी हुई– से भी अधिक नजदीकी बहन हैं। वे आपके 'बन्धु' हैं, ठीक है। बहुत अच्छी बात। मेरे तो वे 'सर्वस्व' हैं। वे जिस-किसी भी नातेसे मुझे आकर्षित करें, मैं उसीके लिये तैयार रहना चाहता हूँ। यह तैयारी भी उन्हींके कराये होती है। वे बड़े लीलामय हैं। न मालूम कैसी-कैसी रंगतें दिखलाते हैं। सचमुच आपके सामने मैं बे-पर्द हो गया। पता नहीं, श्रीकृष्णकी क्या मन्शा है; उन्होंने क्यों मेरे जीवनकी गुप्त-से-गुप्त बात किसी अंशमें स्पष्टतौरपर आपके सामने कहलवा दी। मैं, बहन, शरीरसे तो पक्का सनातनी– वर्णाश्रमी हिंदू हूँ, परंतु मैं वस्तुतः कुछ भी नहीं हूँ। मैं तो 'मेरे' श्रीकृष्णका हूँ– क्या हूँ, सो पता नहीं है। यदि श्रीकृष्ण मुझे अपना बनाया रखें– तो यहाँ कुछ भी हो, कैसी भी हालत हो, नरकका स्थान मेरे लिये सुरक्षित रहे, जगत्की गालियोंकी बौछार सदा सिरपर बरसती रहे, मुझे मंजूर है। और उनको छोड़कर ऊँची-से-ऊँची पदवी, बड़े-से-बड़ा सौभाग्य भी मेरे लिये दुर्भाग्य है। फिर हिंदू-मुसलमानके भेदकी तो बात ही क्या है? यह सारा भेद यदि तत्वतः देखें तो केवल शरीरको लेकर ही है और यदि मार्ग दिखानेवालोंकी नजरसे देखें तो उस एक ही 'सत्य'को प्राप्त करनेके ये अपने-अपने अलग-अलग अनुभूत रास्ते हैं। जिसने जिस रास्तेसे सफर की, और वहाँ पहुँचा, वह उसी रास्तेका बयाँ करता है और ठीक ही करता है। सच्चा सम्बन्ध तो आत्माका है। श्रीकृष्ण आत्माके भी आत्मा हैं, वे हमारे सब कुछ हैं। इसलिये उनके सामने, उनकी तुलनामें किसी भी धर्मकी कोई महत्ता नहीं है। ये मजहब तो बहुत ही इधरकी चीज हैं। श्रीकृष्णका प्रेम तो 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'से ही शुरू होता है। गोपियोंकी चरण-रजकी इच्छा करते हुए उद्धवजीने श्रीमद्भागवतमें कहा है–

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

'अहा, कैसे इन गोपियोंकी चरण-धूलि मेरे मस्तकपर पड़े? भगवान् मुझे इस वृन्दावनकी कोई बेल, कोई ओषधि, कोई नन्हा-सा झाड़ बना दें,

जिसपर इनके कदमोंकी धूलि पड़ती है। इन गोपियोंने श्रीकृष्णके लिये– जिनका छोड़ना बहुत ही कठिन है, उन स्वजनोंको और सनातन धर्मको भी छोड़ दिया और मुकुन्दके उन चरणोंका अनुसरण किया, जिनकी खोज सदा वेद करते रहते हैं, परंतु पाते नहीं।'

कृष्ण-प्रेम-पथ पथिक कें, रहि न सकैं कुल-कान।
मेंड मिटी, फाजिल भए, बेद-पुरान-कुरान॥

यह वेद-पुरान-कुरानका अपमान नहीं है– वेद-शास्त्र अपना फल देकर उसपरसे अपना अधिकार हटा लेते हैं। नारदजीने कृष्णप्रेमीकी व्याख्या करते हुए कहा है–

वेदानपि संन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते।

'वह वेदोंका भी भलीभाँति त्याग कर देता है। वही अखण्ड, असीम श्रीकृष्ण-प्रेमको प्राप्त होता है।'

है भी यही बात। नावपर सवार उस पार घर पहुँच गये, फिर नावको सिरपर ढोकर ले चलनेकी क्या जरूरत? परंतु यह प्रेम जबानकी चीज नहीं है। श्रीकृष्ण-कृपासे ही मिलता है। आपने ठीक ही लिखा है– 'इन्सान तो इतना ही कर सकता है कि उनको याद करे'– परंतु वह याद भी उनकी कृपासे ही कर सकता है। मैं उन्हें रो-रोकर पुकारता हूँ, ऐसी बात नहीं है। मेरे आँसू तो सूख गये हैं। लोगोंके सामने तो मैं कभी रो ही नहीं सकता। एकान्तमें– वे रुलाते हैं तो रोता हूँ, हँसाते हैं तो हँसता हूँ। इस समय आँखोंमें आँसू आ गये। अब तो बह चले हैं ....

आप अपनेमें श्रीकृष्णप्रेम नहीं देखतीं। कहती हैं– 'श्रीकृष्णप्रेम, ओ भाई साहब, वह मुझे कब मिलेगा?' यही तो प्रेमियोंके दिलका फोटो है। उन्हें कभी यह महसूस होता ही नहीं कि हमारे अंदर भी प्रेम है। इसीसे तो प्रेमका स्वरूप है– 'प्रतिक्षणवर्धमानम्' –प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है। जिस प्रेममें 'बस' है, जो प्रेम यह कहता है कि 'मैं तुझमें पूरा आ गया', वह तो प्रेम ही नहीं है। ज्ञानियोंकी भाँति प्रेमी यह नहीं कहता कि 'बस, अब कुछ भी मिलना बाकी नहीं है। सब मिल चुका, सब कर चुका।' वह खामोश नहीं हो जाता; वह तो एक-एक क्षणमें अनुभव करता रहता है– अपनी प्रेमकी

कमीका। उसमें ज्ञानका अभाव नहीं है। वह प्रेमास्पद प्रियतम श्रीकृष्णके स्वरूपको जानता है, तभी तो सब-कुछ छोड़कर– सबसे नाता तोड़कर उनसे प्रेमका सम्बन्ध स्थापित करता है। परंतु प्रेममें ज्ञान अलग स्वरूपस्थ होकर नहीं रहता, वह प्रेममें घुल-मिलकर छिप जाता है। इसीसे प्रेमी सदा तृप्त होकर भी अतृप्त रहता है। वह देखता हुआ भी नहीं देखता– देखना ही चाहता है; सुनता हुआ भी सुनना ही चाहता है; मिलता हुआ भी मिलना ही चाहता है। यही तो उसका पागलपन है। एक प्रेमिका गोपी अपनी आँखोंकी दशापर कहती है–

नित के जागत मिटि गयौ वा संग सुपन-मिलाप।
चित्र-दरसहू कौं लग्यौ आँखिनि आँसू पाप॥
इन दुखिया अँखियान कौं, सुख सिरजौ ही नाहिं।
देखत बनै न देखते बिनु देखे अकुलाहिं॥

'रातको कभी नींद आती ही नहीं; इससे सपनेमें– ख्वाबमें कभी मिलाप हो जाता था, वह भी नहीं होता। और दिनमें आँखोंमें आँसुओंका पाप लग गया, जो उनका चित्र भी नहीं देखने देता। विधाताने इन दुखियारी आँखोंके लिये सुख रचा ही नहीं; देखते समय देखना बन नहीं पड़ता, और बिना देखे ये व्याकुल रहती हैं।'

यह सच है कि किसी दिलमें जब उनकी प्रेमभरी याद भड़कने लगती है, तब वे आकर उस व्यक्तिके रोम-रोममें व्याप्त हो जाते हैं और फिर तमाम वायुमण्डल कृष्णमय ही हो जाता है। इसीसे तो प्रेमियोंकी यह घोषणा है–

नारायन जाके हिएँ सुंदर स्याम समाय।
फूल-पात-फल-डारमें ताकौं वही दिखाय॥
दर-दिवार दरपन भए, जित देखौं, तित तोहि।
काँकर पाथर ठीकरी भए आरसी मोहि॥

* * *

कानन दूसरौ नाम सुनै नहिं, एकहिं रंग रँगौ यह डोरौ।
धोखेहु दूसरौ नाम कढ़ै, रसना मुख बाँधि हलाहल बोरौ॥

ठकुर प्रीति की रीति यही, हम कैसेहुँ टेक तजैं नहिं भोरौ।
बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ, जो साँवरौ छाँडि निहारति गोरौ।।

तमाम वायुमण्डलव उनसे भर जात है, वे ही दीखते हैं। फिर भी प्रेमीकी तृप्ति नहीं होती। वह सबको भूल जाता है। सबमें उनको देखना तो सबको याद रखना है। वह तो, बस, एक उन्हींको लेकर, उन्हींसे मिल-जुलकर, उन्हींके साथ बातचीत कर, उन्हींमें मन-तन रमाकर अपने आपको भुला देता है। एक 'नारायण' नामके पागल कृष्ण-प्रेमी हुए हैं— पंजाबी शरीर था— वृन्दावन वास करते थे— श्रीकृष्णके बड़े प्यारे थे। वे कहते हैं—

जाहि लगन लगी घनस्याम की।
धरत कहूँ पग, परत कितेहीं, भूलि जाय सुधि धाम की।।
छबि निहारि नहिं रहत सार कछु, निसि-दिन-पल-छिन-जाम की।
जित मुँह उठै तितेही धावै, सुरति न छाया-धामकी।।
अस्तुति निंदा करौ भलेंहीं, मेंड़ तजी कुल-ग्राम की।
'नारायन' बौरी भई डोलै, रही न काहू काम की।।

जरूर वे 'माशूके-आलम' हैं; परंतु प्रेमी— आशिक तो उन्हें, बस, अपने ही 'माशूक' देखना चाहता है। वह अकेला ही उनके प्रेमकी वह 'मोनॉपली' (एकाधिकार) चाहता है। वह कहता है—

आवहु प्रीतम नैन में पलक बंद करि लेउँ।
ना मैं देखूँ और कौं ना तोहि देखन देउँ।।

इसीसे तो प्रत्येक प्रेमिका गोपीके साथ रास-मण्डलमें अलग-अलग श्रीकृष्ण थे। आज भी वही बात है। प्रेमियोंके लिये वे वैसे ही हैं।

बस, आज वे इतना ही करने देते हैं। बहन, क्या लिखूँ— उनकी एक-एक बातमें रंग भरा है। अनन्त— अजीब आनन्दके फव्वारे छूटते हैं। वे किसके साथ कब, कैसे खेलते हैं, किसको कब, किस खेलमें लगाते हैं— वे ही जानें। विचित्र है, अनूठी है उनकी लीला। बलिहारी है, जै जै।

आपका भाई,
हनुमानप्रसाद

साधनाके लिये रतनगढ़में एकान्तवास

मार्गशीर्ष शुक्ल १० वि.सं.१९९६ (२१ दिसम्बर १९३९) को भाईजी दादरीसे चलकर एकान्तवासके लिये रतनगढ़ पहुँचे। वहाँ भी दिनचर्या कुछ परिवर्तनके साथ दादरीकी भाँति ही चलती रही। लगभग पाँच-छः घण्टे एकान्त कमरेमें रहते और शामके समय शहरके बाहर टीबोंमें चले जाते। एक दिन उन्होंने अपने एक प्रेमीको संकेत भी किया कि गोरखपुरकी अपेक्षा दादरीमें और दादरीकी अपेक्षा भी रतनगढ़में श्रीकृष्णकी मधुर लीलाओंके दर्शन नित्य नये रूपमें अधिक होते हैं। वहाँके जीवनकी कुछ झलक नीचे दिये गये श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीको लिखे पत्रोंके अंश पत्रोंसे मिलेगी –

प्रिय श्रीगोस्वामीजी,

\.... आप सबको समझा दें–मुझ भीतरी पागलको दूर पड़ा रहने दें। कहीं पागलपन बाहर आ गया तो सबको हैरान होना पड़ेगा। रोक-रोककर रखता हूँ सबके सामने। अन्दर तो उन्माद बढ़ रहा है। क्या लिखूँ।

आपका

हनुमान

गोरखपुरमें मुसलमान भाईयों द्वारा गीताप्रेसके विरुद्ध दुश्प्रचार एवं गीताजयन्तीके जुलूसपर हमला

उपरोक्त समाचार मिलनेपर मिलनेपर भाईजीने रतनगढ़से पत्रों द्वारा किस प्रकार मार्गदर्शन किया, देखें –

रतनगढ़ (बीकानेर)

मार्गशीर्ष शुक्ल १४, सं.१९९६

(२५ दिसम्बर १९३९)

प्रिय श्रीगोस्वामीजी, श्रीमदनलालजी,

सप्रेम हरिस्मरण। आपलोगोंके पत्र मिले। सब समाचार जाने। मैं होता तो ऐसी नौबत न आती या और कुछ हो जाता, किसको पता है। मुसलमान भाई प्रेसके विरुद्ध प्रोपेगंडा कर रहे हैं, सो अच्छी बात है। ये भगवान्‌के विधानसे ही ऐसा कर रहे हैं। इसीमें प्रेसका और हमारा मंगल होगा। वे लोग

सुलह नहीं चाहते, प्रेस तथा साहेबगंजवालोंको फँसाना चाहते हैं, कलक्टरसाहबके कान भर रहे हैं —यह सब बातें स्वाभाविक ही हैं। आपके साथ कोई नहीं है, हिन्दुओंकी ओरसे कोई पैरवी नहीं हो रही है, उनकी ओरसे मुस्तैदीसे काम हो रहा है— ऐसा होता ही है। हिन्दुओंमें ऐसी शिथिलता सभी जगह पायी जाती है। हमारे यहाँ कोई गिरफ्तारी हो तो जमानत देकर छुड़ानेकी चेष्टा कीजिए। वकील रखकर पैरवी कराइये। कोई साथ नहीं है तो क्या है, भगवान् सदा साथ हैं और प्रत्येक कार्यमें उनका मंगलमय हाथ है। श्रीशुक्लजीको सहायता वे करेंगे। मेरी समझमें तो इस कार्यमें शुक्लजीको कार्य करने दीजिये, वे अच्छा काम कर सकेंगे। हरदेवजी आ गये होंगे, वे भी सहायता देंगे। शुक्लजीको भगवान् गाइड करेंगे—जैसा कराना होगा, वैसी ही बुद्धि देंगे। आपलोग सभी इस बातपर विश्वास करके यथायोग्य सम्मति-सहायता देते रहिये। मुझे आना पड़ेगा तो मैं क्योंकर इन्कार कर सकूँगा। आपने घबड़ाकर पत्र नहीं लिखा है, परिस्थिति ऐसी ही है, समझमें आ रही है, परन्तु कुछ डाँवाडोल तो हुए ही हैं जो स्वाभाविक ही है। आपसमें खूब प्रेम बढ़ानेकी तथा एकमतसे काम करनेकी चेष्टा कीजिए। बहुत सावधानी रखिये। भगवद्विश्वास न हिल जाय। और किसीके अहितकी भावना हमारे मनमें न आ जाय। प्रेसकी पोजिसन और उसके आध्यात्मिक रूपकी सच्ची रक्षा इसीमें है। बदनामी हो, प्रेस गोरखपुरसे अन्यत्र चला जाय, उठ जाय, इसमें कुछ भी हर्ज नहीं है। भगवान्‌का यही विधान होगा तो यही परम श्रेष्ठ है। शायद किसी खास परिवर्तनके लिये या हमलोगोंकी परीक्षाके लिये ही इस काममें प्रेसका सम्बन्ध भगवान्‌ने जोड़ा है। मुझे सब बातोंसे जानकारी रखते रहिये। श्रीशुक्लजीसे मेरा सादर सप्रेम हरिस्मरण कहिये और कहिये कि भगवान् तथा इष्टदेवपर विश्वास रखकर कर्तव्य-पालन करते रहें। भगवान् सब मंगल ही करते हैं। पता नहीं भगवत्कृपा कब किस रूपमें हमारे सामने प्रकट होती है। ऐसी ही स्थितिमें तो परीक्षा होती है, आपलोग जरा भी घबराइये नहीं। एक अच्छा वकील जरूर कर लीजिए। मुझे लिखिये, यदि किन्हींको पत्र लिखना हो तो लिखूँ। किसी भी परिस्थितिमें धैर्य, साहस, बुद्धि और भगवद्विश्वासको मत खोइये।

आपका
हनुमान

रतनगढ़ (बीकानेर)

प्रिय श्रीगोस्वामीजी,

सप्रेम सादर हरिस्मरण। आपका तथा मदनलालजीका एक-एक पत्र मिला। तार भी मिले थे। तीन-चार दिनोंसे हृदयके पास दर्द कुछ ज्यादा है, पीठमें भी कुछ दर्द है। इस दर्दका सावित्रीकी माँको पता लग गया था, इसीसे आज नहीं आ पाया, नहीं तो मैंने तो आनेका विचार कर लिया था। मुझे मुकदमें आदिका तो कुछ भी भय नहीं है। यदि मनमें कोई संकोच है तो इसी बातका है कि आपलोगोंमेंसे किन्हींके मनमें इस बातको लेकर दुःख न हो कि हमलोगोंकी इस विपत्तिकी अवस्थामें भी भाईजी नहीं आये। इसके अतिरिक्त और जरा भी चिन्ता नहीं है।

श्रीभगवान् मंगलमय है, उनकी देखरेखमें ही सब कुछ होता है। आपका हमारा हृदय इस बातको जानता है कि अपने न तो कोई बुरी नीयत थी, न मुसलमानोंपर या मस्जिदपर आक्रमण करनेकी कल्पना थी, न किसीने आक्रमण किया ही। इसपर भी यदि वे लोग गढ़-गढ़ाकर कोई केस खड़ा कर सकें तो मानना चाहिये कि यही भगवान्‌की इच्छा है। भगवान्‌की कृपा ही सब कुछ कराती है। उन्हींके विधानसे उन्हींकी गीताजयन्तीके जुलूसपर हमला हुआ, उन्हींके विधानसे चोट लगी, उन्हींके विधानसे आगे जो कुछ होना होगा, होगा ही। अपने भगवान्‌के सामने निर्दोष हैं, इसपर कलक्टर साहब हमें क्यों दोषी मान लेंगे? थोड़ी देरके लिये मान लें, किन्हींके उल्टा-सीधा समझा-बुझा देनेसे उनका विचार पलट जाय और वे हमें दोषी ही मानने लेगें तो हमारा क्या बिगड़ेगा? हमलोग जबतक भगवान्‌के सामने निर्दोष हैं, तबतक यहाँकी किसी भी घटनासे हमारे यथार्थ नुकसान कदापि नहीं हो सकता। मान लीजिये, गिरफ्तारियाँ हों, हमारे आदमी पकड़े जायँ तो जमानत देकर उन्हें छुड़ाइये। एक अच्छे वकीलको कर लीजिए, उनकी रायसे सारे काम हों– मामला लड़िये। ठीक सच्ची-सच्ची बात कोर्टमें कह दीजिए। जो होना होगा, हो ही जायगा। यदि हमारा दोष नहीं होगा तो हमपर क्यों कुछ होगा, और यदि कुछ हो ही जाय तो वह किसी पूर्वकर्मके फलदानोन्मुख प्रारब्धके कारण होगा, वह होना ही चाहिए। हमें उसके लिये चिन्ता क्यों करनी चाहिए? थोड़ी देरके लिये मान लिजिये, हमारे किसी कर्मचारीको या

हमलोगोंमेंसे किसीको पूरी पैरवी और सच्चाईपर कायम रहते हुए ही जेल जाना पड़े, तो वह अवश्य ही हमारे कल्याणके लिये होगा। कर्मचारी जेल जायगा तो उसके घरवालोंके लिये भरण-पोषणका प्रबन्ध हो जाना चाहिये, जो हो सकता है। अधिक-से-अधिक कोई बात हो तो वह यही न होगी कि प्रेस वहाँसे उठ जायगा, हमलोग मारे जायेंगे। पर इससे हमारा क्या बिगड़ेगा? भगवान्‌के विधान बिना होगा नहीं। विधानको बदलना किसीके लिये साध्य नहीं है। और बदला भी क्यों जाय, वह मंगलमय भगवान्‌के मंगलमय हाथकी रचना है। हमारे मंगलके लिये ही है। हाँ, यदि हम सच्चाई और भगवद्विश्वासको छोड़कर अपने उद्देश्यसे गिरते हैं तो जरूर गलती करते हैं। मुझे तो इस बातकी जरा भी चिन्ता नहीं है। केस चले, सब बातें बिल्कुल सच-सच कह देनी चाहिये। झूठे गवाह सजानेकी, बनानेकी जरा भी आवश्यकता नहीं। पैरवी अच्छी तरह हो, अच्छे-अच्छे वकील भी रहें। पैसा खर्च हो तो हर्ज नहीं। फिर परिणाम जो कुछ होना होगा, वही होगा। मान लीजिये, प्रेसकी बदनामी होगी, कलक्टरका मन फिर जायगा। इससे क्या बिगड़ेगा? भगवान्‌का मन तो नहीं बदलेगा। आखिर सत्यका परिणाम विजयमें ही पर्यवसित होगा। चाहे वह हमारे इस जीवनमें सामने न आये। मैं आपसे, मदनलालजी, गंगाबाबू, पं.लादूरामजी, बजरंगलालजी, श्रीशुक्लजी महाराज, बगीचेके सभी लोग तथा और सभीसे यह अनुरोध करता हूँ कि भगवान् और सत्यपर तथा भगवान्‌के मंगलमय विधानपर निश्चित विश्वास करके परिणामकी ओरसे तो निश्चिन्त हो जाइये। जो उन्होंने रचा है वही होगा और वही मंगलमय होगा, चाहे देखनेमें भयानक ही हो। जरा भी चिन्ता करके उनकी कृपापर अविश्वास मत कीजिए।

इच्छा यही रहे– गोरखपुरमें शान्ति रहे और प्रेम बढ़े। अपने मनसे किसी भी मुलसमानका बुरा न चाहा जाय। सबका भला हो, सब सुखी हों, यही भाव रहे।

एक अच्छा वकील तय कर लें, उनकी रायसे काम करें। मैंने पं.हरदेवजी शर्माको डालमिया नगरसे बुलानेका तार दिया है, वे शायद पहुँच गये हों। बहुत ही होशियार तथा योग्य पुरुष हैं, उनसे काफी मदद लीजिये। परन्तु विश्वासको रखिये भगवान्‌पर ही, किसी चाल या चालाकीपर नहीं।

मुख्य बात तो भगवत्कृपा और भगवद्विधानपर तथा सत्यपर विश्वास है। जरा भी चिन्ताकी बात नहीं है।

रही मेरे आनेकी बात, सो इस कामके लिये तो मैं अपनी कोई आवश्यकता नहीं समझता। भगवान्‌का रचा हुआ ही हो रहा है, रचा हुआ ही होगा। न मालूम किस रूपमें भगवान् क्या करना चाहते हैं। हाँ, आपलोगोंके चित्तमें मेरे न आनेसे कोई धक्का लगे तो उससे मैं बहुत डरता हूँ। मैं आज ही चला आता, परन्तु नहीं आ सका। इसमें भी भगवान्‌का ही विधान है। अब यदि आपलोग यही समझें कि मेरे आनेसे ही आपलोगोंको सन्तोष होगा तो किसी भी हालतमें मुझे जरा भी इन्कार नहीं है। मैं सदा ही आपके साथ हूँ। अधिक क्या लिखूँ। भगवद्विश्वास, साहस, परिणामके सम्बन्धमें निश्चिन्तता, सत्य न छोड़िये और बुद्धिमानीके साथ कार्य करते रहिये।

आपका
हनुमान

* * * *

रतनगढ़ (बीकानेर)
२९ दिसम्बर १९३९

प्रिय श्रीगोस्वामीजी,

सप्रेम सादर हरिस्मरण। परसों आपका तार मिला था। कल दो तार तथा पत्र दिये थे सो पहुँचे ही होंगे। आज सबेरे आपका तार मिला, उसी समय श्रीचेतरामजी छोटेलालजीका मदुरासे घबराहटका तार मिला। उन्होंने चारोंके गिरफ्तार होनेकी बात लिखकर मुझे तुरन्त गोरखपुर जानेके लिये अनुरोध किया था। यद्यपि दर्द था, परन्तु मैंने यह निश्चय कर लिया, सावित्रीकी माँसे भी सम्मति ले ली कि यदि गोरखपुरको तार देनेपर उत्तरमें बुलानेका समाचार आ जाय तो मैं गोरखपुर चला जाऊँ, इसी निश्चयसे आपको तार दिया गया तथा दादरीमें श्रीजयदयालको तार दे दिया कि मेरे साथ जानेके लिये श्यामलालजी वकीलको तैयार रखो तथा मदुराको भी तार दे दिया था कि मैं गोरखपुरके तारकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ– स्वास्थ्य बहुत अच्छा न होनेपर भी मैं गोरखपुर चला जाऊँगा। आपके तारकी प्रतीक्षा कर रहा था।

इसी समय आपका तार मिला। पढ़कर बड़ा आश्वासन मिला। मैं आपको पहले ही लिख चुका हूँ कि दर्द कुछ बढ़ा हुआ-सा है, परन्तु उस दर्दके कारण मैं आवश्यक होनेपर रुक नहीं सकता। आज तो दर्द भी कुछ कम है। यद्यपि मुझे इस मामलेके कारण कोई चिन्ता नहीं है, न भगवान्‌के मंगलमय विधानमें जरा भी शंका ही है, तथापि प्रेसवाले, साहेबगंजवाले यह अनुभव न करें कि भाईजी हमारी विपत्तिके समय नहीं आये, इसीसे मैंने अपना विचार स्थिर कर लिया था। अब आपका तार मिलनेपर रुक गया हूँ। आपने मेरे आने-न-आनेके बाबत कुछ नहीं लिखा। स्थिति कुछ ठीक है और मेरे दर्दका समाचार आप पा चुके हैं, इसलिये बुलानेकी बात तो कैसे लिखते। और मेरे गोरखपुर जानेसे कुछ सुविधाकी सम्भावना है ही, इसलिये 'ना' भी कैसे लिखते। परन्तु मैंने तो यही समझा कि जैसी घबराहट पहले थी, वैसी अब नहीं है, इसीलिये मैंने गोरखपुरका विचार अभी छोड़ दिया है। कलके और आजके लिखे हुए आपके पत्र मिलनेपर या बीचमें कोई दूसरा तार मिलनेपर पुनः विचार किया जायगा।

यह समझमें नहीं आता कि इन लोगोंको क्यों पकड़ा, ये तो बेचारे निरीह आदमी हैं, पकड़ते ही इन लोगोंकी तो एक बार बुरी दशा हो गयी होगी। हमला तो मुसलमानोंने किया था, उनमेंसे एक भी क्यों नहीं पकड़ा गया? क्या पुलिसकी जाँच पक्षपातपूर्ण हो रही है अथवा कान्फ्रेन्सके समय हिन्दुओंको डराये रखनेके लिये ऐसा किया गया है? कलक्टरका रुख कैसा है? मेरा पत्र उन्हें जरूर दे दिया गया होगा।

वास्तवमें हिन्दुओंको कलक्टरपर यह जोर डालना चाहिये था कि हमलोगोंके शान्तिमय जुलूसपर अकारण ही आक्रमण किया गया, इसलिये उन लोगोंको उचित शिक्षा मिलनी चाहिये, जिससे आइन्दा ऐसा न होने पाये। परन्तु गोरखपुरके हिन्दू कुछ करते ही नहीं, तब क्या किया जाय?

विशेषांकके लिये श्रीगर्देजीको बुलाकर काम शुरू कर देना चाहिये। आपको तो अधिक समय इस काममें लगाना पड़ेगा।

आपका

हनुमान

* * * *

रतनगढ़ (बीकानेर)
४ जनवरी १९४०

प्रिय श्रीगोस्वामीजी,

सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका पौष कृष्ण ७ का पत्र मिला। मैंने कल पत्र लिखा था, पहुँचा होगा। सुलहकी मीटिंगमें जो कुछ बातें होंगी, उनका सार आप लिखेंगे ही।

श्रीज्वालाप्रसादजीने तो वायसराय, गवर्नर, गांधीजी, नेहरूजी आदिको तार देनेके लिए कहा बताते हैं, परन्तु मेरी समझसे उसमें लाभ नहीं है। गांधीजी, नेहरूजीका मत मुसलमानोंके लिये यही होना संभव है कि उनके सामने आत्मसमर्पण कर दो। यद्यपि हमलोग शान्ति ही चाहते हैं, तथापि यह हमारे मतके अनुकूल नहीं है। वायसराय, गवर्नर आदिको तार वगैरह कलक्टरको सूचना देकर या उनसे कुछ न होता दीखे या वे जान-बूझकर अन्याय करते हों और उनसे भलेकी आशा न हो, तभी देने चाहिये। नहीं तो जैसा कलक्टर कह गये हैं, उन्हींको मार्फत गवर्नरके पास अपनी सच्ची बातें जायँ तो और अच्छा है।

श्रीमहावीरप्रसादजीके मार्फत सुलहका प्रस्ताव आ रहा है, सो ठीक है। यदि विश्वसनीय पुरुषोंके द्वारा आये, धोखेकी संभावना न हो तो अपने तो सदा ही सुलह चाहते हैं। आपके लिखनेके अनुसार न तो अपनी किसीसे दुश्मनी है और न अपनी ओरसे हमला या कोई ज्यादती ही हुई है।

गोरखपुरके दंगेके इस मामलेमें श्रीशुक्लजीका प्रयत्न, पुरुषार्थ, दौड़-धूप, साहस, बुद्धिमानी सभी सराहनीय है। इस सम्बन्धमें आप श्रीजयदयालजीको कुछ लिख सकते हैं, श्रीमहन्तजी बाबत भी लिखना चाहिये। इनका उचित एप्रेसियेशन होना चाहिये। सबसे सादर यथायोग्य। श्रीजयदयालजी वाला लेख जल्दी ही भेजनेका विचार है।

आपका
हनुमान

* * * *

रतनगढ़ (बीकानेर)
९ जनवरी १९४०

प्रिय श्रीगोस्वामीजी,

सादर सप्रेम यथायोग्य। आपका पत्र मिला। कलक्टरको लिखे हुए दुसरे पत्रकी नकल मिली। एक जगह उसे बढ़ाकर बहुत ठीक कर दिया गया है। हिन्दू-सभाका डेपुटेशन कलक्टरसे मिला होगा। मुसलमानोंमें जैसा जोश होता है, वैसा हिन्दुओंमें नहीं होता। इसका कारण उदासीनता और अकर्मण्यता ही नहीं है, उदारता, न्यायप्रियता और विचारशीलता भी है। मि. दासका पत्र कल आया है। उसका एक अंश इस पत्रके साथ भेज रहा हूँ। साथ ही मैंने जो उत्तर लिखा है उसे भी भेज रहा हूँ। यह पत्र उनके पास सुरक्षित पहुँचा दीजियेगा। मि. दासके पत्रमें मुसलमानोंका पक्षपात नहीं है— मेरी समझसे न्यायप्रियता है जो एक उत्तम गुण है और हिन्दु-संस्कृतिका आदर्श है। अवश्य ही युगधर्मके अनुसार मुसलमान भाई तथा अधिकारी-वर्ग इसका अनुचित लाभ भी उठा सकते हैं या स्वाभाविक ही परिस्थितिवश इससे हिन्दुत्व कुछ शिथिल हो सकता है। तथापि गुण तो गुण ही है। भगवान्‌के सामने तो सद्‌गुणकी ही विशेष महिमा है। श्रीचारुबाबूका एक पत्र मिला है। उन्होंने भी मेरे हिन्दू-मुसलमानोंके मेल बने रहनेके भावको विशेष पसन्द किया है, यह भी हिन्दू-चित्तवृत्तिकी एक तस्वीर है। मुसलमानोंमें इस प्रकारकी विचारधारा कम है, यह तो मानना ही पड़ता है। इसका कारण उनकी शिक्षा-दीक्षा, धार्मिक संस्कार आदि ही है।

श्रीबाबा राघवदासजीकी स्कीमोंका क्या हुआ— इसका तो पीछेके पत्रोंसे पता लगेगा। यदि दोनों पक्ष स्वयं मिलकर तय कर लें तब तो अच्छा ही है। मनमुटाव रहना भविष्यके लिये खतरनाक है। यों तो न्याययुक्त प्रयत्न अपनी ओरसे हो ही रहा है।

श्रीगर्देजी महाराज आ गये होंगे। उनसे मेरा सादर प्रणाम कहिये। उनको कोई तकलीफ न हो, इस बातका ख्याल तो आप लोग रखते होंगे। 'साधनांक'का काम अब जोरसे समाप्त हो जाना चाहिये।

आपका
हनुमान

रतनगढ़ (बीकानेर)
१६ जनवरी १९४०

श्रीमदनलालजीसे हनुमानका सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला, उत्तर दिया ही था, पहुँचा होगा। अब मालूम हुआ—मुसलमान भाई समझौतेके लिये तैयार नहीं हुए, मामला कोर्टमें जायगा। इससे संभव है, कुछ भयकी स्थिति पैदा हो जाय। आपको मैं क्या समझाऊँ, आप बहुत समझते-जानते हैं। फिर भी कुछ कहनेकी धृष्टता करता हूँ—जो कुछ हो रहा है वह सभी भगवान्‌के संकेतसे, उन्हींके विधानके अनुसार हो रहा है। जिन लोगोंका कोर्टमें विश्वास है, वे कोर्टमें चेष्टा जरूर करें। अफसरोंसे मिलना, मामला ठीक पेश करना, गवाहियोंसे सच्ची बातें कहलवाना, पुलिस अन्याय न कर सके इसकी व्यवस्था करना, आन्दोलन करना आदि अनेक ऐसी बातें हैं, जो आवश्यक मालूम होती हैं, की जाती हैं और जबतक भगवान्‌में विश्वास पूरा नहीं है तबतक सभीको, लोकसंग्रहार्थ कर्मयोगीको, अन्याय रोकने और अपना पक्ष ऊँचा रखनेके लिये संभावित पुरुषोंको अवश्य करनी भी चाहिये ही। परन्तु जो लोग भगवान्‌में विश्वास जमाना चाहते हैं उनका कर्तव्य कुछ दूसरा ही होता है, वे श्रीभगवान्‌का चिन्तन करें, श्रीभगवान्‌में विश्वास करके उन्हें प्रसन्न करने—उनके प्रिय बननेके लिये उनका भजन-स्मरण करते रहें, योगक्षेमकी चिन्ता न करें। बच्चेको कब क्या चाहिये, उसका किस बातमें हित है— यह सब माँ सोचे, माँ ही व्यवस्था करे। बच्चा तो यह भी न सोचे कि माँ मेरा हित सोचेगी और व्यवस्था करेगी, वह तो बस, माताके परायण हो रहे। गीता-तत्त्वांकमें योगक्षेम-महात्म्य श्लोककी व्याख्या एक बार पढ़कर विचार करें और देखें कि हम जितना प्रयत्न बाह्य रूपसे करते हैं उसका थोड़ा-सा अंश भी भगवान्‌पर निर्भर रहकर उनका चिन्तन-मनन करनेका प्रयत्न नहीं करते। अपने प्रेसमें कमसे कम दो-चार आदमियोंको तो ऐसा भी बनना चाहिये—जो भगवान्‌पर निर्भर करना सीखें। बाहरकी चेष्टा करनेवाले करते ही हैं, वे यथायोग्य करते रहें परन्तु सभीको बाहरी चेष्टामें लगने-लगानेकी क्या जरूरत है? जो बाहरकी चेष्टामें उतना विश्वास नहीं करते—भगवान्‌के विधानमें विश्वास करके उनपर निर्भर ही रहना चाहते हैं—उनको वही करने दें। उत्तम बात तो यह है कि भगवान्‌पर निर्भर करनेवाले साधकको कभी मनमें यह संकल्प नहीं लाना चाहिये कि मैं निर्भर

रहूँगा तो मेरा भगवान् और भी सुन्दर कर देंगे। वह तो बस, निर्भरतासे भजन करता रहे। भगवान् कभी असुन्दर करते ही नहीं। फिर निर्भर भक्तको कामसे क्या मतलब? उसको तो भगवान्‌के भजनसे ही मतलब है, उसका तो बस यही काम है। और काम बने- बिगड़े, रहे-उजड़े, उनकी ओर उसकी दृष्टि ही नहीं जानी चाहिये। हाँ, यह सत्य है कि जो भगवान्‌पर निर्भर करता है उसका सँभाल श्रीभगवान् बहुत सुन्दर करते हैं। परन्तु अनुकूलता सब समय अनुकूल स्वरूपमें ही नहीं आती। कभी-कभी बड़े भारी प्रतिकूल अत्यन्त भयानक रूपका नकाब डाले आती है। परन्तु वस्तुतः वह होती है बहुत ही अनूठी, सदाके लिये निहाल कर देनेवाली। यह स्वाभाविक बात है, अटल नियम है, इसमें कभी परिवर्तन नहीं होता। भगवान् कभी असुन्दर और अमंगल करते ही नहीं, फिर जो उनपर निर्भर करके उनका भजन करते हैं, उनके लिये तो 'असुन्दर' और 'अमंगल' शब्द, कोशमेंसे ही निकल जाते हैं। इस बातपर जो तनिक भी विश्वास करते हैं, उनको भगवान्‌का एकान्त भजन छोड़कर दूसरी चेष्टा क्यों करनी चाहिये? और वे कैसे कर सकते हैं? यह तो हुई कुछ ऊँचे निर्भर साधकोंकी बात। जो सकाम हैं, वे भी यदि भगवान्‌पर निर्भर करें तो उनका भी परम कल्याण हो सकता हैं। जो सफलता मानव-शक्तिके लाख प्रयत्नोंसे भी असंभव है, वही भगवान्‌के एक संकल्पमात्रसे हुई तैयार रहती है। द्रौपदीका चीर बढ़नेकी बात क्या उपन्यासकी कहानी है? हम पढ़ते-सुनते हैं, कहते हैं, परन्तु फिर भी काम पड़नेपर विश्वास नहीं कर सकते। यह तो एक प्रकारकी नास्तिकता है। और क्या इसे दम्भ भी कह सकते हैं। क्या यह लौकिक कार्य है इसलिये निर्भरता नहीं करनी चाहिये? मेरी तुच्छ समझमें तो सकाम भावकी पूर्ति भी भगवान्‌से करानी उत्तम है। माना कि इसमें भक्तिकी कमी है, भगवान्‌के तत्त्व और महत्त्वका पूरा ज्ञान नहीं है, परन्तु भगवान्‌को छोड़कर दूसरे उपायोंकी शरण लेना तो व्याभिचार है।

'जग जाँचिय को न जाँचिय तो एक जाँचिय जानकी-जानहि रे।
जेहि जाँचत जाँचकता जरि जाय जो जारत जोर जहानहि रे।'

यह पद केवल गानेका नहीं है। यह तो सिद्धान्त है— माननेका और क्रियारूपमें लानेका। मेरे इस पत्रसे कोई यह समझ सकते हैं कि दूर बैठा उपदेश कर रहा है। स्थितिमें होता, तब पता लगता। यही बात है तो यहाँ आता क्यों नहीं? इसका उत्तर यही है कि मैं कमजोर हृदयका

बुजदिल तो हूँ ही। स्थितिमें होनेपर क्या करता, पता भी नहीं है, परन्तु मनमें ऐसी आती है कि यदि भगवान् चेतना रहने देते तो चेष्टा तो यही करता। न आनेमें इसी प्रकारका-सा कोई कारण भी हो सकता है।

दूसरी बात यह कही जा सकती है कि जैसे भूखे या रोगीको कहें– भैया! 'राम-राम' कर। तो वह कहेगा– मेरे तो प्राणोंकी बनी है और तुम्हें 'राम-राम' सूझता है? ऐसी बात हो सकती है। परन्तु किसीका यह तनिक भी विश्वास हो कि 'राम-राम' से यह भूख भी मिट सकती है और यह रोग भी अच्छा हो सकता है और वह भी ऐसी सुन्दरतासे कि जैसा अन्य उपायोंसे नहीं हो सकता, तो वह यदि कहे कि 'राम-राम' करो, तो चाहे यह बात अच्छी न लगे, मनको रुचे नहीं, कहीं बुरी भी लगे, परन्तु उसके तनिकसे विश्वासके अनुसार वह ऐसा कह तो सकता ही है। कुछ ऐसी ही बात है।

इसलिये मेरा यह निवेदन है कि बाहरकी चेष्टा पूरे खूब उत्साह और लगनके साथ जरूर होनी चाहिये। रुपयेसे जो काम हो सकता है, उसमें भी त्रुटि नहीं करनी चाहिये, दौड़-धूप भी पूरी होनी चाहिये, परन्तु कुछ लोग तो ऐसे भी होने चाहिये जो गीताके उपदेशोंको और सन्तोंकी वाणीको प्रैक्टिकली-कार्यरूपमें परिणत करनेकी भी नम्र चेष्टा करते रहें। चाहे वे पूरी न कर सकें।

मान लीजिये– गीताप्रेस उजड़ जायगा, गीताप्रेसवालोंकी बात नीची हो जायगी। झूठ-मूठ ही वे दोषी भी मान लिये जायँगे और दण्ड हो जायेगा। प्रेसकी जो इज्जत है, उसका लोगोंके सामने जो स्वरूप दिखता है, वह नष्ट हो जायगा। मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि यदि ऐसा भी होगा तो क्या बिगड़ जायगा? अहंकारको छोड़कर कहें तो यह सत्य है कि गीताप्रेसका यह स्वरूप हमारी किसी स्कीम, योजना या शक्तिसे बना नहीं। और अब हमारी स्कीमोंसे और हमारी ताकतसे यदि हम इसके स्वरूपको बचाना चाहेंगे (और जिस शक्तिसे यह बना है, वह शक्ति बिगड़ना चाहेगी) तो वह बचेगा नहीं। बस, उनकी सर्वथा कल्याणमयी व्यवस्थापर आस्था जमाकर आनन्दसे रहिये। चिन्ता करनी ही हो तो यह कीजिये कि उनके चिन्तनमें कमी क्यों होती है? क्या लिखूँ।

आपसे यह प्रार्थना है— करबद्ध प्रार्थना है कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, मुझे करने दिया जाय। आप लोगोंको समझाते रहिए जिसमें मुझे बुलानेमें ज्यादा जोर न दिया जाय। इसीलिये इतना बड़ा पत्र लिख गया। सोचा नहीं था इतना लिखूँगा। कलम चलती ही गयी। जब होश आया, तब बन्द कर रहा हूँ।

आपका
हनुमान

* * * *

रतनगढ़ (बीकानेर)
श्रावण बदी १०, १९९८
(२९ जुलाई १९४०)

प्रिय श्रीदुजारीजी,

... .

बीकानेर आनेके सम्बन्धमें आपका लिखना ठीक है। परन्तु एक बात तो यह है कि मेरा स्वास्थ्य अभी ठीक नहीं है, छातीमें दर्द रहता है। दूसरे, मैं भरसक अलग-सा रहना चाहता हूँ। ज्यादा मिलने-जुलनेमें मुझे बहुत ही भार-सा मालूम होता है। बाध्य होकर मिलना भी पड़ता ही है। इसमें आपको तथा सभी मित्रोंको मेरी सहायता करनी चाहिये।

तीसरे, आजकल मैं दो बजेतक मौन रहता हूँ जिसमें सुबह दस बजेतक तो बन्द रहता हूँ। उस समय मैं अपना कोई खास अध्यात्म-कार्य करता हूँ। मैं चाहता हूँ वह निभता रहे, टूटे नहीं। ऐसी कई बातें हैं, जिनके कारण मैं कहीं भी मनसे जाना नहीं चाहता। यों बाध्य होकर प्रारब्धवश जाना पड़े, तब दूसरी बात है। मुझे आपसे ऐसी ही आशा करनी चाहिये कि आप इस प्रवृत्तिमें सच्चे हृदयसे मेरी सहायता करें। ... ...

कृपा श्रीभगवान्‌की सबपर है।

आपका
हनुमान

रतनगढ़ (बीकानेर)
पौष कृष्ण ५, १९९६
(सन् १९४०)

प्रिय श्रीदुजारीजी,

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। समस्त इच्छाओंका आनन्दपूर्वक समर्पण श्रीभगवान्‌के चरणोंमें ही करना चाहिये। मनुष्यको न तो पूर्ण समर्पण किया ही जा सकता है और न उसमें वैसा लाभ ही है। समर्पणका भाव मनुष्यमें आता है, परन्तु सोच-समझकर भी कर नहीं पाता। जहाँतक अनुकूलता होती है, वहाँतक तो समर्पण-सा प्रतीत होता है। परन्तु प्रतिकूलता आते ही चित्तमें क्षोभ हो उठता है। इसलिये बस– इस युगमें एकमात्र भगवान्‌का नाम-जप ही सबके लिये सरल अवलम्बन है।

आप अपने रहनेमें विरोधकी विस्तृत व्याख्या चाहते हैं सो ठीक है, मैं क्या व्याख्या करूँ, स्पष्ट सब कह चुका हूँ। सचमुच अभी तो मैं जैसी साधना करना चाहता था, उसके उपयुक्त परिस्थिति ही नहीं हो पायी है, होगी कि नहीं, पता नहीं। परन्तु मेरे पास अन्य कोई व्याख्या नहीं है। इतनी ही बात है कि एक स्वामीजी (चक्रधरजी) को छोड़कर सत्संगियोंमें किसीके भी पास रहनेमें मनमें नाना प्रकारकी आपत्ति होती है और अनुमानसे ऐसी भगवत्प्रेरणा भी प्रतीत होती है। श्याम-राधा, हरिकृष्ण, सबसे हरिस्मरण। फूलाँबाईसे राम-राम कहिएगा।

आपका भाई
हनुमान

रतनगढ़में अधिक अस्वस्थ होनपर अजमेरमें उपचार

वि.सं.२००० (सन् १९४२) में पूज्य भाईजी रतनगढ़में अधिक अस्वस्थ हो गये थे। ऐसा प्रतीत होने लगा कि शरीर भी रहेगा या नहीं। अजमेरमें चिकित्सासे लाभ हुआ। इस सम्बन्धमें निम्नलिखित पत्र पठनीय हैं —

अजमेर, मिगसर सुदी ५, २०००
(१ दिसम्बर १९४२)

प्रिय भैया रामकृष्ण (डालमिया),

सप्रेम राम-राम। तुम्हारा पत्र मिला। दो पत्र रतनगढ़से होकर मिले। तुम्हारा अकृत्रिम प्रेम सर्वथा अतुल्य है। मेरी गुदामें अन्दरकी ओर एक घाव हो गया है और उसका पस ऊपरको रास्ता बना रहा है, जिससे अन्दर-ही-अन्दर पस निर्मित हो रहा था। जबतक आपरेशन टेबलपर नहीं गया, तबतक इस बातका पूरा पता किसीको न लगा। ... ... तो निर्णय हो गया था। दर्द बहुत ज्यादा था इससे क्लोरोफार्म करके आपरेशन किया गया। आज चौथा दिन है, अब धीरे-धीरे घाव भरेगा। अन्दरका घाव होनेसे टट्टी जानेमें और ड्रेसिंगमें कुछ कष्ट होता है। कल तीसरे दिन पट्टी खोली थी। आज ड्रेसिंग किया, घावकी हालत सन्तोषजनक है। आशा तो है पन्द्रह-बीस दिनोंमें बिलकुल आराम हो जायगा। शरीर बहुत ही कमजोर हो गया है। रक्त प्रायः सूखा जा रहा है। इधर महीनोंसे शरीर रुग्ण चल रहा है। ऐसी हालत चलती रही तो सम्भवतः बहुत दिन शरीर नहीं चलेगा।

मुझे कुछ भी चिन्ता नहीं है। यह अच्छी तरहसे ज्ञान है कि यहाँका सम्बन्ध इस शरीरको लेकर ही है। पहले भी हमलोग कहीं थे, वहाँ भी घर-परिवार रहा होगा, उसकी अब याद भी नहीं आती। वैसे ही मरनेके बाद यहाँकी स्थिति होगी।

अवश्य ही सावित्रीकी माँ कभी-कभी ऐसा महसूस करती है कि मेरे बाद उसकी देख-रेख कौन करेंगे। इस समय तो वह सांसारिक दृष्टिसे आराममें है। नौकर-चाकर हैं। चार सौ-पाँच सौ अपने मासिक खर्च लगता है। पचासों आदमी आदर करते हैं। पीछे घरमें कोई भी देवर-पुत्र आदि न रहनेसे कौन सँभालेगा और किस तरह बितायेगी? उसने मुझसे कभी कोई बात कही नहीं। पूछनेपर भी कभी कुछ नहीं कहा। परन्तु उसके ढंगसे कभी-कभी ऐसा अनुमान होता है कि वह भगवान्‌में विश्वास करती है। पढ़ी-लिखी न होनेपर भी समझती है, औरोंको काम पड़नेपर समझाती है, परन्तु किसी अभावका-सा अनुभव करती है, ऐसा मालूम होता है।

भैया! भगवान्‌के बिना संसार है ही अभावमय। यहाँ किसी भी स्थितिमें

किसीको भी अभावके अभावका अनुभव नहीं होता। किसी-न-किसी अभावकी भावना मनमें खटकती ही रहती है और जबतक अभावका अनुभव है, तबतक किसी भी हालतमें मनुष्य सुखी नहीं रह सकता। भगवान्‌का कभी अभाव नहीं होता। जो भगवान्‌को सर्वथा-सर्वदा अपने साथ, अपने समीप समझता है, वही अभावसे मुक्त हो सकता है और अभावकी मुक्ति, मुक्ति है।

यह पत्र तुम्हें बिछौनेपर पड़े-पड़े लिख रहा हूँ। अब और ताकत नहीं, फिर लिखनेका मन है।

तुम्हारा भाई
हनुमान

* * * *

अजमेर, १०-१२-१९४२
मार्गशीर्ष शुक्ल १४, २०००

प्रिय भैया रामकृष्ण,

सप्रेम राम-राम। तुम्हारा एक पत्र परसों मिला था। एक आज मिला। शरीरका हाल पूछा सो शरीरका हाल वैसे ही है। घावकी हालत डॉक्टर बहुत अच्छी बताते हैं। ऑपरेशनके बाद कल केस्टर आयलसे टट्टी लगाई गई थी, इससे तकलीफ रही। दर्द कुछ ज्यादा रहा। बेचैनी भी रही। आज कलसे ठीक है।

तुम्हारा पत्र पढ़कर हृदय गद्‌गद हो गया। भैया! सच है— तुम सब मेरे ही हो। मेरे चित्तमें कोई भी अशान्ति नहीं है। पद-पदपर भगवान्‌की कृपाका अनुभव होता है। यद्यपि इस बारकी बीमारियाँ बहुत ही पीड़ाजनक रहीं— परन्तु इनमें भी समय-समयपर भगवान्‌की मंगलमयी कृपाकी तो झाँकी होती ही रहती है। यह जगत् भगवान्‌का नाट्य-मंच है। सभी रसोंके अभिनयकी आवश्यकता है, परन्तु प्रत्येक अभिनयके अन्तरालमें वही है। असलमें तो खेल और खिलाड़ी दोनों ही उसीके मंगलमय स्वरूप हैं।

तुम बहुत प्रसन्न होओगे। अपने यहाँकी काम-काजकी शृंखला और अव्यवस्थाओंकी चिन्ता चारपाईपर पड़े-पड़े भी कभी-कभी हो जाती है और प्रबल रूपसे होती है।

तुम्हारा
हनुमान

सेवाके कार्य

पता नहीं, भगवान्‌की किस प्रेरणासे मेरे जीवनमें गरीब, अनाथ, विविध कष्टोंसे पीड़ित नर-नारियोंकी तथा गौ आदि पशु-जातिकी सेवाके सुअवसर प्राप्त होते रहे हैं– और उनमें अनायास ही अबतक इतनी अपार 'धनराशि'का उपयोग हुआ है, जिसकी संख्यापर विश्वास करना कठिन है। फिर आश्चर्य यह है कि बाढ़-अकाल आदि सार्वजनिक सेवाके कुछ कार्योंके अतिरिक्त कहीं किसी सेवाका विज्ञापन नहीं हुआ है और न ऐसे सेवाकार्यके लिये कभी किसीसे कुछ माँगा ही गया है। भगवान्‌की प्रेरणासे भगवान्‌की वस्तु भगवत्स्वरूप महानुभावों तथा देवियोंसे प्राप्त होती रही और भगवत्स्वरूप अभावग्रस्त नर-नारियोंकी सेवामें यथायोग्य लगती रही। मेरी अनुभूतिमें इसमें सभी दिशाओंमें केवल भगवान्‌की मङ्गलमयी प्रेरणाने काम किया। प्रत्येक सत्कर्ममें जरा भी अभिमान न करके उसका एकमात्र कारण मङ्गलमयी भगवत्प्रेरणाको ही मानना चाहिये। मैंने ऐसा मानने तथा अनुभव करनेकी चेष्टा की है। यही सभीको करना चाहिये।

* * * *

गोरखपुर आनेके पश्चात् (सन् १९२७ से) अर्थकी दृष्टिसे मैं निःस्व रहा हूँ–न मेरे पास अपना एक पैसा है, न कहीं कुछ जमा है, न मैंने कुछ कमाया है। गीताप्रेस, 'कल्याण' या अन्य किसी भी संस्थासे मेरा आर्थिक सम्बन्ध नहीं रहा; न मैंने भेंट-पूजा-उपहारके रूपमें किसीसे भी एक पैसा कभी लिया है। अवश्य ही मेरे द्वारा विभिन्न संस्थाओंकी, भूकम्प, बाढ़, अकाल, अग्निकाण्ड आदि दैवी प्रकोपोंसे पीड़ित प्राणियोंकी एवं विधवा बहनोंकी सहायतामें प्रचुर अर्थ व्यय हुआ है, पर वस्तुतः उसमें मेरा अपना कुछ भी नहीं था। यह सब हुआ है उन लोगोंके भाग्यसे और दाताओंके भगवत्प्रेरित या स्वेच्छाप्रेरित दानसे। इसके लिए किसीपर दबाव डालनेकी बात ही नहीं थी। मैंने न तो किसीसे माँगा है और न अपील की है, वरन् परिस्थितिवश कभी-कभी दानकी रकम पूरी-की-पूरी या अधूरी वापस कर दी है। जब 'भारतीय-चतुर्धाम-वेद-भवन-न्यास'का निर्माण हुआ और उसके लिए दानकी अपील प्रकाशित हुई, तब उसमें सब ट्रस्टियोंके साथ मेरा भी नाम प्रकाशित

कर दिया गया, पर मैंने उसमेंसे अपना नाम निकलवा दिया और तब पत्रोंको भिजवाया। मैंने कभी अर्थके लिए की जानेवाली अपीलमें अपना नाम नहीं दिया है। इस प्रकारकी सहायताके लिए जो पैसे आते थे, उनमेंसे मैंने एक-एक पैसेका हिसाब रखा है, किसकी सेवामें वे पैसे लगे, यह भी बराबर लिखता रहा हूँ। तीन वर्षतक उस हिसाबको रखता था। तीन वर्षके पश्चात् उसे नष्ट कर डालता था। कहाँसे पैसा आया, किस-किसको दिया गया— इससे सम्बद्ध नाम मैं यथासम्भव ज्ञात नहीं होने देता था। कारण, मैंने जिसको जो-कुछ दिया है, वह भगवद्‌भावसे दिया है, वह मेरी अर्चाका एक स्वरूप रहा है। जिस कार्यके लिए जितने पैसे प्राप्त होते थे, उस कार्यमें उतने पैसे अवश्य लगा देता था। चेष्टा तो यह रखता था कि उसमें कुछ अपने पाससे भी सम्मिलित कर दूँ। मेरे पासका अर्थ है— मेरे ऐसे साथी, ऐसे स्वजन, जिनका मुझसे कोई अलगाव न रहा हो।

* * * *

बाढ़ एवं अकालके समय कितने बड़े रूपमें वे सेवामें लग जाते थे, इसका अनुमान निम्न पत्रसे लगाया जा सकता है—

गोरखपुर
श्रावण कृष्ण ११ सं. १९९१
(५ अगस्त १९३४)

प्रिय श्रीदुजारीजी,

सप्रेम राम-राम। ... ...

इस समय हमलोग बाढ़के काममें लगे हैं। पानी चार फीट घट गया है, परन्तु गाँव अभी पानीमें हैं। यहाँ गीताप्रेसकी ओरसे छः हजार पाँच सौ आदमियोंको रोज खिलाया जाता है और गाँवोंमें अनाज नावोंद्वारा भेजा जाता है। प्रायः सभी लोग काम कर रहे हैं। ···· ···

आपका
हनुमान

* * * *

इसी सन्दर्भमें एक घटनाकी चर्चा करते हुए वे लिखते हैं—

एक बार कपड़ा बाँटनेके लिए हमलोग देहातोंमें गये। पाँच-छः गाँवोंमें सात-आठ घर हमें ऐसे मिले, जो बाहरसे बन्द थे। पूछनेपर पड़ोसियोंने बताया कि इन घरोंकी बहनोंके पास पहननेकी साड़ी नहीं है। जो साड़ी है, वह इतनी फट गयी है कि शरीर दिखाई देता है। अतएव वे बहनें घरको बन्द करके उसीमें रहती हैं। आप भीतर साड़ी फेंकिये और आवाज दीजिये। वे आपकी साड़ी पहनकर बाहर आ सकेंगी। वैसा ही किया गया। बात सर्वथा सत्य थी। मेरी आँखोंमें अपने देशकी बहनोंकी यह दुर्दशा देखकर आँसू आ गये। मनमें आता है कि यदि हमारी बहनें चार-पाँच सौ रुपयेकी साड़ी न पहनकर, तीस-चालीस रुपयेकी साड़ियाँ पहन लें और जो बचे उसमें वे पाँच-छः रुपये मूल्यवाली साड़ियाँ खरीदकर पचासों बहनोंको पहना दें तो कितना अच्छा हो! देशकी एक भी बहन नंगी न रहे। बढ़िया कीमती कपड़े पहनना पाप है।''

* * * *

डालमिया दादरी
मार्गशीर्ष कृष्ण ३०, १९९६
(११ दिसम्बर १९३९)

प्रिय श्री ··· ··· ···,

सप्रेम हरिस्मरण। भाई ··· ··· यहाँ आये थे। उनको मैंने पाँच सौ रुपयेकी चिट्ठी आपपर लिखकर दी है सो चिट्ठी देनेपर उन्हें पाँच सौ रुपये दे दीजियेगा। रुपये चाहे मेरे नाम लिख लीजिये, चाहे प्रेसके। दो-तीन महीनेमें ये रुपये आपको मिल सकें, ऐसी व्यवस्था करनेका विचार है। बात यह है भाई ··· ··· इस समय बहुत ही संकटमें हैं, वह यहाँ मुझसे रुपये माँगने नहीं, परन्तु घबराकर और सहारा न देखकर सलाह लेने आये थे। उनकी बात सुनते ही मेरी आँखोंके सामने रामायणकी चौपाइयाँ मानो मूर्तिमान होकर नाचने लगीं

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी।।
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना।।

जिन्ह कें असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठि करत मिताई।।
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा।।
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई।।
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा।।

* * * *

धीरज धर्म मित्र अरु नारी । आपद काल परिखिअहिं चारी।।

मेरे पास कोई सहायताकी आशासे आता है तो उसके सामने आते ही मुझे ऐसा प्रतीत होता है—जैसा कर्जदारको महाजन प्रतीत होता है और जैसे उसका सिर संकोचसे नीचा हो जाता है, वैसे ही मेरा भी हो जाता है। ··· ··· ··· सहायताके लिये नहीं आया था, यह तो मित्र था, इसका उतना ही अधिकार है, जितना मेरा। मैं कुछ कर सकता तो बड़े आनन्दसे करता, परन्तु मेरे पास सिवा उसको भगवान्‌का भजन करनेकी सलाह देनेके और कुछ साधन नहीं है, मैंने यही उसे बतलाया। मुझे उसके घरकी हालत पूछनी चाहिये थी, परन्तु मैंने नहीं पूछी। उसके घरसे आये पत्र अकस्मात् मैंने पढ़ लिये। पता लगा कि घर-खर्चके सामानके बीस-बीस, तीस-तीस रुपयेके लिए बड़ी बुरी तरहसे तकाजे हो रहे हैं। तब मैंने कहनेपर पाँच सौ रुपयेकी चिट्ठी लिख दी। दो-तीन महीनेमें रुपये वापस आपको दे दें तो ले ही लीजियेगा, तकाजा न कीजियेगा। नहीं तो किसी तरह व्यवस्था करके रुपये मैं आपको भेज ही दूँगा।

आपको यह पत्र लिखकर *'गुन प्रकटे अवगुनहि दुरावा'* इसके विरुद्ध मैं कर रहा हूँ। खैर, यह बात किसीपर भी प्रकट न होने दीजियेगा। न ··· ··· ··· की हालत ही किसीको बतलाइयेगा। पाचसौ रुपयेका एक लिफाफा दे दीजियेगा।

आपका
हनुमान

* * * *

ऐसे अवसर भी आये जब सहायताके लिये वे अपनी पत्नीके गहनोंतकको बेचनेमें संकोच नहीं करते थे। श्रीमोहनलाल सारस्वत (रतनगढ़) को लिखे गये निम्नांकित पत्रमें इस प्रकारकी एक घटनाका उल्लेख है –

॥श्रीहरिः॥

गोरखपुर, जेठ बदी २, सं.२०१०
(३० मई १९५३)

प्रिय श्रीमोहनजी,

सादर सप्रेम हरिस्मरण।

आपका तारीख २७-५-१९५३ का पत्र मिला। एक कार्ड जयपुरसे मिला था। ··· की पत्नीको ····· मासिक देकर रसीद लेते रहियेगा। श्री ··· ··· के बाबत लिखा, सो ठीक है, मुझे स्वयं उनकी बड़ी चिन्ता है। उनकी बीमारीकी स्थिति सुनकर मैं और कुछ भी नहीं कर सकता, जो-कुछ व्यवस्था हो सकी उनको दे दिया गया; भविष्यमें (छः महीनेके लिए सोचकर) सौ रुपये प्रतिमास भेजनेकी बात उनसे कह दी है। पर आप जानते हैं, मैं तो सर्वथा अकिंचन हूँ। मेरे पास पैसा नहीं। दुनियाकी आर्थिक स्थिति इतनी कमजोर हो गयी है कि पहले लोग अपनी इच्छासे अच्छे काममें पैसा लगानेको कहते थे, अब वह तो सर्वथा बन्द हो गया है– कहनेपर भी नहीं होता। मैं बंबईसे काम छोड़कर इसीलिए आया था कि एक पैसा भी कमाऊँगा नहीं, पैसेका सम्बन्ध किसीसे रखूँगा नहीं, गरीबीसे रहूँगा। लगभग बीस वर्षोंतक ऐसा निभ गया। उसके बाद मायाके चक्करमें फँसा। पैसोंका सम्बन्ध होने लगा– चाहे परोपकारके लिए ही हो, परन्तु किसीसे माँगा नहीं। इधर दो-तीन वर्षोंसे मित्रोंके, अभावग्रस्तोंके आग्रहपर लोगोंसे कहनेका कुछ काम पड़ा। बड़ा कटु अनुभव हुआ। मनमें ग्लानि हो गयी। कहनेपर काम नहीं हुआ। यदि कुछ हुआ तो बड़े भारी एहसान तथा ऋणका बोझ उठाकर। मित्र लोग तथा जिनके अभाव है, वे इस बातको कैसे समझें? मैं बहुत असमंजसमें पड़ जाता हूँ। श्री ···· से कह दिया। पर मेरे पास एक पैसा भी नहीं, प्रेसकी रोकड़से– उचंतमें लेकर उनको रुपये दे दिये, किन्तु अभीतक वे वापस नहीं किये जा

सके। पिछले दिनों एक सज्जनको छः सौ रु. देने थे– सहायतामें। कहीं प्रबन्ध नहीं हुआ– सावित्रीकी माँका एक गहना बेचकर दिया। यह स्थिति है! कैसे लेता-देता हूँ, इसीसे आप अनुमान कर सकते हैं। किससे कहूँ? लाभ भी क्या है? इसीसे श्री ··· ··· को पत्र नहीं दिया। उनके दो पत्र आये, एक पहले आया था, दूसरा आज आया। आप उन्हें मेरे नाम लिखकर एक सौ रुपया दे दीजियेगा।

उन्होंने दो सौ सत्यासी रु. अंदाज ऋणके लिखे हैं, मासिक खर्चके भी एक सौ पचास रु. अंदाज बतलाये हैं और ठंडी जगह जानेकी बात लिखी है। बातें तीनों ही ठीक हैं, पर मैं उन्हें क्या लिखूँ? मेरे पास कोई व्यवस्था नही है। सौ रु. महीना तो छः महीनेतक मैं किसी प्रकार भेजता रहूँगा, पर इससे अधिक कुछ भी करनेकी मेरी परिस्थिति नहीं है। उनके ऋणके रुपये मैं शीघ्र भेज दूँ, ऐसी मेरी बड़ी इच्छा है, पर जबतक व्यवस्था न हो तबतक मैं क्या लिखूँ? ··· ··· ··· उनके बाहर जाने बाबत भी मैं क्या लिखूँ? उनके शरीरपर बुरा असर न पड़े, इसलिए उनको न लिखकर ये समाचार मैंने आपको लिखे हैं। आप इनका स्पष्ट सारांश उन्हें बता दीजिये। मैं हृदयसे उनकी सेवा करना चाहता हूँ, पर कर सकूँगा तभी, जब भगवान् चाहेंगे। उनको मैं अभी पत्र नहीं लिख रहा हूँ।

आपका भाई
हनुमान

सार्वजनिक संस्थाओंसे सम्बन्ध

गोरखपुरमें कई सार्वजनिक संस्थाएँ बनीं, उनसे सम्पर्क स्थापित हुआ। इस समय दो संस्थाएँ काम कर रही हैं– (१) 'कुष्ठ सेवाश्रम'; (२) 'मूक-बधिर विद्यालय'। दोनों ही मानव-सेवा करनेवाली संस्थाएँ हैं, दोनोंमें ही बड़ा उपयोगी कार्य हो रहा है। इन संस्थाओंकी जो कुछ सेवा बन सकी है– उस सेवाके उत्तराधिकारी बहुत लोग हो सकते हैं।

इनके अतिरिक्त एक अखिल-भारतीय संस्था है– 'भारतीय चतुर्धाम वेद-भवन-न्यास'। उत्तरप्रदेशके तत्कालीन राज्यपाल साधुमना श्रीविश्वनाथ-दासजीके मनोरथ तथा प्रयासके फलस्वरूप इसकी प्रतिष्ठा हुई थी। श्रीअनन्तशयनम् आयंगर महोदय इसके अध्यक्ष हैं और श्रीविश्वनाथदासजी और मैं, इसके संयुक्त-मन्त्री।

* * * *

जीवनमें उतारने योग्य आदर्श क्रियायें

कलकत्तामें हमारी दूकान पारख-कोठीमें थी। तो वहीं पारख-कोठीमें श्रीलक्ष्मीनारायणजी मुरोदियाकी दूकान थी। इसलिये उनसे मेरा बहुत प्रेम हो गया। मैं उनको ताऊजी कहता था। वे ऐसी बढ़िया सेवा करते कि उनकी कुछ बातें आपको बताता हूँ। दो आदमी लड़ते तो वे बीचमें पड़ जाते। अपने-आप ही बीचमें पड़ जाते, यह परवाह न करते कि लड़नेवाले हमें क्या कहेंगे– वे हमें गाली देंगे या पीट देंगे! उनको गाली देते तो खड़े-खड़े सुनते रहते। अब कोई गाली कहाँतक देगा? गालियोंका कोष समाप्त हो जाता तो बोलते– बोलो और कुछ। तो एक आदमी खीज गया। उसने कहा– लक्ष्मीनारायण! तुम ऐसे दुष्ट हो कि संसारमें तुम्हारी कहीं खोज नहीं रहेगी। वे हँसने लगे, बोले– भाई, तुमने आशीर्वाद तो बहुत अच्छा दिया, पर हमारे कर्म ऐसे नहीं दीखते कि हमारी धरतीपर खोज न रहे। यह तो तब हो, जब हम मुक्त हो जायँ। अब सामनेवाला क्या बोलता, हँसने लगा। इतनेमें दूसरा आदमी आया और बोला– देखो, कितनी गाली देता है। ये बोले– हमें सुननेमें मजा आता है। वह बेचारा चुप हो गया।

* * * *

उनकी एक घटना और सुनाऊँ। दो भाइयोंमें आपसमें झगड़ा हो गया। यह सच्ची घटना है। भाइयोंमें बँटवारा होने लगा– उनके घरमें एक अँगूठी थी। एक बोला– यह अँगूठी मैं लूँगा, दूसरा बोला– मैं लूँगा। दूसरा भाई बोला– इसके बदले रुपया ले लो, पर रुपया लेनेके लिए कोई तैयार नहीं। इस बातका लक्ष्मीनारायणजीको पता लगा। वे बिना बनाये पंच बन गये। उनके घर चले गये और बोले– सुना है, आपलोगोंका आपसमें झगड़ा हो रहा है। वे बोले– हाँ बाबू, झगड़ा तो हो रहा है। ये बोले– हम आपलोगोंको झगड़ा मिटा देंगे। हमें बताओ क्या झगड़ा है? वे बोले– आप झगड़ा मिटा दें तो बहुत अच्छा है। हमारी एक हीरेकी अँगूठी है, ये बोलते हैं हम लेंगे, मैं बोलता हूँ, मैं लूँगा। ये बोले– हम सोचते हैं, देखें तुम्हारा झगड़ा मिटानेकी चेष्टा करेंगे। दो-चार दिन बाद जिसके पास अँगूठी थी, उसके घर पहुँचे। उससे बोले कि वह अँगूठी आपके पास है न? जरा एक बार मुझे वह अँगूठी दिखाइये। उसको अच्छी तरहसे देखा। उस समय उसकी कीमत पचीस हजार

रुपयें थी। पचीस हजार रुपये उस समय बहुत बड़ी चीज थी। देखकर बोले– अच्छा, हम कल आयेंगे। हम बात करके आयेंगे। दूसरे दिन फिर उसके घर पहुँचे। उससे बोले– देखो भाई! आपको अँगूठी लेनी है न, झगड़ा तो नहीं करना? वह बोला– अँगूठी मिल जाय तो फिर झगड़ा किस बातका? ये बोले– एक बात करो, इस अँगूठीको ले जाकर घरमें रख दो और पाँच-सात वर्षतक इसे बाहर नहीं निकालना। दूसरे भाईको तो हमने समझा दिया है, पर तुम बाहर निकालोगे तो वह अपना मान भंग समझेगा। अँगूठी न उसके पास पहननेको, न तुम्हारे पास। तुम अँगूठी पहनोगे तो दिक्कत होगी, नहीं तो हम उसे समझा देंगे। वह बोला– हम बाहर नहीं निकालेंगे, अन्दर ही रखेंगे। इन्होंने वैसीकी वैसी दूसरी अँगूठी अपने रुपयोंसे बनवाई। दूसरे भाईके पास गये और बोले– अँगूठी तो हम ले आये हैं, पर एक बात है, तुम उसे जाकर कह दो कि अँगूठी हमें मिल गई, हम जीत गये तो वह अपना मानभंग समझेगा। अँगूठी देकर बोले कि इसे तुम घरके अन्दर रखना, उसे दिखाना नहीं कि अँगूठी हमने तुम्हें दे दी है। वह मान गया। बोला– बाबूजी! ठीक है, मैं अँगूठी अन्दर ही रख लूँगा। दोनों भाइयोंका झगड़ा मिट गया और बहुत प्रेम हो गया। वे आपसमें मिलने लगे, बोलने लगे। अब वह बात तो भूल गई। पाँच-सात वर्षोंके बाद दोनों अँगूठी पहनकर आ गये। दोनों एक-दूसरेसे पूछने लगे कि तुम्हारे पास अँगूठी कहाँसे आई? दोनों ही बोले– हमें तो लक्ष्मीनारायणजी दिलवा गये। लक्ष्मीनारायणजी उस समय जीवित थे। दोनों भाई उनके पास गये और बोले– बाबूजी! यह अँगूठी दोनोंके पास कैसे आ गई? वे बोले– तुम दोनों चाहते थे, इसलिये दोनोंके पास आ गई। वे बोले– एक की दो कैसे हो गई? इन्होंने कहा– दो न होती तो झगड़ा कैसे मिटता? इस प्रकार झगड़ा मिट गया।

असली सेवा

(१)

उनकी एक बात और बताऊँ। वे रास्तेमें जा रहे थे। रास्तेमें एक व्यक्ति जा रहा था, उसके पैरमें चोट लग गई थी। वह बहुत प्रतिष्ठित व्यक्ति था, पर गरीब था। उसके सामने यह कैसे कहें कि आपको किरायेकी गाड़ी कर दें। इससे उसकी प्रतिष्ठामें धक्का पहुँचता। यह बहुत

ध्यान रखनेकी बात है कि जिसकी कुछ सेवा की जाय उसकी प्रतिष्ठाको आँच न आने पाये। ये उसके पीछे ठहर गये। उस समय कलकत्तेमें मोटरें बहुत ही कम व्यक्तियोंके पास थीं। बन्द घोड़ा-गाड़ी चलती थीं। इन्होंने एक गाड़ी भाड़ेपर की और उसमें स्वयं बैठ गये। चलानेवालेको कहा—जरा धीरे-धीरे चलाना। धीरे-धीरे उसके पाससे निकले तो बोले—भाईजी! मैं गाड़ीमें अकेला बैठा हूँ, आप भी आइये, बैठ जाइये, बातें करते चलें। अब वह कैसे 'ना' कहे। वह समझ ही नहीं पाया कि गाड़ी मेरे लिये की है; यह है असली सेवा।

(२)

एक हमारे बद्रीदासजी लोहिया थे। वे वृद्ध थे, शायद उस समय साठ से ऊपर उम्र थी। वे सेवा करनेमें इतने निपुण थे कि सेवा करानेवालेको पता भी न लगे और वह सेवा स्वीकार भी कर ले। सेवा करने हर समय तैयार, पर सेवाका कोई विज्ञापन नहीं। कोई व्यक्ति पासमें बैठा है, सर्दीका समय है, उसे भी सर्दी लगती है। वे यह नहीं कहते कि आपके लिये कम्बल या रजाई ला दें। पूछनेसे वह बेचारा संकोचसे कहेगा— नहीं-नहीं, कोई आवश्यकता नहीं है। वे अपने-आप जाते और दो-चार कम्बल ले आते। लाकर पासमें रख देते। स्वयं भी कम्बल ओढ़कर सो गये और उससे कहा—आप भी सो जाइये, कम्बल पासमें फालतू पड़ी है, आपको जँचे तो ओढ़ लीजिये। आपके लिये तो मँगाई नहीं, ऐसे ही फालतू पड़ी है। अब महाराज सर्दी तो उसे लगती ही थी, उसने भी कम्बल ओढ़ लिये। ऐसी सेवा करते थे वे। दूसरी बात, उनके पिता बड़े वृद्ध थे, वे बीमार थे। पिताको थूकना हो तो बर्तन लेने कौन जाय— हाथ सामने कर देते और पिताजी थूक देते। एक दिन मैं उनके पिताजीसे मिलने गया। मैंने प्रणाम किया, उनके पास बैठ गया। वे गद्‌गद हो गये, आँखोंसे आँसू निकलने लगे। मुझसे बोले— आपको पता है कि नहीं? मैंने कहा— क्या? बोले— मेरा बद्री मुक्त हो गया। आशीर्वाद हृदयसे निकलता है। यह मेरी इतनी सेवा करता है कि यह तो मुक्त हो गया। यह है माता-पिताकी सेवाका आदर्श। डॉक्टर बुलाने और नर्स रखनेसे सेवा नहीं होती। सेवा करनेवालेके मनकी होती है।

(३)

एक बारकी बात है, हिन्दी-साहित्य सम्मेलनका अधिवेशन हमारे यहाँ गोरखपुरमें हुआ। उस समय हमलोग गोरखनाथ मन्दिरके पास एक छोटे-से स्थानमें रहते थे। सम्मेलनमें बाहरसे जो महानुभाव आये थे, वे कहीं किसी कॉलेजमें ठहरे थे। वहाँ उनकी व्यवस्था कुछ ठीक ढंगसे हुई नहीं। उनमेंसे दस-बारह व्यक्ति हमारे यहाँ आ गये। उस समय हमारे यहाँ न चारपाई थी, न अच्छे पक्के फर्श बने हुए थे, न पक्की छत थी। आनेवालोंमें रामकुमार वर्मा, रामनरेश त्रिपाठी, बनारसीदास चतुर्वेदी जैसे महारथी लोग थे। उस समय हमारे यहाँ एक साधन-समिति बनी हुई थी, उसमें यहींके लोग सदस्य थे। उन लोगोंके आनेकी बात हुई तो एक दिन रात्रिमें बात हो गई कि यहाँ उन लोगोंकी ऐसी सेवा होनी चाहिये कि ये लोग आप्यायित हो जायँ। सब लोग तन-मनसे जुट गये। हमारे पास मोटर नहीं थी, लेकिन उनकी ऐसी सेवा हुई कि बनारसीदास चतुर्वेदीने एक पत्र लिखा। हमें भी लिखा और समाचार-पत्रोंमें भी भेजा। उसमें लिखा कि यदि कोई सेवाका कॉलेज खुले और मुझसे पूछा जाय कि उसका प्रिंसिपल किसे बनाया जाय तो मैं कहूँगा कि गीताप्रेसके रामजीदास बाजोरियाको बनाया जाय। क्योंकि यह मैंने अनुभव किया कि वे कैसी सेवा करते हैं और करते थे। अब देखिये कुछ दिया-लिया नहीं, पर अपने सद्भावसे दूसरेके अन्दर सद्भावना पैदा कर दी।

(४)

पहलेकी बात है, अपने यहाँ गीताप्रेसमें जो गंगाबाबू हैं, उनके पास एक सज्जन रहते थे। वे भगवान्‌का नाम नहीं लेते थे। वे पन्द्रह-बीस दिन बीमार हो गये। गंगाबाबूने उनकी बड़ी सेवा की। सेवाके बाद जब वे अच्छे हुए तो कहने लगे कि भाई! ये गंगाबाबू माला जपते हैं, मालूम होता है, वह इसीका प्रभाव है कि ये इतनी अच्छी सेवा करते हैं। अब हम भी माला जपेंगे। जो भगवान्‌के विरोधी थे, उनको जप करनेकी मनमें आ गई। अब देखिये जो काम उपदेशसे नहीं होता, वह काम अपने अच्छे आचरणसे हो जाता है। असली सेवा यही है कि अपनी क्रियाके द्वारा, अपने आचरणके द्वारा, अपने भावोंके द्वारा दूसरेके हृदयमें भगवान्‌को जगा दे।

बहुत वर्षों पूर्व लिये हुआ ऋण बिना माँगे चुकाया

(१)

उस दिन तीन स्थानीय मेरे सुपरिचित सज्जन एक प्रौढ़ पुरुषके साथ मेरे पास आये और कुशल-प्रश्नके पश्चात् बोले– ये पैंतालीस हजार हम वापस करना चाहते हैं, कृपया जिन-जिनके हों, उन्हें दिलाकर हमें ऋणामुक्त कराइये। मुझे कुछ भी याद नहीं था। पूछनेपर उन लोगोंने बताया तब मुझे सब याद आयी। बात यह थी– लगभग बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व इन तीन भाइयोंके फार्मकी आर्थिक स्थिति कुछ विशेष खराब हो गयी थी। तब इन्हींके परिवारके एक अन्य सज्जनके साथ (जिनका कई वर्ष हुए देहावसान हो गया है) परामर्श करके इन्हींके निकट-दूरके परिवारोंके नौ फार्मोंसे इन्हें पैंतालीस हजार रुपये इस शर्तपर दिलवाये गये थे कि ''देनेवाले तो देकर भूल जायँ, हमारा ऋण इनपर है ऐसी भावना भी न रखें और कभी रुपयोंकी माँग करें ही नहीं। और इनके पास यदि कभी रुपये हों तो ये बिना माँगे ही सब चुका दें; ब्याज न दें और उस स्थितिमें देनेवाले अपने रुपये वापस ले लें।''

वर्षों बीत गये, इनकी स्थितिमें कोई खास सुधार नहीं हुआ। तीनों भाई साधारण कमाई करके अपनी गृहस्थीका खर्च चलाते रहे। देनेवालोंमें दो-तीन सज्जनोंका देहावसान हो गया। उनके लड़के हैं। देनेवालोंने कभी रुपयोंकी याद ही नहीं की, तकाजा करना तो दूर रहा। इनकी रुपये वापस लौटाने लायक स्थिति नहीं हुई। अब भी इन्होंने बहुत रुपये पैदा किये हों, सो बात नहीं है। इनमेंसे एक भाईके पास यह पुराना ऋण चुकाने-जितने रुपये इकट्ठे हो गये और तीनों भाइयोंने विचार करके रुपये लौटानेका निश्चय किया और इसी कामके लिये मेरे पास आये। मुझे इनकी ऐसी शुद्ध तथा ईमानदारीभरी नीयत देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने रुपये देनेवाले सज्जनोंसे बातचीत की। कुछको तो स्मरण ही नहीं था, कुछने वापस लेनेमें जरा आनाकानी की; पर मेरे कहनेपर सबने स्वीकार कर लिया और अपने-अपने मूल रुपये वापस ले लिये। इनमें कुछको इस समय विशेष आवश्यकता थी, उनको रुपये मिलनेसे बड़ी सुविधा हुई। कुछने रुपये लेकर उनमेंसे कुछ हिस्सा दान-धर्ममें लगा दिया और ये ऋण-मुक्त हो गये।

वास्तवमें अपना ऋण चुकानेमें कोई बड़ाईकी बात नहीं है, वरं

सौभाग्य है, पर आजके इस युगमें जहाँ पैसेके लिये मनुष्य किसी पापको पाप नहीं समझता, कानूनसे न देनेसे काम चलता हो तो प्रायः देनेकी इच्छा ही नहीं करता; वहाँ बीस-पच्चीस वर्ष पहलेके रुपये, जिनकी देनेवालोंको भी याद नहीं है, अपनी थोड़ी-सी कमाईसे संग्रह करके, अपने-आपको साधारण स्थितिमें रखते हुए ही, बिना माँगे लौटा देना— सर्वथा प्रशंसनीय और आदर्श कार्य है। इनकी इस बातको जो कोई भी सुनता है, प्रशंसा करता है और उसपर इनकी ईमानदारीकी गहरी छाप पड़ती है। भारतीयोंकी यह सहज वृत्ति थी, दूसरेकी चीज अपने पास न रहे। इस वृत्तिको इनके इस कार्यसे बड़ा पोषण मिला है। भगवान् सभीको ऐसी सद्बुद्धि प्रदान करें।

(२)

कुछ ही दिनों पहलेकी बात है। एक दिन चार सौ रुपयेका एक बीमापत्र बम्बईसे भेजा हुआ मिला। रजिस्ट्रीके लिफाफेपर भेजनेवालेको नाम पढ़ा, पर मैं पहचान नहीं पाया। लिफाफा खोलनेपर देखा, उसमें सौके चार नोट थे, साथ एक पत्र था। पत्रका आशय था— मेरे पिताजी श्री ······ ने संवत् १९९५ (सन् १९३८) में आपसे चार सौ रुपये लिये थे। उस समय उनका हाथ तंग था। अब मैं कमाने लगा कहूँ। पिताजीने कहा है— रुपये भेज दो। इसलिये भेज रहा हूँ। आप अवश्य रख लीजियेगा।

मुझे न उन सज्जनकी स्मृति थी, न रुपये देनेकी। मैंने उनको पत्र लिखा कि मुझे कुछ भी याद नहीं है, न मेरे पास कोई हिसाब है। मैं रुपये कैसे लूँ? अतः रुपये लौटानेका विचार है। इसके उत्तरमें उन भाईका पत्र आया— उन्होंने लिखा— आप देनेवाले हैं अतः आपको याद नहीं है, परन्तु रुपये लेनेवालेको तो याद रहता है। ईश्वर कभी वापस लौटाने योग्य बनाता है, तभी लौटाये जाते हैं। आप रुपये अवश्य स्वीकार कर लीजिये। वापस कदापि न भेजिये। नहीं तो हमें बहुत दुःख होगा। रुपये हमारे लिये हुए हैं ·········· संवत् १९९५ (सन १९३८) को बहुत समय बीत गया। आपको स्मरण नहीं है; क्योंकि आपसे बहुत लोगोंको लाभ मिलता रहता है।

साथ ही इन भाईके पिताजी श्री ····· का पत्र राजस्थानसे आया— उन्होंने भी बड़ी नम्रतासे लिखा— संवत् १९९५ कार्तिक मास (सन् १९३८) में मैंने रुपये आपसे लिये थे। आप भूल गये हैं, पर मैं कैसे

भूलता? अबतक दे नहीं सका सो दूसरी बात है। रुपये आपकी सेवामें भेजे हैं, उन्हें वापस न भेजियेगा। अवश्य रख लीजियेगा। जरा भी शङ्का न कीजियेगा। मैं आपसे लिये हुए रुपये ही आपको लौटा रहा हूँ। केवल असली रुपयेमात्र भेजे हैं– ब्याज थोड़े ही भेजा है। आप कदाचित् लौटा देंगे तो मेरी आत्माको बड़ा ही दुःख होगा। मेरे मनको शान्ति नहीं मिलेगी ......।

इसके बाद पत्रमें और भी बहुत नम्रताके शब्द लिखे थे। मैं इन वृद्ध सज्जनको क्या लिखता, जो अट्ठाइस वर्षोंके बाद इतने विनयपूर्ण आग्रहके साथ रुपये लौटा रहे हैं। मैंने लिख दिया– रुपयेकी बात मुझे जरा भी याद नहीं है, पर मैंने आपके आज्ञानुसार रुपये इसलिये रख लिये हैं कि जिससे आपको दुःख न हो और मनको शान्ति मिले। आपका यह कार्य अनुकरणीय है, सराहनीय है और आजके युगमें तो सबके लिये आदर्श है। यही अपनी हिन्दू-संस्कृति है। रुपये मैंने रख लिये हैं और किसी अभावग्रस्त भाईकी सेवामें लगा दिये गये हैं। आपकी सद्भावनाके लिये धन्यवाद– मैं बम्बई पत्र नहीं लिख रहा हूँ। आप लिख दीजियेगा।

इस समय भी ऐसे आदर्श मानव हैं।

भगवत्निष्ठा

(१)

हमारे यहाँ गोरखपुरमें एक रघुजी रहे। आप लोगोंमेंसे बहुतोंने उनको देखा होगा। सिन्धके रहनेवाले थे। ग्रेजुएट पढ़े-लिखे योग्य पुरुष थे। पहले 'चित्रा' पत्रका सम्पादन करते थे। वे हमारे यहाँ छः वर्ष रहे। वे मौन रहते थे, केवल 'रघु-रघु' बोला करते। इसलिये उनका नाम 'रघुबाबा' पड़ गया। सत्संग सुनने आते तो उनकी स्थिति यह रहती कि जबतक भगवत्सम्बन्धी, साधन-सम्बन्धी चर्चा होती, तबतक तो ध्यानसे उनकी आँखें इधर लगी रहतीं और बीचमें कोई संसारकी चर्चा हुई तो उनका मुँह उधर घूम जाता। मैंने स्वयं देखा है कि बाईस-बाईस घंटेतक उनके विरहके आँसू बहा करते थे। उनके चेहरेपर आँसूके निशान पड़ गये थे। ऐसी उनकी विरहकी दशा थी। उनके पास पूजामें भगवान् राम, लक्ष्मण, सीता और हनुमानजीका एक चित्र था। उसके दर्शन वे किसीको नहीं कराते थे। उनके लिये वह चित्र नहीं था, साक्षात् भगवान् थे। एक दिन लोग उनसे बहुत आग्रह करने लगे कि आपके

भगवान्‌का एक बार दर्शन कराइये। बहुत आग्रहके बाद स्वीकार किया, बड़े संकोची स्वभावके थे। वे बोले कि नहाकर एक-एक आदमी आओ, बिना नहाये कोई न आये। सब लोग नहा-नहाकर आये। वे चित्रको हाथमें लेकर खड़े हो गये, दो-चार कदम दूरसे दर्शन कराते, अधिक देर किसीको सामने नहीं रखा। जल्दी-जल्दी दर्शन कराकर सबको भेज दिया। वे अपने ठाकुरजीको तीन पावका भोग लगाते। हमलोग तो ऐसे ही बला-सी टाल देते हैं। वे सबेरे अंग्रेजीमें एक कागजपर लिखकर मुझे दे जाते कि आज अमुक चीज रघुके लिये चाहिये। वैसी व्यवस्था उनके लिये कर दी जाती थी। वह तीन पावका प्रसाद सारा-का-सारा समाप्त हो जाता था। किसी-किसी दिन तो केवल करेला। अब उनकी बात वे जानें या भगवान् जानें। हमने तो उनके भगवान्‌को अन्दर जाकर खाते देखा नहीं, इसलिये हम कुछ कह नहीं सकते, पर विश्वास करनेकी बात है कि उनके भगवान् खानेवाले थे, केवल चित्रपट नहीं थे। एक दिन उन्होंने केले मँगाये। केले शायद कुछ नरम आ गये थे या कुछ खराब आ गये थे। दोपहरके समय मैं बैठा था, तो मेरे पास आये और झर-झर आँसू बहने लगे। मैंने कहा— महाराज! क्या बात हो गई? तो उन्होंने अंग्रेजीमें लिखकर बताया कि रघु कितना सुकुमार है, वह तो राजकुमार है, उसके लिये केले खराब आ गये। मुझे अपना बड़ा अपराध प्रतीत हुआ कि जो चीज आती है, वह इनके भगवान् खाते हैं। इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जो भगवान् प्रह्लादके लिये खंभेमेंसे निकले, वे आज भी वर्तमान हैं। मैंने कहा— महाराज! अब भूल नहीं होगी। उसके बाद मैं स्वयं ध्यान रखता था कि कोई चीज खराब न आ जाय। वे किसीसे सेवा नहीं लेते थे। यहींपर उनका देहावसान हुआ। जिस दिन देहावसान हुआ, उस दिन भी शामको अपने हाथसे कुएँसे पानी निकालकर वे नहाये। रातको तीन बजे जटायुकी स्तुति करने लगे। दिन- रातमें दो बार जटायुके मरणकालकी स्तुति उन्होंने दूसरे आदमीसे सुनी।

छः वर्षोंमें एक बार मुझसे बोले। मैं उनकी कोठरीमें गया तो बोले— मैं तो प्रेम-दिवानी मेरा दरद न जाने कोय। बस, उनकी वाणीसे इतने ही शब्द सुने गये। यह साधकका आदर्श है।

अब आपको उनके देहान्तके बादकी बात बताऊँ। वे एक बार चित्रकूट गये थे। उस समय देवरियाके मुंसिफ थे— श्रीकृष्णचन्द्र श्रीवास्तव। वे

साधुओंके भक्त थे। उनके यहाँ रातको ठहरे तो उनसे प्रेम हो गया था। देहान्तके बाद उनके पास कोई विशेष सामान तो था नहीं—हमने किसीको दान दे दिया। उनके जो ठाकुरजी थे, उनको हम रतनगढ़ ले गये। आपको सच्ची घटना सुनाता हूँ। रतनगढ़ ले जाकर उनकी पूजा कौन करता? उनको बाहरकी बैठकमें एक स्थानपर रख दिया। वे कृष्णचन्द्रजी श्रीवास्तव जज हो गये थे। उनके और उनकी स्त्रीके सामने रघुजी प्रकट हुए और उनसे कहा कि भाईजीको समाचार लिखो कि उन्होंने हमारे भगवान्‌को अमुक स्थानपर ऐसे ही रख दिया है। भाईजीको तो हम क्या कहें? आप हमारे भगवान्‌को मँगाकर उनकी पूजा करो। कृष्णचन्द्र हमारा पता जानते नहीं थे। गोरखपुरमें एक बैरिस्टर थे श्रीअयोध्यादासजी। उनको उन्होंने पत्र लिखकर सारी घटना लिखी एवं हमारा पता पूछा। उन्होंने मुझे लिखा। बात सत्य थी, मैंने देखा, भगवान् ऐसे ही पड़े हैं। उनके ऊपर धूल छाई हुई थी। फिर वह चित्र उनके पास भेजा। उनके यहाँ अबतक उनकी पूजा होती है। वे अभीतक हैं। अब वे वहाँसे रिटायर्ड हो गये हैं, इलाहाबाद हाईकोर्टमें वकालत करते हैं। भगवान् इतने प्रत्यक्ष होते हैं, इतनी कृपा करते हैं।

(२)

बम्बईमें जिस मकानमें हम रहते थे, मकानमें नीचे चिड़ावाके एक घासीराम डालमिया रहते थे। अब तो वे मर गये। देखनेमें लोग कहते फालतू आदमी हैं। उसके पत्नी नहीं थी, अकेला था। दिनमें बाजार जाया करता था। उसके एक गोपालजी थे। उसका वात्सल्य भाव था। वह गोपालजी नहीं कहता—गोपालिया कहता। वह दिनमें चार-पाँच बार बाजारसे आता। आकर गोपालियाको देखता, कभी कुछ प्रसाद लगा दिया करता, फिर चला जाता। कभी पीनेके लिये जल रख जाता, फिर चला जाता। एक दिन मैंने पूछा—तुम बार-बार क्यों आते हो? भगवान्‌के दो समय भोग लगा दिया करो। वह बोला—भाईजी, आपको मालुम नहीं है। गोपालियाको न मालूम कितनी बार भूख लगती है और कितनी बार प्यास लगती है। इसकी माँ घरमें है नहीं, वह तो मर गई। यदि मैं इसे न सँभालूँ तो यह भूखा रह जायगा, प्यासा रह जायगा। बच्चा है न! कहीं मर जाय तब? बच्चा ही तो है। भाईजी! इसीलिये मैं चार-पाँच बार आता हूँ। जब बाजारमें रहता हूँ तब भी मेरे मनमें रहता है कि कहीं गोपालिया दुःख तो नहीं पाता होगा। गर्मी रहती है तो मैं आकर

थोड़ी देर हवाकर जाता हूँ। फिर वे वृन्दावन चले गये। वृन्दावनमें एक चिड़ावाके महात्मा थे श्रीराधिकादासजी। पहले उनका नाम रामप्रसादजी था, बहुत बड़े पंडित थे। मिर्जापुरवाली धर्मशालामें रहते थे। उन्होंने मुझे बताया कि घासीराम यहाँ आकर रहा था। एक दिन बोला– पंडितजी आज तो गोपालिया आया था, वह कह गया, अब तू मेरे साथ चल। उन्होंने कहा– मैंने सोचा, ऐसे ही हँसीकी बात है। दूसरे दिन यमुनाजी नहाने गये तो वापिस लौटे नहीं। एक पत्थरके नीचे एक कागज लिखा मिला कि मैं गोपालियाके साथ जा रहा हूँ।

(३)

पं.मदनमोहनजी शास्त्रीका नाम आपलोगोंमेंसे बहुतोंने सुना होगा। काशीके बहुत बड़े विद्वान् थे। थे तो पंजाब-सीमाप्रान्तके, पर काशीमें आकर बस गये थे। हमारे यहाँ तो बहुत बार आया करते थे। हमलोगोंपर उनकी बड़ी कृपा रहती। श्रीसेठजीसे भी उनका बड़ा प्रेम था। एक बार मैं काशी गया तो वे मुझे एक स्थानपर ले गये। बोले कि तुम मेरे साथ चलो, आपको एक चीज दिखायें। एक खत्री सज्जन थे, उनके मकानमें ले गये। मकानके दो तल्लेपर एक बड़ा सुन्दर सजा हुआ कमरा था। कमरेमें चारों और खिड़कियाँ थीं और बीचमें भगवान्का एक मण्डप बना हुआ था, मन्दिरनुमा-सा। उसमें भगवान् लड्डूगोपालकी बड़ी सुन्दर एक मूर्ति थी। वहाँ ले जाकर मुझे दर्शन करवाया। दर्शन करानेके बाद बोले– बैठो। मैं बैठ गया तो बोले– इन (मकान मालिक) का इतिहास सुनो। ये (सज्जन) खत्री थे, उनका तो देहान्त हो गया, जब ये इस मकानको बना रहे थे तो इन्हें सपना आया। सपनेमें भगवान्ने कहा कि मैं दीवालमें हूँ, मुझे निकालकर मेरी प्रतिष्ठा करो। वे खत्री महोदय मेरे यजमान थे तो वे मेरे पास आये और वह बात सुनाई। मैंने कह दिया– ऐसे ही सपना आया होगा, छोड़ो इस बातको। दूसरे दिन फिर सपना आया। वे फिर मेरे पास आये, पर मैंने टाल दिया। तीसरे दिन फिर सपना आया, फिर टाल दिया। चौथे दिन क्या हुआ कि उनकी एक छोटी लड़की थी, एक छोटी-सी सावर पड़ी थी, उसको लेकर वह लड़की दीवालपर ठोंक रही थी। ऐसे ही खेलनेमें दीवालके एक कोनेमें वह सावर लगी और दीवाल जरा-सी टूट गई। उसके अन्दरसे यह बड़ी सुन्दर लड्डूगोपालकी मूर्ति निकली। तब वे मेरे पास आये। मैंने जाकर देखा तो अपनेको बड़ा अपराधी माना कि हे भगवान्! आपने तो सपना दिया और मैं अपने विद्याके मदमें अविश्वासी बना रहा। मैंने इनको सलाह नहीं दी और आप

तो प्रकट हो गये। उसके बाद उनकी इतनी श्रद्धा हुई कि दोनों स्त्री-पुरुष उस मूर्तिके लिये एक मन्दिर-सा बनाकर अपने घरमें पधराकर, उनकी सेवा करने लगे। रात-दिन सेवामें लगे रहते। घरका, व्यापारका कोई भी काम करते तो भगवान्‌के सामने चिट्ठी डालकर पहले पूछ लेते, बादमें मनसे भगवान्‌से पूछकर करते। भगवान्‌को पूछे बिना कोई भी काम न करते। उनके लिये वह मूर्ति, मूर्ति नहीं थी। गर्मीके दिनोंमें रातमें दो-दो घंटे जगकर पंखा झलते रहते, क्योंकि उस समय बिजली नहीं थी। बादमें चारों ओर खिड़कियोंवाला कमरा बनवाया। सर्दीमें अँगीठी रखते, पर अँगीठी रखकर कमरा बन्द न करते। शास्त्रीजीने कहा कि हमारी समझमें तो भगवान् उनसे बातें करते थे।

(४)

एक हमारे रिश्तेमें ताऊजी थे। उनकी भगवान्‌में बड़ी निष्ठा थी। मथुराजीमें उनका मंदिर है। एक दिन रातमें दो बजे उनको स्वप्नमें भगवान्‌ने कहा– देखो, पुजारीने बड़ी भूल कर दी, वह अँगीठी अन्दर रख गया, मुझे बड़ी गर्मी लग रही है। जल्दी चलो, वह अँगीठी बाहर निकालो। अब आजकल कौन स्वप्नकी बात मानता है? कह देंगे– ऐसे ही स्वप्न आया होगा और भगवान् थोड़े ही बोलते हैं। भगवान्‌को माननेवाले भी कह देते हैं कि भगवान्‌को कहीं गर्मी लगती है? पर वे रातमें उठे। आदमी नहीं भेजा, स्वयं वे पुजारीके घर गये। पुजारीको साथ लिया। मंदिरमें जाकर गर्भगृह खोला। देखा, सचमुच अँगीठी जल रही थी, धधक रही थी और भगवान्‌को पसीना आ गया था। अँगीठी तुरन्त बाहर निकाली गयी, फिर लौटकर आये। भगवान्‌को हम मूर्ति मानते हैं तब मूर्ति है, पत्थर मानते हैं तब पत्थर हैं और भगवान् मानते हैं तो भगवान् हैं।

नाम-जप निष्ठा : दीर्घजीवी महात्मा

भारतवर्ष रत्नोंकी खानि है। पता नहीं, यहाँ कितने वयोवृद्ध महात्मा होंगे। मुझे एक परम भक्त वैष्णव महापुरुषके दर्शनका सौभाग्य कई बार हुआ था। उनका शुभ नाम था पण्डित रसिकमोहन विद्याभूषण। शुभ्र गौर शरीर, साक्षात् शान्त शङ्करकी-सी मूर्ति, विशाल उन्नत ललाट, लम्बी स्वर्ण-प्रतिम जटा, अपूर्व ज्योतिसे चमकते हुए प्रेमाश्रुपूर्ण नेत्र, स्नेह और वात्सल्यसे पूरित मधुर वाणी, वैष्णव-शास्त्रका विशाल पाण्डित्य, अधिक क्या, उनके एक-एक गुणके सामने भक्ति-प्रणत होकर मस्तक झुक जाता था। पहले-पहल झूसीमें

ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी महाराजके अखण्ड कीर्तनमें उनके दर्शन हुए थे। पं.श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी मेरे साथ थे। गोस्वामीजी कीर्तन कराने लगे, इतनेमें ही आसनपर विराजित विद्याभूषण महाशय उठे और गोस्वामीजीका हाथ पकड़कर नाचने लगे। उस समय भी उनकी अवस्था सौ वर्षसे ऊपर थी। कलकत्तेमें रहते थे। उसके बाद भी मैंने कई बार उनके दर्शन किये। वे 'कल्याण'में लिखते भी थे। वे प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनशास्त्रके पण्डित थे। संस्कृत, बंगला, उड़िया तथा अंग्रेजी भाषापर आपका पूर्ण अधिकार था। गतवर्ष * (सं. २०००४ वि.के मार्गशीर्ष मासमें) वे गोलोकवासी हुए। उस समय उनकी अवस्था एक सौ नौ वर्षकी थी। उन्होंने अपने सुदीर्घ भजनमय जीवनमें वैष्णव-जगत्को बंगलाभाषामें जो बीसों ग्रन्थरत्नोंका दान किया है, वह सचमुच अपूर्व है। वे इधर प्रायः बीस सालसे सोये नहीं थे। रातों जगकर नाम-जप किया करते थे। कहते हैं कि अन्तकालमें उन्होंने कहा— देखो-देखो! कैसे सुन्दर दो बालक नाच रहे हैं। कितनी सुन्दर खोल बज रही है। अहा! इतना सुन्दर खोलका बजना तो मैंने कभी नहीं सुना, बालकोंका ऐसा नृत्य तो मैंने कभी नहीं देखा। ये मुझे बुला रहे हैं, जल्दी मेरी नाम-जपकी माला दो। किसी भक्तने नाम-जपकी माला दी। उन्होंने उसे तुरन्त हृदयसे लगा लिया और महान् योगिराजकी भाँति परमधाममें चले गये।

इनके-जैसे अन्य कोई महात्मा इतनी उम्रके इस समय कहीं हैं या नहीं, मुझे पता नहीं। बरहजमें भक्तराज परमहंस श्रीअनन्तप्रभुजी भी बहुत बड़ी अवस्थामें साकेत पधारे थे और कहते हैं, उनके रोम-रोमसे भगवन्नामकी ध्वनि निकला करती थी। प्रसिद्ध राजनीतिक नेता बाबा राघवदासजी इन्हींके शिष्य हैं।

गुप्तदान

कई वर्षों पहलेकी बात है। राजस्थानमें भीषण अकाल था। गौओंकी बड़ी दुर्दशा थी। उस समय गीताप्रेसकी ओरसे राजस्थानमें स्थान-स्थानपर सहायताका काम हो रहा था। रतनगढ़में मैं काम देख रहा था। एक दिन दोपहरको अपनी बैठकमें अकेले बैठे डाक देख रहा था कि वहाँ एक सज्जन, जो बहुत सम्पन्न थे,

* सं. २००४ वि. (सन् १९४७) के मार्गशीर्षमें वे परमधाम पधारे।

जिनका बंगालमें बड़ा कारोबार था, बड़े दानी थे, पर जो अपने लिये व्यय करनेमें बड़े ही अनुदार थे, घुटनोंतककी धोती, एक कमरी तथा सिरपर पगड़ी, जाड़ेमें एक बीकानेरी कम्बल– यही उनकी पोशाक थी। वे रिश्तेमें मेरे मामा लगते थे– आये। मैंने प्रणाम करके आनेका कारण पूछा– उनके हाथमें कागजका एक छोटा-सा पुलिंदा था, उसे मेरे हाथमें देते हुए बोले– ले भैया! ये दस हजार रुपयेके नोट हैं। इस समय तू अकेला मिलेगा, इसीसे दुपहरीमें आया हूँ। इनको गायोंकी सेवामें लगा देना, पर देखना, कहीं मेरा नाम न आने पाये। भगवान्‌की चीज भगवान्‌की सेवामें लगे, इसमें देनेवाले किसी दूसरेका नाम क्यों आना चाहिये? मैंने मुस्कराते हुए नोट ले लिये। मैं जानता था मामाजीकी गुप्तदानकी क्रियाको। इस प्रकार प्रचुर धनका ये दान करते थे। जगह-जगह कुएँ-तालाबोंकी मरम्मत कराते थे, नये भी बनवाते थे, पर इनके नामकी जानकारी केवल वहीं होती थी, जहाँ बिना बताये काम चलता नहीं। आज तो दानके नामपर इन्वेस्टमेंट करनेवाले– और दानसे पहले ही समाचारपत्रोंमें समाचार भेज देनेवाले दानी महोदय इससे शिक्षा ग्रहण करें।

अमृत-भोजन

मैं एक बार किसी कामसे कलकत्ते गया था। एक दिन एक सज्जन मेरे पास आये। फटा कुरता, मैली धोती, पुरानी फटी-सी जूती। दुपहरीका समय था, सकुचाते-डरते हुए-से मुझसे कुछ दूर पायदानके (पैर पोंछनेका बिछावन) पास बैठ गये। मैं एक अन्य सज्जनसे बात कर रहा था। मेरी नजर उनकी ओर गयी। उन्होंने बड़ी विनम्रता, पर संकोचके साथ नमस्कार किया, मानो वे ऐसा मानते हों कि वे नमस्कार करने योग्य भी नहीं हैं। मैंने बदलेमें नमस्कार किया। उनको नजदीक आकर सतरंजीपर बैठनेके लिए कहा, वे नहीं उठे। हाथ जोड़कर बोले– यहाँ बहुत ठीक है। मैंने उठकर उनका हाथ पकड़कर अपने पास बैठा लिया। उनके नेत्रोंमें आँसू छलक आये। पहलेवाले सज्जन कुछ देर बात करके चले गये। तब मैंने उनसे पूछा– भाईजी, आप कैसे पधारे? कहाँ रहते हैं? उन्होंने अपने नाम-जातिका परिचय दिया। मालूम हुआ कि वे मेरी ही जातिके अच्छे घरानेके व्यक्ति हैं। फिर उन्होंने कहा– मैं आया तो था एक कामसे, पर मुझे कहते बड़ा संकोच होता है, डर भी लगता है।

मैंने उनसे कहा– आप जरा भी संकोच न कीजिए। आप तो मेरे बड़े भाई

हैं, अपना काम बताइए। मुझसे होने लायक होगा तो मैं अवश्य करूँगा। मेरी बात सुनकर उनमें साहस आया, उनके चेहरेपर कुछ आश्वासन तथा आनन्दकी रेखा दिखायी दी। वे बोले— आप कर सकते हैं, तभी तो आया हूँ। मेरी वृद्धा माता तीन महीनेसे बीमार हैं, वे चल-फिर नहीं सकतीं। पता नहीं क्यों, दो महीने पहले मुझसे उन्होंने कहा— ··· ··· ··· से मुझे मिलना है। वे यदि कलकत्ते कभी आयें तो ख्याल रखना और मुझसे मिलाना। अब परसों आपके यहाँ आनेका पता लगा, तब माताजीके कहनेपर मैं यहाँ आया हूँ। माताजी आपसे मिलना चाहती हैं— आप पधार सकें तो। मैंने कहा— जरूर आऊँगा। वे मेरी भी तो माताजी हैं, मुझे उनके दर्शनका सौभाग्य और लाभ प्राप्त होगा। मैंने उनका पता नोट कर लिया और दूसरे दिन ग्यारह बजे उनके घरपर पहुँचनेका समय दे दिया। मैंने उनसे कहा— हम शायद तीन-चार आदमी होंगे।

दूसरे दिन सबेरे मैं अपने दो मित्रोंके साथ निकला। जहाँ पहले जाना था, वहाँ पहुँचा। वहाँसे एक जगह और गया। लौटते समय कोई जुलूस जा रहा था। रास्ता बन्द था। इसलिए रास्तेमें रुकना पड़ा। पहले ही कुछ देर हो गयी थी। हमारी मोटर लगभग एक बजे उनके मकानकी गलीके सामने पहुँची। वे वहाँ खड़े इन्तजार कर रहे थे। पूछनेपर पता लगा, ढाई घण्टेसे खड़े हैं। मुझे बड़ा ही संकोच हुआ। मैंने क्षमा माँगी, वे तो मानो लाजसे गड़ गये। पर उनके चेहरेपर इस बातकी बड़ी खुशी थी कि ये हमारे घर आये हैं। मैं उनके साथ-साथ उधर गया। जाकर देखा— एक छोटा-सा कमरा है। सामान प्रायः कुछ भी नहीं है, पर बड़ा साफ-सुथरा है। एक चारपाईपर बुढ़िया माताजी लेटी हैं। उनके पैरोंकी ओर उक्त सज्जनकी धर्मपत्नी खड़ी हैं, एक आठ-दस वर्षका बच्चा भी उनके पास खड़ा है। वे मुझे देखकर बड़ी प्रसन्न हुईं। मैंने माताजीके चरणोंमें नमस्कार किया। माताजीकी आँखोंमें आँसू आ गये। कुछ देरके बाद वे आँसू पोंछकर बोलीं— आप बैठिए। अब मैं सुखसे मर सकूँगी। कई वर्ष पहले मैंने आपका एक भाषण सुना था, तबसे मनमें थी— आपको घर बुलाकर भोजन कराऊँ, पर मेरा भाग्य ऐसा कहाँ था। आप दूर देशमें रहते हैं और हमलोग वहाँ नहीं जा सकते। अब बीमार होनेपर तो मेरा धीरज टूटने लगा। मैंने लड़केसे कहा— मैं रात-दिन आपको याद करती रहती हूँ। अबकी आयें तो जरूर मिलाना। लड़केने कहा— वे यहाँ बहुत कम आते हैं और आते भी हैं तो बहुत व्यस्त रहते हैं तथा हम गरीबोंके घर शायद उनके साथी-संगी उन्हें न आने दें। मैंने कहा— जरूर आयेंगे,

अब आज तुम आ गये। सबेरेसे बहूने रसोई बनाकर रखी है, तुम खाकर जाओ। मुझे माताके वचनोंसे बड़ा आनन्द मिला। भूख-प्यास बहुत लग रही थी, फिर मैंने सोचा– ऐसा अमृत भोजन कहाँ मिलेगा। इसमें जो प्रेमका सुधारस भरा है, वह बड़ा ही दुर्लभ है। मैंने सानन्द स्वीकार किया। उन्होंने बड़ी तैयारी की थी, अवश्य ही वह था उनके घरके अनुसार ही, पर था बहुत ही बढ़िया चावल, दाल, रूखा फुलका और एक चटनी। उक्त सज्जनकी पत्नीने कहा– हम गरीब हैं, इसलिये मिठाई आदि कुछ नहीं बना सके। घी तो घरमें कभी आता ही नहीं। मैंने कहा– मिठाई तथा घीमें जो स्वाद है, वह तो जीभ भरका है। आपकी ये चीजें तो जीवनभरके लिए भीतर मिठास भर देनेवाली हैं। बुढ़िया माता धीरे-धीरे चारपाईसे उतरकर मेरे पास बैठ गयी थीं, उनकी पुत्रवधू तो परोस ही रही थीं। मेरी बात सुनते ही उन दोनोंके नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहने लगे। मैंने हठ करके उक्त सज्जनको तथा बच्चोंको भी भोजनके लिए पास बैठा लिया। उन्होंने पाँच पत्तलें परोसीं, हम सबने बड़े आनन्दसे भोजन किया। उस पवित्र भोजनका माधुर्य सदा ही याद आया करता है। जीवनमें शायद दो-चार जगह ही इस श्रेणीका भोजन मिला होगा। उस पवित्र भोजनमें कितना स्वाद था, इसे बतानेके लिए शब्द नही है। भोजनोपरान्त मैंने उनके पास बैठकर कुछ देर घरके तौरपर बातचीत की। उनकी स्थिति पूछी तो उक्त सज्जनने बताया कि मुझे साठ रुपये मासिक वेतन मिलता है, इससे बहुत मजेमें हमारी गुजर हो जाती है, कोई भी कष्ट नहीं है। आवश्यकता ही ज्यादा नहीं, तब कष्ट क्यों होगा? कष्ट तो अभावसे होता। उनकी उस बातसे उनपर मेरी श्रद्धा और भी बढ़ गयी और मैंने कुछ शिक्षा प्राप्त की। कुछ देर बैठकर बुढ़िया माताको प्रणाम करके हमलोगोंने अपने भाग्यकी सराहना करते हुए उनसे आज्ञा माँगी। उन लोगोंके आनन्दाश्रु बह रहे थे। उन्हीं आँसुओंकी पवित्र धाराके साथ उन्होंने हम लोगोंको बिदाई दी। उक्त सज्जन बच्चेके साथ मोटरतक हमें पहुँचाने आये। इस सच्चे स्नेह एवं सुधापूर्ण भोजनकी जब-जब स्मृति होती है, तभी हृदय आनन्दसे भर जाता है और आँखें गीली हो जाती हैं।

* * * *

कृष्ण-भावना प्रचार की अन्तर्राष्ट्रीय योजना : विचार-विमर्श करते हुए श्रीभाईजी और स्वामी भक्ति वेदांत तीर्थ

प्रतिकूलतामें भगवत्कृपाकी अनुभूतियाँ

(१)

जैसे हम शब्दोंको और भावोंको अस्वीकार करके सुखी हो सकते हैं वैसे ही शारीरिक पीड़ाको भी अस्वीकार किया जा सकता है। मन समर्थ होना चाहिये। मनमें विशेष दृढ़ता होनी चाहिये। अद्वैतकी दृष्टिसे मैं पीड़ाको देखनेवाला हूँ, भोगनेवाला नहीं और प्रेमकी दृष्टिसे मनमें आयेगा कि मेरी पीड़ाको देखकर श्रीकृष्ण हँस रहे हैं, उनको सुख हो रहा है। मेरी पीड़ा प्रियतमके सुखको बढ़ानेवाली है। आप करके देख लीजिये, इन दोनोंमेंसे जहाँ एक भी भाव हुआ वहाँ पीड़ा घटने लगेगी। मानसिक क्लेश नष्ट हो जायगा।

एक बार मैं बीमार था। मुझे कहना नहीं चाहिये। डाक्टरोंने मुझे कह दिया कि तुम किसीसे बातचीत न करो, अलग रहा करो। लोगोंने कमरेमें बन्द कर दिया। आने-जानेवाले लोगोंसे गोस्वामीजी कहते थे– भाईजी अस्वस्थ हैं, बोलना नहीं है। कई बार ऐसा हुआ। जब डाक्टर आते थे, देखते थे, इन्जेक्शन देते थे, उस समय मैं बीमार रहता था। डाक्टर गये, किवाड़ बन्द हुए और मैं बीमार नहीं। कई बार इस तरहकी बात हुई है। मुझे कहना नहीं चाहिये, पर यह करके देखनेकी चीज है। आप सब कर सकते हैं, केवल मनपर निर्भर है।

(२)

मुझे बहुत अच्छी तरह याद है, मेरी अपनी एक बूआ थी। विवाहके थोड़े ही दिन बाद वे विधवा हो गईं। उनकी एक लड़की थी, वह मर गई। वे स्वयं कहीं गिर गईं तो उनका पैर टूट गया एवं काट देना पड़ा। घरमें पैसा रहा नहीं। वे रामगढ़में रहती थीं। जब मैं राजस्थान जाता तो उनसे प्रायः मिलने जाता। मैं कुछ देना चाहता तो लेती नहीं, बड़ी मुश्किलसे कुछ लेतीं। बस, केवल इतना पूछतीं– तुम प्रसन्न हो और उसके बाद केवल भगवच्चर्चा करती। हँसती रहतीं और बड़ी प्रसन्नतासे कहतीं कि भैया! मेरे समान सुखी संसारमें कोई है ही नहीं। मुझे किसी तरहकी न कोई बाधा है, न विघ्न है, न मुझे कोई बन्धन है, न मेरी कहीं ममता है, न अहंता है। न मुझे कुछ चाहिये मैं तो अत्यन्त प्रसन्न हूँ। बस, ब्याजका पन्द्रह-बीस रुपया महीनेका आता, उससे काम चल जाता।

आर्यसमाजी विचार-धाराकी थीं। लेकिन सन्तोषवृत्ति अद्भुत थी। मैं तो उनके दर्शन करके कृतकृत्यताका अनुभव करता। जितने अभाव जगत्‌में हो सकते हैं, वे सारे अभाव उनके पास थे। संतान नहीं, पुत्र नहीं, स्वास्थ्य नहीं, पैसा नहीं, घरमें कोई नहीं। सब तरहके अभाव, पर कहती थीं कि मुझे किसी वस्तुका अभाव नहीं है। भगवान् मेरे साथ है, मुझे क्या कमी है? अब देखिये, मनुष्य कैसे प्रतिकूल परिस्थितिमें भी प्रसन्न रह सकता है।

(३)

कुछ वर्षों पहले मैं काशी गया था। वहाँ रंगूनसे आयी हुई एक बहन मुझसे मिली। उसकी उम्र अनुमानसे सोलह-सत्रह वर्षकी होगी। उसका सिर मुण्डित था। वह विधवा हो गई थी। मैंने उसकी बातें सुनकर सहानुभूति प्रकट की। मैंने कहा– बाई! यह तो बड़े दुःखकी बात हुई, पर इसका कोई उपाय नहीं है। सुनकर वह हँसने लगी। हँसकर बोली कि आप यह क्या बात कह रहे हैं। मैं तो आपके पास यह बात तो सुनने आयी नहीं थी कि आप मेरी अवस्थाको दुःख मानकर सहानुभूति प्रकट करें। मैं तो आपको यह बताने आयी थी और सुनने आयी थी कि मैं कितनी सुखी हूँ, मेरा जीवन कितना पवित्र है, इसको देखकर आप प्रसन्न हों और मुझे बतायें कि आगे मैं क्या करूँ? यह भावकी बात है। आगे उसने कहा– भाईजी! भगवान्‌की मुझपर कितनी कृपा हो रही है। मैं तो सुनकर दंग रह गया, मेरे तो कल्पनाकी बात नहीं थी। वह बोली– भाईजी! संन्यासियोंको तो ये भोग छोड़ने पड़ते हैं, प्रयास करके और मेरे भोगोंको भगवान्‌ने कृपा करके हर लिया। नहीं तो मैं भोगोंमें ही पड़ी रहती। आज देखिये, मैं कितना मोटा कपड़ा पहने हुए हँस रही हूँ आपके सामने। मेरे सुन्दर केश नहीं हैं, पर आप मेरे चेहरेको देखिए कितनी प्रसन्नता है। अन्यथा मैं भी बढ़िया साड़ी पहनती, गहने पहनती, पर मेरा मुँह मुरझाया रहता। मुझे दुःख रहता, अशान्ति रहती– उसके अधिक गहने हैं, मुझे कम गहने हैं, मुझे भी और गहने होने चाहिये। सन्तान होती, उसका दुःख, सासका दुःख, उसको मनाओ– वह परतंत्र जीवन था। अब तो मैं स्वतंत्र हूँ और बड़ी प्रसन्न हूँ। भगवान्‌ने कृपा करके मुझे तपस्वीका जीवन दिया। अब देखिए, जहाँ भाव बदला कि जो वैधव्यका जीवन दुःखका कारण है, उस वैधव्यको उसने सौभाग्य मान लिया।

मानसिक स्थिति ही सुख-दुखका मुख्य कारण

(१)

बम्बईकी बात है। मेरे एक मित्र थे, जो अजातवादी थे। कहा करते थे– जगत् है ही नहीं। एक बार उनके पेटमें बड़ा दर्द हुआ। मेरी आँखों देखी सच्ची घटना है। बहुत बड़े आदमी थे, बड़े-बड़े डाक्टर आये हुए बैठे थे– पेटमें भयंकर दर्द, वेदनाके कारण छटपटा रहे थे। मैं भी वहाँ पहुँच गया। मुझे बातों ही बातोंमें याद आ गया, मैंने कहा– भाई! तुम तो कहा करते थे जगत् है ही नहीं। उस आरामके समय जगत् नहीं था तो क्या इस दर्दके समय जगत् है? सुनकर गंभीर हो गये, बोले– फिर कहो। मैंने जरा गंभीरतासे कहा कि जगत् है क्या? यदि जगत् नहीं है तो बताओ दर्द कहाँ है? वे बोले– ठीक कहते थे, जगत् नहीं है। अब जगत् नहीं है तो पीड़ा मुझे नहीं है। मैंने आश्चर्यसे देखा, वे सब डाक्टरोंके सामने बोले– मुझे पीड़ा नहीं है। डाक्टर सब बैठे ही थे, उन्होंने देखा कुछ बदला नहीं था, पीड़ा ज्यों-की-त्यों, पर बोले– मुझे पीड़ा नहीं है, आपको जचे सो करो।

(२)

कलकत्तेमें मेरे मित्र थे जमनालालजी, उनकी मोटर-दुर्घटना हो गई। उन्होंने क्लोरोफार्म नहीं सूँघा। यह मेरी आँखों देखी बात है। चार इंच लम्बा, तीन इंच चौड़ा और तीन इंच गहरा ऑपरेशन हुआ। बिना क्लोरोफार्म सूँघे उन्होंने पैर आगे कर दिया। यह आध्यात्मिक बात नहीं है, उनके धैर्यकी बात है। उनमें सहनशक्ति थी, उस पीड़ाको सह लिया, नहीं तो रोते-कराहते।

(३)

एक बार कलकत्तेमें मुझे एक बड़े आदमी मिले। दूर अपने ऑफीसमें हमें ले जाकर बोले– भाईजी! हमारे समान दुःखी संसारमें कोई है ही नहीं। हम बहुत दुःखी हैं। अब उनके मकान हैं, मोटरें हैं, मिलें हैं, ऑफीस हैं, सैकड़ों-हजारों आदमी उनके नीचे काम करते हैं– अब लोगोंके देखनेमें उनको क्या दुःख है। वे कहते थे– हमारे दुःखका पार ही नहीं है। उनको दुःख क्या है? उन्होंने अपने मनमें कई कल्पनाएँ कर रखी हैं– प्रतिकूलताकी। अब इतनी प्रतिकूलताएँ उन्हें प्रतीत होती हैं कि उनको दुःख ही दुःख।

(४)

एक बारकी बात है। मैं मालवीयजीसे मिलने काशीमें हिन्दू विश्वविद्यालय गया। एक सज्जन उनके पास बैठे थे जो उस समय बहुत विख्यात थे। मेरे पुराने मिलनेवाले मित्र थे– करीब दस-बारह वर्षों बाद अकस्मात् मिलना हुआ। मुझसे बोले कि भाई! जरा ठहरना, मुझे तुमसे कुछ बात करनी है। मैंने कहा– अच्छा बात करूँगा। मालवीयजीसे बात कर लेनेके बाद मैं उठा तो बोले– मैं भी साथ चलता हूँ। हमलोग दूर चले गये, विश्वविद्यालयके बाहर जंगल है, उधर चले गये। एक पेड़के नीचे ले जाकर बोले कि यहाँ बैठ जाओ। हम दोनों वहाँ बैठ गये। बैठते ही वे रोने लगे और सुबक-सुबककर रोने लगे। मैं सोचने लगा, क्यों रो रहे हैं? मेरी दृष्टिमें तो वे बड़े सुखी-सम्पन्न थे। मैं बीच-बीचमें कहने लगा– भाई! बताओ, क्यों रो रहो हो? उन्होंने हाथसे इशारा किया कि ठहरो, अर्थात् रो लेने दो। पन्द्रह-बीस मिनटतक बहुत रोते रहे। रोनेके बाद जब धैर्य आया तब पहली बात बोले कि आज पन्द्रह वर्ष बाद सुखसे रोनेका मौका मिला। मैं इतना दुःखी हूँ और इतना मैं फँसा हुआ हूँ कि अपना दुःख किसके सामने रोऊँ। रोनेका मुझे अवसर नहीं मिला। तुम्हारे मिलनेसे पहला सुख तो मुझे आज यह मिला कि आज मैं रो लिया। फिर मैंने कहा कि बताओ, क्या बात है? उन्होंने कहा– भाई! देखो, मेरे समान दुःखी जगत्में कोई है नहीं। हम बाहरसे बड़े सम्पन्न– मोटरमें आये थे, बड़ा अच्छा घर, बड़ा अच्छा घराना। वे मुझसे बड़ा प्रेम रखते थे तो अपने मनकी बात बताई। जब मैंने मनकी बात सुनी तो लगा कि सचमुच वे बड़े दुःखी हैं। उनका दुःख ऐसा था कि उस दुःखकी कल्पना दूसरा कोई कर नहीं सकता, जबतक वे खुद न बता दें। यह बिलकुल भ्रमकी बात है कि बाहरकी परिस्थिति देखकर हम किसीको बड़ा सुखी मान लेते हैं। मानसिक स्थिति पता लगनेपर ही यथार्थकी जानकारी हो सकती है। फिर उनको लेकर मैं मालवीयजीके पास आया। जो कुछ हो सका, उनके दुःख मिटानेके लिये किया गया। मालवीयजीने भी दो-तीन घंटे समय दिया, उनकी सारी बातें सुनीं। हमलोगोंकी चेष्टासे उनका दुःख किसी अंशमें मिटा, पूरा उपाय तो नहीं हो सका। उन्हें सान्त्वना मिल गई कि मेरा दुःख भी कोई सुननेवाला है तो सही।

* * * *

अलौकिक प्रसंग

(१) अंग्रेजभक्तको 'हृषिकेश'का दर्शन

'कल्याण' एवं 'कल्याण-कल्पतरु'के द्वारा कितने विदेश-वासियोंको अध्यात्मका मार्ग-दर्शन मिला, इसकी गणना करना सम्भव नहीं है। इसकी एक झलक अंग्रेज-कृष्णभक्त श्रीराधाकृष्ण-प्रेम-भिखारी (रोनाल्ड निक्सन) के निम्नलिखित पत्र एवं उत्तरसे मिल सकेगी —

१७-१-१९३५

श्रद्धेय सम्पादकजी, 'कल्याण',
गोरखपुर।

करीब ग्यारह वर्षका 'हृषिकेश' नामका साँवरे रङ्गका परम सुन्दर बालक आज लगभग बारह बजे दोपहरको आया। उस समय यह 'श्रीराधाकृष्ण-प्रेम-भिखारी' पौष मासके 'कल्याण' भाग ९, संख्या ६ को बड़े ध्यान और प्रेमसे पढ़ रहा था। बड़ी नम्रतापूर्वक उस बालकने इस भिखारीसे एक छोटी ताबीज साइजकी गीता माँगी और कहा कि 'गीता अध्याय ८ के २२ वें श्लोकको पढ़ा दीजिए एवं समझा दीजिये।' ज्यों ही यह भिखारी 'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्' पढ़ने लगा, त्यों ही वह कहने लगा कि– गीता भगवान्‌का एक स्वरूप है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। इस भिखारीने हृषिकेशसे पूछा– भाई, तुम कहाँ रहते हो और क्या करते हो? उसने प्रेम तथा आनन्दाश्रुओंसहित बड़ी नम्रतासे उत्तर दिया– मैं तो 'कल्याण'में रहकर 'कल्याण'द्वारा सब प्राणियोंकी चिन्ता किया करता हूँ। भक्त ही मेरे चिन्तामणि हैं। भगवान्, भक्त और भागवत– तीनों एक ही हैं। तब इस भिखारीने उनसे पूछा– भाई, तुम्हारा घर कहाँ है? उन्होंने धीमी स्वरमाधुरीसे कहा– मेरा निवास-स्थान वृन्दावन, सेवाकुञ्जमें है। वहाँके श्रीराधाकृष्ण मेरे इष्टदेव हैं। इतना सुनकर उन्हें कुछ जलपान करानेकी मेरी इच्छा हुई। तुरन्त यह भिखारी अन्तरङ्ग-विभागमें जलपान लानेके लिये गया। लौटकर देखा– हृषिकेश कहीं चले गये हैं। अनुमानतः पाँच मिनटका समय लगा होगा। इस भिखारीने बहुत चेष्टा की और स्वयं चार मीलतक दौड़ा गया, परन्तु उनका कहीं कुछ पता न चला।

जब इस भिखारीसे हृषिकेशका साक्षात्कार हुआ, तब उस स्थानपर संयोगवश कोई नहीं था। बस, कृपया आप इतना सूचित कर दें कि 'हृषिकेश' नामक कोई बालक आपके कार्यालयमें कार्य करता है? क्या वह सेवा सेवाकुञ्ज, वृन्दावनमें रहता है? इस कृपाके लिये यह भिखारी आपका अत्यन्त कृतज्ञ होगा।

आपका विनीत शरणागत
राधाकृष्ण-प्रेम-भिखारी

भाईजी द्वारा 'श्रीराधाकृष्ण-प्रेम-भिखारी'को लिखा गया उत्तर –

गोरखपुर, दिनाङ्क २०-१-१९३५

सम्मान्य श्रीराधाकृष्ण-प्रेम-भिखारीजी,

सादर हरिस्मरण।

आपका तारीख १७-१-१९३५ का पत्र मिला। 'कल्याण'में हृषिकेश नामक कोई परम सुन्दर बालक नहीं रहता। सेवाकुञ्ज-विहारी श्रीश्यामसुन्दर सर्वत्र रहते ही हैं। इसलिये 'कल्याण'-कार्यालयमें भी जरूर रहते हैं। 'कल्याण'में विशेषरूपसे रहते हों तो वे जानें। हमलोगोंको तो कभी उन्होंने ब्राह्मण-बालकके रूपमें दर्शन दिया नहीं। सचमुच वे हृषिकेश आपको प्रेम-भिक्षा देनेके लिये यदि आपके समीप पधारे हों तो आप बड़े भाग्यवान् हैं। आपने यह भूल अवश्य की, जो उनको पकड़ नहीं लिया और अपने साथ ही जलपान कराने नहीं ले गये। उन्होंने आपको 'हृषिकेश' नाम कब और कैसे बतलाया, लिखनेकी कृपा कीजियेगा।

आपका
हनुमानप्रसाद पोद्दार

* * * *

(२) *स्वप्नमें भाईजी द्वारा लिखित पुस्तक-प्राप्ति*

नागपुरके पास किसी गाँवमें एक सज्जन श्रीदेशपाण्डेजीको रातमें स्वप्नमें एक महात्माके दर्शन हुए। उन्होंने स्वप्नमें ही श्रीदेशपाण्डेको भाईजी द्वारा लिखित पुस्तक 'साधन-पथ' दी। जागनेपर वह पुस्तक उन्हें बिछावनपर मिली तो उनके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। इस घटनाका विवरण देकर उन्होंने भाईजीको पत्र लिखा। उस पत्रको भाईजीने नष्ट कर दिया। भाईजीने जो उत्तर भेजा वह नीचे दिया जा रहा है —

॥श्रीहरिः॥

गोरखपुर,
बैसाख कृष्ण ८, सं. १९९२
(२६ अप्रैल १९३५)

श्रीदेशपाण्डेजी,

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके पत्रमें लिखी बात यदि सत्य है तो बड़े ही आश्चर्यकी बात है। इससे मैं आपके लेखकी सत्यतामें सन्देह करता हूँ ऐसा नहीं समझना चाहिये। मैं इतना अवश्य कह सकता हूँ कि मुझे इस सम्बन्धमें कुछ भी पता नहीं है। आपका यह पत्र मिलनेसे पूर्व मैं इस सम्बन्धमें कुछ भी नहीं जानता था। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मुझमें कोई भी सिद्धि नहीं है। 'साधन-पथ' नामक पुस्तक स्वप्नमें आपको किसी महात्माने दी और जागनेपर वह आपके बिछावनपर मिली, यह आपकी ही श्रद्धाका फल होगा। वे महात्मा कौन थे, मैं कुछ भी नहीं जानता। इसमें क्या रहस्य है, मुझे कुछ भी पता नहीं है। आप कृपया अवश्य लिखिये कि उन महात्माने आपको और कुछ कहा या नहीं, कहा तो क्या कहा? आपने जो उनकी आकृति लिखी वह तो भगवान् शिवकी-सी मालूम होती है। आप भाग्यवान् हैं, जो स्वप्नमें महात्माने आपको दर्शन दिया। 'साधन-पथ'में जो कुछ लिखा गया है, सो सब शास्त्रोंके आधारपर ही लिखा गया है, मेरा उसमें क्या है? देखता हूँ तो मुझमें वे बातें सब नहीं मिलतीं। अतएव मैं आपको क्या उपदेश दूँ? उपदेश देनेका तो

मेरा अधिकार भी नहीं है। 'साधन-पथ' पढ़नेसे आपको शान्ति मिलती है, इसको आप महात्माका प्रसाद समझिये, मेरा कुछ भी न समझिये। आप साधन करके भगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हैं, यह बड़े आनन्दकी बात है।

आपका
हनुमानप्रसाद पोद्दार

(३) स्वप्नमें श्रीविहारीजी द्वारा भाईजीसे उपदेश लेनेका आदेश

६-५-१९३५

श्रीयुत सम्पादकजीको कृष्णकुमारीका 'ॐ नमो कृष्णाय' ज्ञात हो। मुझे ता. २-५-१९३५ को एक स्वप्न हुआ। मैंने स्वप्नमें देखा— भगवान् वृन्दावनविहारी आज्ञा दे रहे हैं कि मुझे पानेके लिये और मुझमें प्रेम होनेके लिये .... हनुमानप्रसादसे उपदेश लो .....।

जात-पाँत पूछे नहिं कोई।
हरिको भजे सो हरिका होई॥

बस, इतना ही मैंने सुना कि मेरी आँख खुल गयी। रातको करीब दो बजे थे। मैंने सोचा— 'हनुमानप्रसाद' किसका नाम है? यहाँपर तो मैंने किसीका नाम 'हनुमानप्रसाद' नहीं सुना..........। यही सोचते-सोचते निद्रा आ गयी और पुनः स्वप्नमें मुझे सुनायी पड़ा कि ''तुझे भ्रम हो गया कि कौन हनुमानप्रसाद है। अरे, वही हनुमानप्रसाद पोद्दार, 'कल्याण'- सम्पादक, गोरखपुर।'' बस, फिर क्या था। मुझे परम आनन्द हुआ। अब आपसे मेरी बार-बार यही प्रार्थना है कि अपनी पुत्री समझकर समय-समयपर आप मुझे उपदेश देते रहिये। भूल-चूक क्षमा कीजिये।

* * * *

इस पत्रके उत्तरमें भाईजीने जो पत्र लिखा, उसे भी नीचे दिया जा रहा है —

गोरखपुर, ज्येष्ठ सुदी १२, सं.१९९२
(१३ जून १९३५)

प्रिय बहन,

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र आये बहुत दिन हो गये। मैं समयपर उत्तर नहीं लिख सका, इसलिये आप क्षमा करें। स्वप्नकी घटना ज्ञात हुई। जिनको स्वप्नमें श्रीवृन्दावनविहारीकी वाणी सुननेको मिलती है वे सर्वथा धन्य हैं। मेरा तो यह निवेदन है कि आप श्रीवृन्दावनविहारीसे ही उनसे साक्षात् मिलनेका उपाय पूछिये। उनसे प्रार्थना कीजिये कि किसी दूसरेका नाम बतलाकर क्यों छलते हैं? मेरा तो यह विश्वास है कि यदि आपकी प्रार्थनामें करुणा और उत्कट इच्छा होगी तो वे स्वयं अपने मिलनेका उपाय आपको बतला सकते हैं। भगवान् श्यामसुन्दर इतने दयालु हैं कि वे अपने बँधनेकी रस्सी आप ही दे देते हैं और आकर स्वयं बँध जाते हैं। बस, आप यही प्रार्थना कीजिये और दृढ़ विश्वास रखिये कि जरूर दर्शन देंगे। जिन्होंने आपको स्वप्नमें मुझसे मिलनेकी आज्ञा दी है, वे आपको सच्ची उत्कण्ठा होनेपर नहीं मिलेंगे, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये। मेरा तो यही निवेदन है।

आपका भाई
हनुमानप्रसाद पोद्दार

(४) *देवर्षि नारद तथा महर्षि अंगिराकाके साक्षात् दर्शन*

सन् १९३६ में गीता-वाटिका (गोरखपुर) में एक वर्षका अखण्ड संकीर्तन हुआ था। उस समय देवर्षि नारद तथा अंगिराजीके दर्शन हुए थे। बड़े सुन्दर, बहुत ही लाभप्रद। उन्होंने कुछ बड़ी उत्साहप्रद बातें बतायीं थीं। यह सत्य है। शिमलापालमें 'नारद-भक्ति-सूत्र'पर मैंने एक विस्तृत टीका लिखी थी। वह टीका उन दिनों प्रकाशित हो रही थी। भागवतकी कथामें भी नारदजीका प्रसङ्ग सुन रखा था। इन सब हेतुओंसे उन दिनों नारदजीके प्रति मनमें बड़ी भावना पैदा हुई। बार-बार उनके दर्शनोंकी लालसा जगने लगी।

एक दिन रात्रिमें स्वप्नमें दो तेजोमय ब्राह्मण दिखायी दिये। मैं उन्हें पहचान न सका। परिचय पूछनेपर उन्होंने बताया कि हम दोनों नारद और

अंगिरा हैं। फिर उन्होंने कहा– हम कल दिनमें तीन बजे तुमसे मिलनेके लिये प्रत्यक्ष रूपमें आयेंगे। यह स्वप्न प्रायः जाग्रत-अवस्थाके समयका था और इतना स्वाभाविक था कि मुझे उसमें कोई संदेह नहीं रहा। मैंने पीछे बगीचेमें इमलीके पेड़ोंके पास एक कुटिया साफ करवाकर उसके सामने एक बेंच लगवा दी और उसपर दो आसन लगा दिये। मैंने किसी भी व्यक्तिसे इसकी चर्चा नहीं की। मैं स्वयं अपने निवासस्थानके बाहर बरामदेमें बैठ गया और उनकी प्रतीक्षा करने लगा। ठीक तीन बजे दो ब्राह्मण आये और मुझसे मिलना चाहा। मैं उन्हें पहचान गया। ठीक वही आकृति, वही स्वरूप, जो स्वप्नमें मैंने देखा था। मैं पीछे बगीचेमें बढ़ने लगा और वे मेरे पीछे-पीछे चलने लगे। हमलोग उस एकान्त कुटियापर पहुँचे। उन दोनोंको मैंने बेंचपर लगे हुए आसनोंपर बैठा दिया, मैं नीचे बैठ गया। दोनों ब्राह्मण सफेद कपड़े पहने हुए थे, किन्तु आसनपर बैठते ही दोनोंका वास्तविक रूप प्रकट हो गया। बड़ा ही भव्य और दर्शनीय रूप था। वे कुछ देर बैठ रहे और उन्होंने मुझे कुछ बातें कहीं। अन्तमें उन्होंने कहा– जब कभी याद करोगे, तब हम आ जायेंगे। वे मुझ जैसी वाणीमें बोल रहे थे। वे जिस व्यक्तिके सामने प्रकट होते हैं, उससे वे उसकी समझमें आनेवाली भाषामें बोलते हैं।

(५) पं. लक्ष्मीनारायण गर्देजीकी परोक्ष सँभाल

पं. लक्ष्मणनारायण गर्देकी गणना हिन्दी-पत्रिकारिताके स्तंभोंमें की जाती है। श्रीगर्देजीने सम्पादकीय विभागके सदस्यके रूपमें काफी दिनोंतक 'कल्याण'की सेवा की थी। भाईजीका उनपर बहुत स्नेह था। गर्देजीका पत्र एवं भाईजीका उत्तर दोनों ही नीचे दिये जा रहे हैं जिससे भाईजीकी अलौकिक क्षमताका पता लगता है–

पत्थरगली
रतनफाटक, बनारस सिटी
२५ अगस्त १९३७

भाईजी,

'फार्मेलिटी' जिसे कहते हैं, उसका सर्वथा परित्याग करनेके लिये आज मैं आपको सम्बोधन करते हुए आपके नामके पूर्व कोई विशेषण नहीं लगा रहा हूँ, क्योंकि कोई भी विशेषण लगानेमें सत्यका कुछ-न-कुछ अपलाप ही होता

है, यद्यपि जो कोई विशेषण मैं आपके नामके साथ लगाता हूँ; वह हृदयान्तरमें सदा सत्यस्वरूप होता है। यदि मैं आपको 'परमप्रिय' कहूँ तो यह देखता हूँ कि मुझे पाप जितना प्रिय है, उतने तो आप प्रिय नहीं है। पर यह बात भी झूठ है, क्योंकि पाप यदि मुझे प्रिय होता तो मैं उसकी शिकायत आपसे क्यों करता? पाप है तो मेरा शत्रु ही, पर उसके जालमें फँसकर मैं पापी हो गया हूँ। मैं पापात्मा हूँ, मेरा अधिकांश जीवन पापमय रहा है, इस समय भी पापमय ही हो रहा है। गत छः वर्षोंकी डायरियाँ मेरे पास हैं; उन्हें देखता हूँ तो यही सिद्धान्त निकलता है कि जो समय आपके सत्संगमें बीता या जो दो-चार-दस दिन पांडिचेरीमें बीते या जो बीमारीमें बीते, उसीमें मैं कम-से-कम शरीरतः पापवर्जित रहा। अन्यथा पापका ही चिन्तन, पापकर्ममें ही निमज्जन; पापका ही अनुताप, पापसे ही युद्ध, पापसे ही हार-जीत, पापका ही छिपावा, पापका ही विस्तार करता रहा हूँ और जो कुछ मैंने इस पापसे मुक्त होकर सुख-स्वरूप होनेका साधन अपने मनमें सोचा, वह सब व्यर्थ हुआ। यही प्रतीति हुई कि महापुरुष-सेवन ही पाप-कर्दमसे निस्तार पानेका एकमात्र उपाय है। पर इस उपायको छोड़कर मैं यहाँ आया हूँ, इस भरोसे कि सतत भगवन्नाम-स्मरणसे यहाँ भी वह कार्य सध जायेगा, जो आपके संगमें अथवा पांडिचेरीमें रहकर सध सकता है। भगवन्नाम-स्मरणसे पापसे निस्तार होता है, यह बात विश्वासमें कुछ आ गयी है, पर भगवन्नाम-स्मरणने मुझे अभी अपने अधीन नहीं किया है, विकारका हेतु सामने आते ही भगवन्नाम-स्मरणन छूट जाता है अथवा जबतक मैं भगवन्नामका सहारा लेता हूँ, तबतक तो सहारा मिलता है, पर छोड़ते ही छूट जाता है।

भगवान् सर्वत्र हैं, सर्वत्र उनका प्रभाव है, यह बात भी कभी किसी समय ही याद आती है। व्यवहारतः तो यही आवश्यक जान पड़ता है कि मुझे किसी ऐसे सत्पुरुषके अधीन रहना चाहिए, जो मुझे जानता है कि मैं पापात्मा हूँ और जिसे मेरे उद्धारकी मुझसे भी अधिक चिन्ता है—जैसे अपने नालायक पुत्रके लिए उसकी माताको होती है। पांडिचेरीमें श्रीअरविन्ददेव और मदर यह जानते हैं, उन्हें मेरे उद्धारकी चिन्ता भी अवश्य होगी, पर वहाँ जाकर रहना इस गृहस्थीको लेकर नहीं बनता। गृहस्थीको चलानेवाले हैं तो भगवान् ही। तो क्या इन सबको छोड़कर पांडिचेरी चला जाऊँ? यह एक प्रश्न है। दूसरी बात यह है कि मैं काशीमें बिना किसी ऐसे पुरुषके संगके नहीं रहना चाहता, जो

मुझे उस तरहसे न जानता हो, जिस तरहसे आप जानते हैं। आप कृपा कर यह बताइये कि मैं काशीमें रहूँ तो किसकी शरणमें रहूँ ········ किसको आपके स्थानमें मानकर रहूँ जिसका अंकुश मुझपर रहे? मैं वहीं रहना चाहता हूँ जहाँ आप हों या श्रीअरविन्द हों या जिन्हें आप कह दें— वे हों।

ता. १४ अगस्तको मैं आपसे बिदा हुआ। उसी रातसे पूर्वाभ्यस्त पापवृत्तिको निरंकुश खुला मैदान-सा मिल रहा है, मुझे बड़ा कठिन युद्ध करना पड़ रहा है। सत्संगकी बातें याद कर-करके अपने-आपको सँभालनेका प्रयत्न करता हूँ, पर सँभालना कठिन होता है। सँभलकर भी फिर-फिर पाप-पथपर अग्रसर होता हूँ। इससे महापुरुषके दयाकी भिक्षा चाहता हूँ। सत्संगके द्वारा आपने सब कुछ बता दिया है, पर वह सार्वत्रिक है। इस पत्रके उत्तरमें विशिष्ट रूपसे ऐसी आज्ञा कीजिये कि मेरा जीवन (इहैव) ऐसा बन जाय, जैसा आप चाहते हैं।

कल सन्ध्या समय पापमें प्रवृत्त होनेके अवसरपर ऐसा प्रतीत हुआ कि बीकानेरी पगड़ी बाँधे हुए आप मेरे पास आकर खड़े हो गये। आपका मुखमण्डल उदास था। आपने कहा— कहाँ जाते हो? घर चलो। (आपको मेरे लिए नरकमें उतरना पड़ा।) मैंने कहा— यह भ्रम है, तुम मनसे यहाँ हो— इसका क्या प्रमाण है और स्पष्ट करके बतलाओ? मेरे ललाटमें तिलक लगा था वैसा ही तिकल आपके ललाटमें आभासित हुआ। आप मौन रहे, पर मन ही कहने लगा ········ अपने भरसक इस बातको स्पष्ट कर लो। मैंने सिनेमा-हाउसके अंधगृहकी ओर पीठ फेरी, मैं स्थिर हो गया, मेरे पैर धरतीमें जम गये। मैंने कहा— भाईजी! जहाँ आप कहिये, वहीं चलता हूँ, बताइये तो सही। आपने कहा— घर चलो। मैं आपके पीछे-पीछे चला। थोड़ी देर चलकर मैं एक स्थानमें रुक गया और मैंने आपसे कहा— आजभर मुझे हो आने दीजिये, कल मैं नहीं जाऊँगा। कहिये, हो आऊँ? आपने कहा— अच्छा, तो मैं अब जाता हूँ। यह कहकर आप बहुत दूर निकल गये। मैंने कहा— भाईजी! मत जाइये, मैं आपके साथ चलता हूँ। इसी मनःस्थितिमें लौट रहा था। रास्तेमें एक योगी मिले। ये योगी कई बार मिले हैं, पर कल इनके जैसे दर्शन हुए, वैसे इससे पहले कभी नहीं हुए थे। इनसे कुछ इधर-उधरकी बातचीत चल रही थी, तब अकस्मात् यह स्मरण हुआ कि एक सज्जन मुझसे मिलनेके लिए आज मेरे घर आनेवाले हैं, शायद आये हों, तो जल्दी घर चलें। मैं घर चला आया।

बीचकी एक बात कहना भूल गया। मैंने जब आपको पुकारा– भाईजी! आप मत जाइये, मैं आपके साथ चलता हूँ तो आपने पास आकर कहा– तो चलो, घर चलो। मैंने पूछा– घर चलकर क्या करूँ? आपने कहा– 'ॐ नमः शिवाय'का जप करो। मैंने पूछा– कितना जप करूँ? आपने कहा– पाँच माला। गोरखपुरसे चलनेके बाद जितने दिन तुम इस दोषमें प्रवृत्त हुए, उतनी पाँच माला जपो जन्माष्टमीतक, नित्य सायंकाल। इससे मुझे बड़ा सन्तोष हुआ और मैं उस योगीके दर्शन कर घर लौट आया तथा 'ॐ नमः शिवाय'की पाँच मालाका जप कर लिया। प्रायश्चित्त-स्वरूप चीनी-फल आदि लेकर जन्माष्टमीतकका उपवास-व्रत आरम्भ किया है विगत रविवारसे और बारह पंच माला 'ॐ नमः शिवाय'की कल मंगलवारकी सन्ध्यासे आरम्भ की है। यह सब इसलिए निवेदन किया है कि आप यथोचित संशोधन बताकर मेरे जीवनको ऐसे रास्तेपर लगा दें कि यह जीवन व्यर्थ न जाय, भगवान्‌से कभी विमुख न हो।

भवदीय
लक्ष्मण

* * * *

श्रद्धालु पुरुषकी भगवान् स्वयं देखरेख रखते हैं, उसको गिरनेसे बचाते हैं, रक्षा करते हैं। यदि कोई आदमी भगवान्‌के आश्रित हो तो वह अपने जीवनमें देख सकता है कि ठीक मौकेपर जब वह गिरने लगा तो मानो किसीने (अद्भुत रूपमें) आकर हाथ पकड़ लिया। भगवान् चाहे किसी मित्रके रूपमें आ जायँ या किसी भाईके रूपमें। मेरे पास श्रीगर्देजीका एक पुराना पत्र रखा है। मुझे तो पता ही था नहीं उस बातका। जब उनका पत्र आया तब पता लगा।

* * * *

ऊपर दिये गये पत्रके उत्तरमें भाईजीने जो पत्र लिखा, उसे भी नीचे दिया जा रहा है –

रतनगढ़ (बीकानेर)
१३-९-१९३७
भाद्र शु. ८, १९९४

पूज्यपाद गर्देजी महाराज,

चरणोंमें सादर प्रणाम। आपके ता. २३-८, २४-८, ५-९-१९३७ के तीन पत्र मिले। यहाँ आनेपर मुझे दो बार बीकानेर और एक बार दिल्ली जाना पड़ा, उससे समयपर उत्तर नहीं लिख सका, आप कुछ भी अन्यथा न समझें।

'पूज्यपाद' और चरणोंमें सादर प्रणाम लिखनेमें फार्मेलिटी तनिक भी नहीं है। मैं जिस दृष्टिसे इन शब्दोंका प्रयोग करता हूँ, किसी भी अवस्थामें इस जन्ममें उसमें अन्तर नहीं पड़ सकता। इसलिये आप जरा भी संकोच न करें। आपके द्वारा 'श्रीभाईजी' शब्दका प्रयोग बहुत ठीक जँचा, यही होना चाहिये। बीचके पत्रमें लिखी हुई अद्‌भुत घटनाको पढ़कर बड़ा आश्चर्य हुआ। आप श्रीभगवान्‌का नाम जपते हैं, नामस्मरणसे सब काम सध जायगा, यह आपका भरोसा था, उसी भगवन्नामने मेरे नाम और रूपमें आपके सामने प्रत्यक्ष उपस्थित होकर आपको बचाया है। उसीने 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्रकी आपको दीक्षा दी है, आप इसी कल्याणमय मन्त्रका जप करते रहिये और इस शंकाको दूर कर दीजिये कि अभी नामस्मरणने आपको अपनाया नहीं है। नामस्मरण नहीं अपनाता तो दूसरा रक्षा करनेवाला कौन था? आप इस बातका विश्वास कीजिये– नाम मेरे रूपमें या अन्य किसी रूपमें सदा आपके साथ है, आपके मनकी दशाको और आपकी शारीरिक क्रियाको देखता है, आपको बचाता है, आपको वृत्तियोंसे लड़नेमें विजय दिलवाता है, पापकी प्रवृत्तिमें आपके मनमें संकोच, लज्जा, भय और पतनका भय पैदा करता है। कहीं किसी प्रकारसे पतन होनेपर फिर उठाता है। यह सब तो होता ही है। आप यदि विश्वास कर लें कि श्रीभगवन्नाम सदा मेरे कार्योंको देखता है, न मालूम कब किस अवस्थामें भाईजीके रूपमें या अन्य किसी रूपमें मेरे समीप प्रकट हो जायगा, जिससे मुझे संकोच और लज्जाके सागरमें डूब जाना पड़ेगा। इसलिये ऐसे किसी भी काममें प्रवृत्ति ही नहीं होनी चाहिये। जो साथ है, वह चाहे तो सामने आ सकता है, यह

समझनेसे आप सदा ही अलग रहते हुए भी भाईजीके या श्रीअरविन्दजीके सन्निधिमें ही रहेंगे। आपके विश्वास और निश्चयपर निर्भर है।

आपने मुझे अपना समझकर मेरे सामने हृदय खोल रखा है, यह कोई भगवान्‌का ही विधान है। मुझपर आपका जो विश्वास और स्नेह है, उसको देखते मैं तो आपका चिर ऋणी हूँ। आपके स्नेहका बदला कभी चुका नहीं सकता। भगवान्‌पर विश्वास रखिये। भगवान्‌के अप्रतिहत बलसे आप संशय और निश्चय, आशा और निराशाके युद्धमें अवश्य ही विजयी होंगे। नैया डगमगाएगी, परन्तु डूबेगी नहीं। हाँ, विश्वास छूट जायगा तो अवश्य कठिनताका सामना करना पड़ेगा।

भगवद् अनुकम्पासे नौका निश्चित ही उद्दिष्ट दिशामें जायगी और यात्रा अवश्य ही सफल होगी, इसमें सन्देह करना भगवत्कृपाका तिरस्कार करना है। 'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।' हाँ, मच्चित होनेकी आवश्यकता है। परन्तु यह 'मच्चित्तता' भी विश्वाससे ही मिलती है।

(६) भारतके गृहमन्त्री श्रीगोविन्दवल्लभ पंतकी दिव्य अनुभूति

पं. गोविन्दवल्लभ पंत जब भारत-सरकारके गृह-मन्त्री थे, उन्होंने भारतकी सर्वोच्च उपाधि 'भारत-रत्न' (जो केवल कतिपय व्यक्तियोंको ही दी गयी थी) से भाईजीको विभूषित करना चाहा। वे गोरखपुर पधारे और भाईजी जब उनसे मिलने गये तो वे बड़ी आत्मीयतापूर्ण बातें करते हुए बोले कि इस कागजपर स्वीकृति कर दीजिये। मैं इसे भारत-सरकारके पास भेज दे रहा हूँ। कागजमें 'भारत-रत्न'की उपाधि प्रदान करनेका प्रस्ताव था। भाईजी तो देखते ही सकुचा गये और उनके हृदयकी व्यथाको पंतजी समझ गये और बोले— हम आपकी भावनाओंका आदर करेंगे। दिल्ली जानेपर पंतजीको भाईजीके सम्बन्धमें अलौकिक अनुभूति हुई। उन्होंने भाईजीको विस्तारसे पत्र लिखा, जिसे भाईजीने नष्ट कर दिया। भाईजीका उत्तर नीचे दिया जा रहा है —

माननीय श्रीपन्तजी,

सादर प्रणाम। आपका कृपापत्र मिला। आप सकुशल दिल्ली पहुँच गये, यह आनन्दकी बात है। आपके इस नये ढङ्गके पत्रको पढ़कर बड़ा आश्चर्य हो रहा है। पता नहीं, भगवान्‌के मङ्गलमय विधानसे क्या होनेवाला है?

आपने जो स्वप्न तथा प्रत्यक्ष चमत्कार देखनेकी बात लिखी है, वह मेरी समझमें तो आयी नहीं। हाँ, आपके अज्ञात मनके किन्हीं संस्कारके ये चित्र हो सकते हैं। मेरे बाबत आपने जो कुछ देखा-लिखा, उसके सम्बन्धमें तो इतना ही कह सकता हूँ कि मैं न योगी हूँ, न सिद्ध महापुरुष हूँ, न पहुँचा हुआ माहात्मा हूँ, न किसीको दिव्य दर्शन देकर कृतार्थ करनेकी या वरदान देनेकी ही मुझमें शक्ति है। मैं साधारण मनुष्य हूँ, मुझमें कमजोरियाँ भरी पड़ी हैं। भगवान्‌की अहैतुकी कृपा मुझपर अनन्त है, इसमें मेरा विश्वास है। मुझे इस पत्रसे पहले आपके स्वप्न तथा जाग्रतमें चमत्कार देखनेका कुछ भी पता नहीं था। अतएव मैं क्या कहूँ? अवश्य ही आपके निकट भविष्यमें देहावसानकी जो सूचना इसमें मिलती है, उससे मुझे चिन्ता हो रही है। आप उचित समझें तो स्वयं मृत्युञ्जय-मन्त्रका जप कीजिये और किन्हीं विश्वासी शिव-भक्तके द्वारा सवा लाख जप करा दीजिये। मैं यह जानता हूँ कि आप आस्तिक हैं। भगवान्‌में और शास्त्रमें आपका विश्वास है। आपने लिखा– जवाहरलाल भी, ऊपरसे कुछ भी कहें, आस्तिक हैं', सो ठीक है, उनके बारेमें मैं भी यही मानता हूँ।

आपने मेरे लिये लिखा कि– आप इतने महान् हैं, इतने ऊँचे महामानव हैं कि भारतवर्षको क्या, सारी मानवी दुनियाको इसके लिये गर्व होना चाहिये। मैं आपके स्वरूपके महत्त्वको न समझकर ही आपको 'भारत-रत्न'की उपाधि देकर सम्मानित करना चाहता था। आपने इसे स्वीकार नहीं किया, यह बहुत अच्छा किया। आप इस उपाधिसे बहुत-बहुत ऊँचे स्तरपर हैं, मैं तो आपको हृदयसे नमस्कार करता हूँ। आपके इन शब्दोंको पढ़कर मुझे बड़ा संकोच हो रहा है। पता नहीं, आपने किस प्रेरणासे यह सब लिखा है। मेरे तो आप सदा ही पूज्य हैं। मैं जैसा पहले था, वैसा ही अब हूँ, जरा भी नहीं बदला हूँ। आप सदा मुझपर स्नेह करते आये हैं और मुझे अपना मानते रहे हैं। मैं चाहता हूँ, वैसा ही स्नेह करते रहें और अपना मानते रहें। मैं आपकी श्रद्धा नहीं चाहता। कृपा और प्रीति चाहता हूँ, स्नेह चाहता हूँ। मेरे लायक कोई सेवा हो तो लिखें। आपके आदेशानुसार पत्र जला दिया है। आप भी मेरे इस पत्रको गुप्त ही रखियेगा।

शेष भगवत्कृपा।

आपका
हनुमानप्रसाद पोद्दार

(७) श्रीपुरुषोत्तमदासजी टंडनको अलौकिक अनुभूति

श्रीपुरुषोत्तमदासजीने भाईजीको पत्र लिखकर उनके सम्बन्धमें हुई अलौकिक अनुभूति जानकारी दी। पत्रोत्तरमें भाईजीने जो पत्र लिखा, देखें—

॥श्रीहरिः॥

गीतावाटिका
गोरखपुर

पूज्यचरण बाबूजी,

सादर प्रणाम!

आपका कृपापत्र मिला। मैंने कभी यह कल्पना भी नहीं की थी कि आपके द्वारा मुझको कभी ऐसा पत्र मिलेगा। सात पेजके पत्रमें शुरूसे अन्ततक केवल मेरे दिव्य स्वरूपकी महिमा, दिव्य दर्शनसे परमानन्द तथा उससे प्राप्त लाभ और मेरे गुणोंकी बार-बार बहुत ही बढ़े-चढ़े रूपमें स्तुति भरी है। आप-सरीखे माप-तौलकर बोलनेवाले सत्यवादी पुरुष मिथ्या लिखेंगे— यह सोचनेका भी साहस नहीं होता और लिखेंगे भी क्यों— मुझ नगण्यसे आपको क्या लेना है, पर जो कुछ आपने लिखा है, उसका अधिकांश तो मेरी कल्पनासे भी बाहरकी चीज है। कुछ बातें ऐसी हैं, जो मुझसे बहुत अधिक सहस्रों लोगोंमें हैं; अतः उनका महत्त्व ही क्या है। मैंने आपके हाथके लिखे इस पत्रको रखना बड़े जोखिमका काम समझा, कहीं इसके माध्यमसे मान-बड़ाईके चक्करमें पड़कर व्यक्तिपूजा न कराने लगूँ; कमजोर जो ठहरा। इसीलिये जैसे कई वर्षों पूर्व गङ्गातटपर मेरे साथ रहनेवाले मौनी स्वामीजीके मेरे सम्बन्धमें अपने अनुभवके आधारपर लिखे वर्णनके ढेर-के-ढेर कागज मैंने अग्निदेवताके अर्पण कर दिये थे, वैसे ही आपके इस पत्रको भी मैंने अग्निरूप दे दिया।

आपने लिखा— 'गीताप्रेसकी तीर्थयात्रा ट्रेनके प्रयाग पहुँचनेपर झूसीमें श्रीब्रह्मचारीजीके यहाँ आपको मेरे स्वरूपके कुछ अस्पष्ट दर्शन हुए थे, तभीसे आप इस प्रयत्नमें थे कि आप मुझे पूर्णरूपसे देख पायें और इस बार आपका वही प्रयत्न पूर्णरूपसे सफल हुआ है।'

अतः जो कुछ भी हुआ हो, आप जानें और आपका प्रयत्न जाने। मेरा स्वरूप तो स्पष्ट सबके सामने है। मैं तो समझता हूँ— आपकी दृढ़ धारणाने ही

मूर्तरूप लेकर आपको यह कौतुक दिखलाया है। मेरा इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं तो आपका बच्चा हूँ, आपके स्नेहका पात्र तथा अधिकारी हूँ। सदा ही स्नेह पाता रहा हूँ। वही स्नेही, वही वात्सल्यभाव, वही आत्मीयता रखिये। मुझे सदा अपना बालक मानिये। शिक्षा देते रहिये और आशीर्वाद दीजिये, जिससे जीवनमें मेरेद्वारा ऐसा कोई भी काम न हो, जो आपके निजजनके द्वारा नहीं होना चाहिये और सदा-सर्वदा— मृत्युके अन्तिम क्षणतक भगवान्‌की मधुर पवित्र स्मृति बनी रहे।

कुम्भमें आया और आप वहाँ रहे तो श्रीचरणोंके दर्शन करूँगा।

आपका
हनुमानप्रसाद

भगवान कृपा करके चेतावनी देते हैं

सन् १९५६ में भाईजी लगभग ६०० व्यक्तियोंके साथ स्पेशल ट्रेन द्वारा सम्पूर्ण भारत की तीर्थ यात्रा में गये थे। तीर्थयात्रा से लौटने के पश्चात भाईजी अपनी शारीरिक एवं मानसिक स्थिति के बारेमें पं. हरिवक्षजी जोशीको लिखते है —

गीताप्रेस, गोरखपुर
वैशाख, शुक्ल ३, सं. २०१३,
(१३ मई १९५६)

पूज्य श्रीजोशीजी महाराज,

सादर प्रणाम। आपका कृपापत्र प्राप्त हुआ। कलकत्तेमें आपके दर्शन नही कर सका, यह अवश्य ही खेदकी बात हुई। ... ...

मेरा स्वास्थ्य तीर्थयात्रासे लौटनेके बाद शिथिल रहता है। पेशाबमें थोड़ी चीनी आने लगी है। शरीरमें इतनी कमजोरी मालूम होती है कि दिनभर पड़े रहनेका मन करता है। सिर सूना, भारी और दिमाग अत्यन्त कमजोर मालूम होता है। कमर और नीचे पैरोंमें बड़ी कमजोरी प्रतीत होती है। हथेली, पगथली और हाथ- पैरमें, कहीं और भी, कभी-कभी ऐसा मालूम होता है कि जैसे अग्निका स्पर्श हो गया है और दस-बीस सेकण्डमें ही वह ठीक हो जाता है। यह

क्या चीज है सो पता नहीं। वैसे मन बहुत स्वस्थ है और प्रसन्नतामें कोई कमी नहीं है, परन्तु शरीर काम नहीं कर पाता। वह बार-बार आराम करनेके लिये कहता है।

पूज्य श्रीसेठजी इस समय बीमार तो नहीं है, परन्तु उनका भी शरीर काफी कमजोर है। पिछले दिनों बीमार भी बहुत दिन रहे। श्रीघनश्यामजीको जीर्णज्वर है। थोड़ी खाँसी भी आती है। शरीर तो उनका जैसा रक्त-मांसहीन है, वह आप जानते ही हैं। श्रीज्वालाप्रसादजी गये, आत्मारामजी गये। हमलोगोंके शरीरकी यह दशा है ही और यह स्वाभाविक भी है। भगवान् कृपा करके चेतावनी दिया करते हैं कि तुम यह मत समझो कि सदा बने रहोगे और तुम्हारे ही भरोसे काम होगा।

आपका

हनुमानप्रसाद

श्रीकृष्ण-जन्मभूमि मथुरामें भागवत-भवनका निर्माण

तीर्थयात्राके समय मथुरामें सन् १९५६ ई. में श्रीकृष्ण-जन्म-स्थानके सम्बन्धमें श्रीभाईजीने अश्रुपूरित नेत्रोंसे कहा—

''जन्म-स्थानके प्रति जो कुछ कहा गया है, उससे मैं पूर्णतया सहमत हूँ। एतन्निमित्त अपने क्षुद्र प्रयास भी अर्पित करनेको प्रस्तुत हूँ। शीघ्र ही दस हजार रुपये आपलोगोंकी सेवामें भेजनेका विचार है। वास्तवमें यह कार्य आपके ही कर्तव्य-पालनकी अपेक्षा करता है।''

* * * *

माघ शुक्ल १० सं. २०२१ दि. ११ फरवरी १९६५ को भागवत-भवनके शिलान्यासके अवसरपर प्रदत्त भाषणका सार—

पद्मपुराणका श्लोक है, इस मन्त्रमें इन्द्रदेव भगवान् श्रीकृष्ण-बलभद्रकी स्तुति करते हुए कहते हैं— 'प्रभो! हम देवतालोग आप दोनों बन्धुओंके मनोरम वासस्थान इस मथुरामण्डलमें आनेकी बड़ी इच्छा रखते हैं, परन्तु आपकी कृपाके बिना यहाँ आना और रहना सम्भव नहीं होता। अहा! यहाँके विभिन्न स्थानोंमें परम मनोहर सींगवाली असंख्य गौएँ चरती रहती हैं।

बहुसंख्यक विद्वानोंद्वारा जिनकी कीर्ति गायी जाती है, उन वृष्णिवंशावतंस (अथवा सम्पूर्ण कामनाओंकी वर्षा करनेवाले) पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्णका वह सुप्रसिद्ध गोलोक-नामक परमधाम निश्चय ही यहाँ अत्यन्त प्रकाशित हो रहा है।'

वाल्मीकीय रामायण, विष्णुपुराण, श्रीमद्भागवत, श्रीहरिवंशपुराण, पद्मपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, गर्गसंहिता आदि ग्रन्थोंमें मथुराकी अनुपम महिमाका विभिन्न प्रकारसे विशद वर्णन है।

मथुराका परवर्ती इतिहास— भगवान् श्रीकृष्णके ऐहलौकिक लीलासंवरण करके परमधाम पधारनेके पश्चात् महाराज युधिष्ठिरने हस्तिनापुरके राज्यपर परीक्षित्को और मथुरामण्डलके राज्यपर श्रीकृष्णके प्रपौत्र वज्रनाभको प्रतिष्ठित करके स्वयं भाइयों सहित महाप्रस्थानका आश्रय लिया। वज्रनाभने राजा परीक्षित्के सहयोग तथा महर्षि शाण्डिल्यके निर्देशसे उजड़े हुए मथुरामण्डलको पुनः बसाया और अनेकानेक मन्दिर बनवाये। कंसका वह कारागार, जिसे आज 'कटरा- केशवदेव' कहते हैं, श्रीकृष्णका प्रादुर्भाव-स्थान होनेसे सबके आकर्षणका केन्द्र बन गया। कारागार केशवदेवके मन्दिरके रूपमें परिणत हुआ और इसीके आसपास पुरीका प्रमुख भाग सुशोभित हुआ। कालक्रमसे यहाँ अनेकानेकं भव्य विशाल गगनचुम्बी मन्दिरोंका निर्माण हुआ। इनमेंसे कुछ तो कालके प्रभावसे नष्ट हो गये और कुछ विधर्मी आक्रामकों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट किये गये। ईसवी सन्से पूर्ववर्ती महाक्षत्रप सौदासके समयका जो शिलालेख उपलब्ध हुआ है, उसके अनुसार किसी 'वसु' नामक व्यक्तिने श्रीकृष्ण-जन्मस्थानपर एक मन्दिर, तोरणद्वार और वेदिकाका निर्माण कराया था। उसके पश्चात् दूसरा विशाल मन्दिर ईसवी सन् ४०० के लगभग सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यके शासनकालमें निर्मित हुआ। उस समय मथुरा नगरी संस्कृति एवं कलाका बहुत बड़ा केन्द्र थी और यहाँ हिन्दू-धर्मकि साथ-साथ बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्मका भी उत्कर्ष था। इस स्थानके पास ही बौद्धों और जैनियोंके भी विहार एवं मन्दिर बने हुए थे। उनके प्राप्त अवशेषोंसे यह स्पष्ट है कि भगवान् श्रीकृष्णका यह जन्मस्थान बौद्धों तथा जैनियोंके लिए भी आदर एवं सम्मानका केन्द्र था। चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा निर्मित उक्त मन्दिर बड़ा ही भव्य था। सन् १०१७ ई. में आक्रमणकारी गजनीके महमूदने उस मन्दिरको तोड़ा और लूटा। महमूदके मीरमुन्शी उल्तनवीने अपनी 'तारीखे मामिनी'

नामक पुस्तकमें उक्त मन्दिरके विषयमें जो कुछ लिखा है, उससे मथुराकी तत्कालीन अपार समृद्धिका पता लगता है। सुल्तान महमूदने मन्दिरके बाबत खुद लिखा है कि अगर कोई आदमी इस तरहकी इमारत बनवाना चाहे तो उसे १० करोड़ दीनार खर्च करने पड़ेंगे और उसको बनवानेमें दो सौ सालसे कम नहीं लगेंगे, चाहे उसके लिये ऊँचे-से-ऊँचे तजुर्बेकार कारीगरोंको ही क्यों न लगा दिया जाय। बड़े ही दुर्भाग्य और दुःखकी बात है कि इस प्रकार मन्दिरकी महानताका वर्णन करनेवाले गजनीके महमूदने घोर अज्ञानमयी अधर्ममयी-धर्मान्धताके वशमें होकर मन्दिरको नष्ट कर डाला, कलाकी दृष्टिसे भी उसे नहीं रहने दिया।

इसके बाद संवत् १२०७ (सन् ११५० ई.) में महाराज विजयपालके शासन-कालमें 'जज्ज' नामक किसी व्यक्तिने श्रीकृष्ण-जन्मस्थानपर एक नया मन्दिर बनवाया। इसका पता इस कटरा-केशवदेवसे ही प्राप्त एक संस्कृत शिलालेखसे लगता है। सन् १५१५ ई.के लगभग श्रीचैतन्य महाप्रभु इस मन्दिरमें पधारे थे। यह विशाल मन्दिर भी १६ वीं शताब्दीके आरम्भमें सिकन्दर लोदीके शासनकालमें धराशायी कर दिया गया।

तदनन्तर लगभग एक सौ पच्चीस वर्ष बाद जहाँगीरके शासनकालमें ओरछा नरेश राजा वीरसिंहदेव बुन्देलाने इसी जन्म-स्थानपर तैंतीस लाख रुपयोंकी लागतसे लगभग ढाई सौ फुट ऊँचा एक दूसरा भव्य मन्दिर बनवाया और उसके चारों ओर ऊँची प्राचीर बनवायी, जिसका कुछ भाग अभीतक अवशिष्ट है। इस प्राचीरके दक्षिण-पूर्व कोनेमें एक विशाल कूप और उसके ऊपर एक ऊँचे बुर्जका भी निर्माण हुआ। उस कुएँका पानी लगभग साठ फुट ऊँचा उठाकर मन्दिरके प्राङ्गणमें फौआरे चलाये जाते थे। वह कुआँ और बुर्ज आज भी मौजूद हैं। इनका जीर्णोद्धार अत्यन्त ही आवश्यक है। सन १६५० ई.के लगभग मथुराकी यात्रापर आये हुए टेवर्नियर नामक फ्रांसिसी यात्रीके वर्णनके अनुसार जगन्नाथ और बनारसके बाद मथुराका यह मन्दिर ही सबसे प्रसिद्ध था। भारतके अत्यन्त उत्कृष्ट मन्दिरोंमें यह एक था। इसकी बड़ी कुर्सी अठपहलू बनी थी। मन्दिरमें लाल रंगके पत्थर लगे थे। मन्दिरके चारों ओर पत्थरोंपर नक्काशी थी, जिनमें भाँति-भाँतिके जानवरोंकी आकृतियाँ बनी हुई थीं। विशाल चबूतरेपर आधेमें मन्दिर और आधेमें जगमोहन बना था। बीचमें एक बड़ा मण्डप था। मन्दिरमें अनेक खिड़कियाँ और गवाक्ष थे। यह इतना

श्री शुकदेवानन्दजी तथा अन्यान्य संतगणों के समक्ष प्रवचन

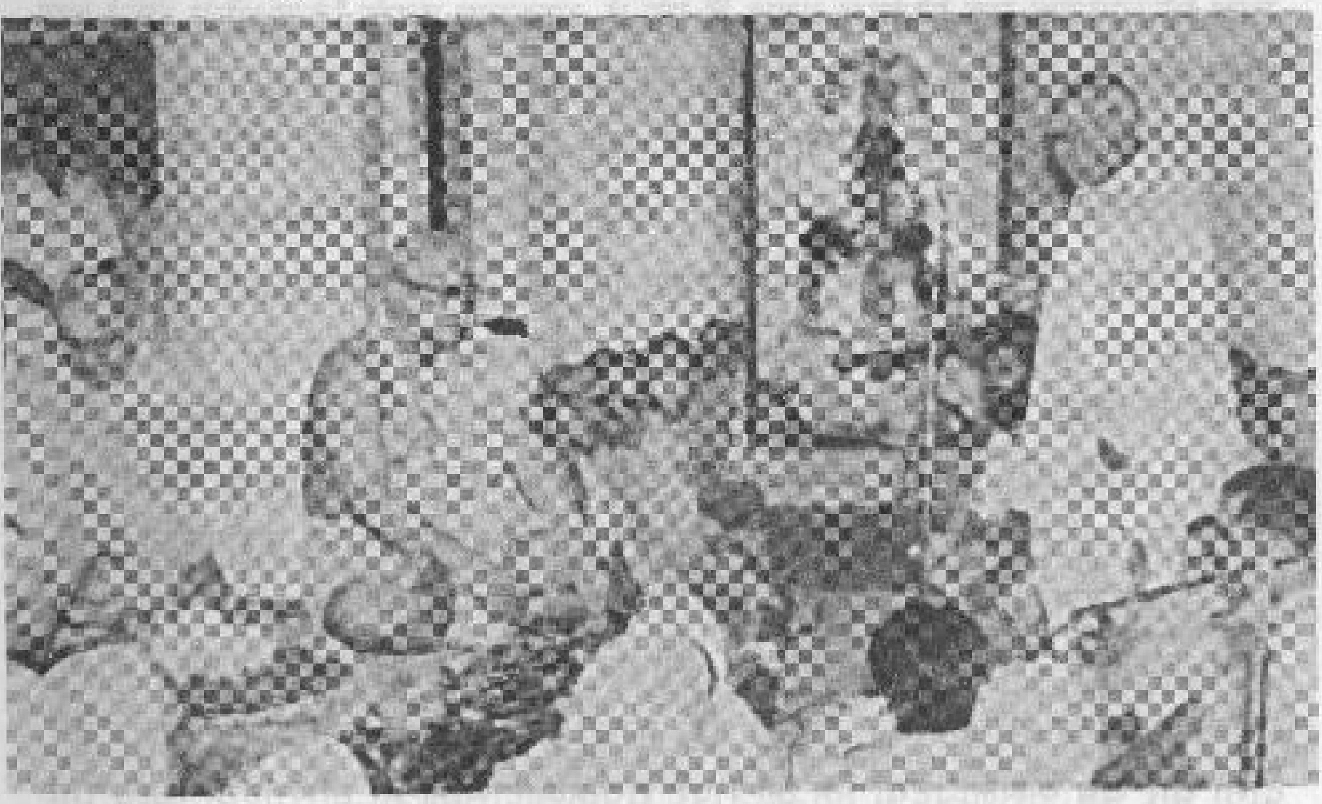

श्रीकृष्ण जन्मभूमि मथुरामें
श्री अखण्डानंदजी सरस्वतीकी उपस्थिति में श्रीकृष्णमहिमा पर प्रकाश डालते हुए

ऊँचा और विशाल था कि पाँच-छः कोसकी दूरीसे दिखायी देता था। इटालियन यात्री मनूचीके लिखे अनुसार केशवदेव मन्दिरका सुवर्णाच्छादित शिखर इतना ऊँचा था कि छत्तीस मील दूर आगरासे भी दिखायी देता था। भगवान् श्रीकृष्णके जन्मस्थानपर बने हुए इस अन्तिम स्मारकको भी औरंगजेबने सन् १६६९ ई. में नष्ट कर दिया और मन्दिरकी बड़ी कुर्सीके एक भागमें मन्दिरके ही मसालेसे एक ईदगाह बनवा दी।

आज हमारा देश स्वतन्त्र है, गणराज्य है। हिन्दू-मुसलमानका कोई प्रश्न नहीं। इस अवस्थामें बर्बरतापूर्ण आक्रमणोंद्वारा हमारे जिन मन्दिरोंको– धार्मिक स्थानोंको भ्रष्ट करके छीन लिया गया था, हमारे आजके मुसलमान भाइयोंका यह कर्तव्य है कि वे हिन्दुओंके उन पवित्र स्थानोंको बड़े प्रेमभावसे लौटा दें। हम मुसलमानोंके धर्मस्थानोंको– मस्जिदोंको आदरणीय मानते हैं, पर हिन्दुओंके धर्मस्थान बलपूर्वक छीनकर उनपर जो मस्जिदें बनायी गयी हैं, वे आज हमारे देशमें कलङ्करूपमें खड़ी निरन्तर उन अत्याचारोंका, उन भयानक विनाशकाण्डोंका स्मरण कराती हैं और वे हिन्दू-मुसलिम ऐक्यमें सतत बाधा देती हुई देशके हृदयको पीड़ित कर रही हैं। अतएव हम अपने मुसलमान बन्धुओंसे बड़े प्रेम तथा आग्रहके साथ विनयपूर्वक यह निवेदन करते हैं कि वे आक्रमण करके हिन्दुओंके छीने हुए पवित्र स्थानोंको तुरन्त वापस कर दें। इसमें उनका कल्याण है, हिन्दुओंका कल्याण है और देशका भी कल्याण है। वे मानेगें या नहीं, भगवान् जानें पर यदि स्वेच्छासे न मानेंगे तो भगवान् और काल उन्हें मनवा लेगा, आज चाहे न मानें। अस्तु।

सन् १८०३ ई. में मथुराका प्रदेश ब्रिटिश साम्राज्यके अन्तर्गत आ गया। सन् १८१५ ई. में ईस्टइंडिया कम्पनीने कटरा-केशदेवको नीलाम कर दिया, जिसे बनारसके तत्कालीन राजा पटनीमलने खरीदा। राजा पटनीमल एक उदार और धार्मिक व्यक्ति थे, उनकी प्रबल इच्छा थी कि जन्मस्थानपर भगवान् केशवदेवके मन्दिरका पुनर्निर्माण करा दिया जाय। परन्तु उनकी इच्छा पूरी न हो सकी। उनके बाद उनके उत्तराधिकारी वंशजोंका अधिकार एवं स्वामित्व कटरा-केशवदेवपर बना रहा। मथुराके मुसलमानोंने दो बार सिविल कोर्टमें कटराके तत्कालीन स्वामी रायकृष्णदासके अधिकारको चुनौती दी, परन्तु वे हार गये। इलाहाबाद हाइकोर्टने दोनों बार यह फैसला दिया कि कटरापर रायकृष्णदासका ही वास्तविक स्वत्व एवं अधिकार है।

दिवंगत महामना पण्डित मदनमोहनजी मालवीय भगवान् श्रीकृष्णके इस

ऐतिहासिक एवं वन्दनीय जन्मस्थानकी दुर्दशासे अत्यधिक व्यथित थे। उन्होंने इस पुण्यभूमिका पुनरुद्धार करनेका विचार किया और धर्मप्राण श्रद्धेय श्रीजुगलकिशोरजी बिड़लाकी आर्थिक सहायतासे १८ फरवरी सन् १९४४ को इसे रायकृष्णदासजीसे खरीद लिया। परन्तु महामना मालवीयजीकी इच्छा भी उनके जीवनकालमें पूरी नहीं हो सकी। अपने परलोकवासके पूर्व उन्होंने श्रीकृष्ण जन्मस्थानके सम्बन्धमें मार्मिक उद्‌गार प्रकट किये और यह अभिलाषा प्रकट की कि भगवान् श्रीकृष्णके स्मारक-निर्माणका कार्य शीघ्र सम्पन्न हो।

महामना श्रीमालवीयजी महाराजकी अन्तिम अभिलाषाके अनुसार श्रद्धेय श्रीजुगलकिशोरजी बिड़लाने २१ फरवरी सन् १९५१ को 'श्रीकृष्ण-जन्मभूमि-ट्रस्ट' की स्थापना की और 'कटरा-केशवदेव' पर उस ट्रस्टका अधिकार हो गया। इसी ट्रस्टकी रजिस्ट्री 'सोसाइटीज रजिस्ट्रेशन ऐक्ट'के अनुसार 'श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवा-संघ'के नामसे हो गयी है। इस ट्रस्ट-कमेटीके सर्वप्रथम सभापति लोकसभाके भूतपूर्व अध्यक्ष श्रीगणेश वासुदेव मावलंकर थे। उनके निधनके पश्चात् अब भूतपूर्व लोकसभाध्यक्ष तथा बिहारके वर्तमान राज्यपाल श्री एम. अनन्तशयनम् आयंगर सभापति हैं। देशके चुने हुए पन्द्रह महानुभाव इसके पदाधिकारी और सदस्य हैं।

संस्थाका मुख्य उद्देश्य यह है कि भगवान् श्रीकृष्णकी पवित्र जन्मस्थलीका सर्वांगीण विकास करके उसको ऐसा रूप दिया जाय, जो भारतीय नीति, संस्कृति, धर्म और दर्शनका केन्द्र बन जाय तथा जहाँसे देश-विदेशमें श्रीमद्भगवद्गीताका संदेश प्रचारित होता रहे।

इस मुख्य उद्देश्यकी पूर्तिके लिये बहुत-सी योजनाएँ थीं, जिनमें निम्नलिखित सम्पन्न हुई हैं या होने जा रही हैं— यह प्रसन्नताकी बात है।

(१) मथुराके कुछ उत्साही नवयुवकोंने स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वतीकी अध्यक्षतामें १५ अक्टूबर १९५३ को श्रमदान-कार्य प्रारम्भ किया और श्रीबाबूलालजी बजाज एवं श्रीफूलचन्दजी गुप्तके नेतृत्वमें दो वर्षसे अधिक समयतक बड़ी लगन और उत्साहसे श्रमदान करके अधिकांश ऊँचे-ऊँचे टीले खोद डाले एवं गहरे गड्ढोंको भरकर जमीनको समतल कर दिया। वे सभी नवयुवक धन्यवादके अधिकारी हैं। पुरानी प्राचीरके उत्तरी तथा पश्चिमी भाग भी प्रायः निर्मित हो चुके हैं।

(२) भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन एवं पूजन-अर्चनके लिये एक भव्य मन्दिरका निर्माण भी भाई श्रीजयदयालजी डालमियाकी सराहनीय सहायतासे उनकी स्वर्गीय माताकी पुण्यस्मृतिमें पूरा हो चुका है। इस श्रीकृष्ण-मन्दिरमें भगवान्‌के बालविग्रहकी प्रतिष्ठा संवत् २०१४ में आषाढ़ शुक्ला द्वितीया (२९ जून १९५७) को हुई और भाद्रपद कृष्णा अष्टमी संवत् २०१५ (६ सितम्बर १९५८) को उसके उद्घाटनका सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था।

(३) भगवान् श्रीकृष्णके जन्मस्थान 'कृष्णचबूतरा'का जीर्णोद्धार तथा उसपर संगमरमरकी एक विशाल कलापूर्ण छतरीका निर्माण मेरे आदरणीय बन्धु श्रीरामनाथजी गोयनका, मद्रासनिवासीके उदार दानसे सम्पन्न हो गया है और प्रतिदिन सहस्रों व्यक्ति उसका दर्शन करके प्रसन्नताका अनुभव करते हैं।

(४) 'श्रीकृष्ण-लीला' इत्यादि सांस्कृतिक समारोहोंके लिये रङ्गमञ्चका निर्माण-कार्य भी सम्पन्न हो चुका है और उसके दोनों ओर कार्यालय, विद्यालय, पुस्तकालय, औषधालय, विश्रामालय इत्यादिके लिये पाँच-पाँच कमरोंका निर्माण उदार दाताओंके दानसे हो चुका है।

पाँचवीं योजना एक 'श्रीमद्भागवत-भवन'के निर्माणकी है, जिसका शुभारम्भ आज होने जा रहा है। यह बहुत बड़ा भवन होगा, जिसमें पूरे भागवतके समस्त श्लोक संगमरमर पत्थरपर खुदवाकर लगाये जायँगे।

इंजीनियरोंका अनुमान है कि इसमें लगभग बाईस लाख रुपये लगेंगे। भगवान् श्रीकृष्णकी इच्छासे ही इस कार्यका आरम्भ हुआ है और उन्हींकी इच्छासे पूर्ण भी होगा। वे ही हमारे दाता हैं और वे ही ट्रस्टी हैं। वे ही सहायक हैं और वे ही रक्षक हैं। वास्तवमें ऐसे कामोंमें जो धन व्यय होता है, वही सार्थक है। धन किसीके पास रहा नहीं और रहेगा भी नहीं, पर आज तो धनका अपव्यय हो रहा है। अनावश्यक कार्योंमें, सिनेमाओंमें, विलासितामें धन नष्ट हो रहा है। सरकारने बेहद कर लगा दिये हैं और उत्तरोत्तर वे बढ़ते ही जा रहे हैं। मनुस्मृतिवाला विधान अब स्वप्नवत् हो गया है कि 'राजा अमुक अंशसे अधिक कर न लगाये', पर आज सबने आवश्यकता और अभाव बढ़ा लिये हैं और इसलिये सभीको पैसा चाहिये। राज्यको पैसा चाहिये, मन्त्रियों और अधिकारियोंको पैसा चाहिये, व्यापारियोंको पैसा चाहिये, सेवकोंको पैसा चाहिये, कांग्रेसको पैसा चाहिये और सभी संस्थाओंको पैसा चाहिये। बस, हम आज सर्वत्र सर्वथा अर्थके दास हो रहे हैं।

श्रीमद्भागवतको संगमरमरके पत्थरोंपर उत्कीर्ण करवाकर श्रीमद्भागवत-भवनमें प्रतिष्ठापित करनेकी जो योजना थी, उसका आज शुभारम्भ होने जा रहा है। इस भवनके शिलान्यासका कार्य मेरे द्वारा करवानेका जो गौरव इसके आयोजकोंने मुझे प्रदान किया है, इसके लिये मैं आभारी हूँ। यद्यपि मुझमें इस कार्यको सम्पादित करनेकी योग्यता या क्षमताका सर्वथा अभाव है, तथापि बड़ोंकी आज्ञाका पालन करनेके उद्देश्यसे ही संकोचपूर्वक मुझे इसके लिये स्वीकृति देनी पड़ी है। मैं समझता हूँ, आप सब लोगोंके सक्रिय सहयोगद्वारा और भगवान् श्रीकृष्णकी महती कृपासे ही यह कार्य अवश्य सुसम्पन्न होगा।

एकाध सज्जनका यह कहना है कि 'देशकी वर्तमान स्थितिमें इस प्रकारके भवनपर इतना व्यय करना उचित नहीं है।' वे जिस दृष्टिकोणसे कह रहे हैं, वह ठीक है, पर इसका एक विशेष महत्त्व है। श्रीमद्भागवतका एक बहुत अच्छा और शुद्ध पाठ लोगोंको दीर्घकालके लिये मिल जायगा। श्रीमद्भागवत भगवान् श्रीकृष्णका एक मूर्त विग्रह है, इसके दर्शनका सौभाग्य सबको हो जायगा। रही व्ययकी बात, सो आजकल विकासके नामपर नयी-नयी इमारतें बनानेमें जो असीम व्यय हो रहा है और जिसकी उपयोगिता भी संदिग्ध है, उसके सामने यह व्यय अति नगण्य है और इसकी उपयोगिता भी प्रत्यक्ष है। इस महान् कार्यमें जो कुछ व्यय होगा, वह दीर्घकालतक भगवद्भाव वितरण करता रहेगा।

इस शिलान्यासके प्रसङ्गमें यहाँ दो महान् आयोजन और हो रहे हैं—एक व्रजके तथा बाहरके सम्मान्य सैकड़ों विद्वानोंद्वारा श्रीमद्भागवतका सप्ताहपरायण और उसके साथ प्रसिद्ध भागवत-व्यास पं. श्रीनित्यानन्दजी भट्ट द्वारा सप्ताह-कथा और दूसरा प्रसिद्ध प्रेमी भागवत-व्यास पं. श्रीव्रजकिशोरजी मिश्र द्वारा होनेवाली भागवत-सप्ताह-कथा। लगभग तीन सौ पचास वर्ष पूर्व अत्याचारी औरंगजेबके द्वारा मन्दिरके ध्वंस किये जानेके बाद यही पहला अवसर है, जब इस पुण्य-भूमिमें व्रजके विद्वानोंद्वारा श्रीमद्भागवतका मङ्गल-पारायण हो रहा है। इस प्रकार भस्मीभूत-भूमिपर जो पवित्र सुधाधारा प्रवाहित हो रही है, इसके लिये इन अनुष्ठानोंके पुण्यभागी संयोजकोंका हम सभी हृदयसे अभिनन्दन करते हैं। योग्य न होनेपर भी मुझे आपलोगोंने इस महान् पुण्यमय 'भागवत-भवन'के शिलान्यासका सौभाग्य प्रदान किया, इसके लिये मैं हृदयसे कृतज्ञ हूँ।

बोलो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी जय!

दैन्य

सन् १९६५ की २१ फरवरीको सायंकाल ६ बजे वृन्दावन नगर पालिकाकी ओरसे श्रीभाईजीका अभिनन्दन किया गया। पूज्य श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी उस आयोजनके अध्यक्ष थे। नगरपालिकाके प्रधानने अपने भाषणमें भाईजीके विषयमें बहुत बातें कहीं। अन्तमें उन्होंने कहा– 'विनयकी मानो भाईजी मूर्ति हैं।' अध्यक्षके भाषणके पश्चात् भाईजीका भाषण हुआ। भाईजीने वन्दनाका श्लोक बोलकर कहा–

यहाँ उपस्थित आप सब व्रजवासी महानुभाव, जिनकी चरण-रजका लाभ लेनेका भी मैं अधिकारी नहीं, नीचे बैठे हैं और मैं यहाँ स्टेजपर बैठ गया हूँ– वर्तमान प्रथा ही ऐसी है। मैं यहाँ व्रजमें किसी भावको लेकर आता हूँ। मेरे लिये वृन्दावनका प्रत्येक परमाणु आदरणीय- वन्दनीय है।

मैंने 'अभिनन्दन-पत्र' प्रदान करने तथा स्वीकार करनेका विरोध किया है। सम्भव है, मेरी चेष्टा अधिक त्यागी महात्मा, जो जगत्के समस्त पदार्थोंका त्याग कर चुकते हैं, उनमें भी न कहनेपर, न चाहनेपर, अपितु मना करनेपर मान-बड़ाईकी अभिलाषा छिपे रूपमें रहती है। श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीके शब्द हैं– 'सम्मानं कलयातिघोरगरलं नीचापमानं सुधाम्।' मैंने अभिनन्दन-पत्रके लिये विरोध किया, इसके बदलेमें मानके और शब्द सुननेको मिले। इनसे चित्तमें प्रसन्नता नहीं हुई होगी, यह अन्तर्यामी प्रभु ही जानता है। आप सब आशीर्वाद दें– यह मान चाहनेका, बड़ाई चाहनेका मनोरथ आप सबके आशीर्वादसे दूर हो जाय तथा जैसे पुष्पोंकी माला पहननेमें सुख-प्रसन्नता होती है, वैसे ही जूतोंकी माला पहननेमें भी सुख-प्रसन्नताकी अनुभूति हो।

महाभारतकी कथा है, जिसका सार यह है– बड़ोंकी हत्या तलवारसे नहीं होती; बड़ोंके मुँहपर उनकी निन्दा कर देना उनकी हत्या है तथा अपने मुँह अपनी प्रशंसा करना या अपने कानोंसे अपनी प्रशंसा सुनना आत्महत्या है।

यदि मान-बड़ाईकी चर्चा सुनना मीठा न लगता तो पूजनीय श्रीब्रह्मचारीजी महाराज आज्ञा ही नहीं देते कि मैं चुपचाप सब स्वीकार करता रहूँ। वास्तवमें मेरी निर्बलता ही इसमें हेतु है।

आपलोगोंने जो कुछ पढ़कर सुनाया अथवा यों ही कहा, मैं उसे अपनी भावनाके अनुसार आशीर्वाद मानता हूँ। आप श्रीकृष्णके हैं।

गोरक्षा-आन्दोलन

गोरक्षाके लिये भाईजी पहलेसे ही सचेष्ट थे। सन् १९६६ के गोरक्षा-आन्दोलनमें उन्होंने सक्रिय भाग लिया। सभी महानुभवोंको एक मंचपर लाना तथा अर्थ-व्यवस्था करनेका श्रेय भाईजीको ही है। नीचे लिखे पत्रोंसे जानकारी प्राप्त होती है।

राष्ट्रपति डॉ. श्रीराजेन्द्रप्रसादजीको लिखा गया पत्र–

(३० जनवरी १९५३)

आपका २४ जनवरीका कृपापत्र मिला। आपने कृपापूर्वक मेरे पत्रका तत्काल स्वयं लम्बा पत्र लिखकर उत्तर दिया, इसके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ। मेरे प्रति चिरकालसे आपकी जो अहैतुकी प्रीति, शुद्ध सद्भावना तथा आत्मीयता है, इसके लिये मैं आपका सदा ही ऋणी हूँ। आपका सन्देश मैं ... ... महाराजके पास भेज रहा हूँ। वे क्या करेंगे, इसका निश्चित तो पता नहीं है, पर आशा है– वे फिलहाल आपकी बात मान लेंगे।

आपने पत्रमें जो कुछ विचार प्रकट किये हैं, वे सर्वथा स्तुत्य और विचारणीय है एवं उनके अनुसार गो-संवर्धन, नस्ल-सुधार, गो-सेवा होनी ही चाहिये। लोग छलसे कसाईके हाथ पगहा नहीं पकड़ाते और कसाई भी रुपये जमीनपर रख देता है– इस प्रकार कपटसे आँख बचाकर स्वार्थवश गोवध हो या कराया जाय, इसमें सन्तोष माननेकी तो कल्पना ही नहीं है, यह तो प्रत्यक्ष गोहत्या है– महापाप है, यह बन्द होनी ही चाहिये।

परन्तु साथ ही कानूनन सर्वथा गोवध बन्द भी होना ही चाहिये। इसके बिना अच्छी गायोंका कटना बन्द नहीं होगा। आपसे कई बार पहले भी बात हो चुकी है और आपने इस बातको स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया था। किन्तु आप आवश्यकतासे अधिक साधु हैं, इसलिये स्पष्टवादी होनेपर भी कहीं-कहीं मित्रों तथा साथियोंके मनके विरुद्ध या सरकारकी नीतिके विपरीत कोई बात कहनेमें हिचक जाते हैं। अतएव मेरी यह विनीत प्रार्थना है कि अब आपको साहसके साथ अपने मनकी बात स्पष्ट कर देनी चाहिये कि 'सरकारको कानूनन सर्वथा गोवध बन्द करना होगा।' और इसके लिये उचित प्रयत्न भी करना चाहिये।

आशा है, मेरी प्रार्थनापर आप ध्यान देंगे और मैं धृष्टतापूर्ण जो शब्द लिख गया हूँ, यद्यपि आप जानते हैं कि ये सत्य हैं, उसके लिये मुझे कृपया क्षमा करेंगे। आप स्वस्थ और सानन्द होंगे।

शेष भगवत्कृपा।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघके तत्कालीन सरसंघ-चालक श्रीमाधवराव सदाशिव गोलवलकरको लिखा गया पत्र—

गीताभवन, स्वर्गाश्रम
३ जुलाई १९६६

पूज्य गुरुजी,

सादर नमस्कार। आप स्वस्थ और सानन्द होंगे। इधर ऐसा निश्चय किया गया है कि गोहत्या सम्पूर्ण रूपसे बन्द हो जाय— इसके लिये सब लोग मिलकर प्रयत्न करें। अभी कुछ दिन पूर्व स्वामी श्रीकरपात्रीजी और ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी यहाँ पधारे थे। उन्होंने मिलकर काम करना स्वीकार किया है और साथ ही उन्होंने तथा और लोगोंने भी एक विज्ञप्तिपर हस्ताक्षर किये हैं। आशा है, यह कार्य सफलताके साथ सम्पादित होगा, पर इस आन्दोलनमें प्राण तभी आ सकेंगे, जब आप स्वयं सक्रिय रूपसे भाग लेंगे। गोहत्या भारतका कलंक है और जल्दी-से-जल्दी दूर हो— ऐसी सभीकी सदिच्छा है। आप तो कई बार सक्रिय भाग ले चुके हैं और अब भी आप साथ ही हैं। मेरी आपसे यह साग्रह विनीत प्रार्थना है कि आप इस गोरक्षा-आन्दोलनमें सक्रिय सहयोग देनेकी कृपा करें। ... ...

आपका
हनुमानप्रसाद पोद्दार

गोरक्षा आन्दोलनमें सम्मिलित होनेका कारण बताते हुए भाईजी लिखते हैं—

सम्मान्य महोदय,

सादर प्रणाम। आपका आवश्यक और मेरे हितकी दृष्टिसे लिखा आत्मीयतापूर्ण पत्र मिला। आपकी इस सद्भावना और प्रीतिके लिये कृतज्ञ हूँ। आपके प्रश्न तो बहुत लम्बे हैं, अतः प्रश्न न लिखकर संक्षेपमें उत्तर लिख दे

रहा हूँ, क्षमा कीजियेगा। मैं नहीं जानता कि मेरे इन उत्तरोंसे आपको संतोष होगा या नहीं, पर मैं अपने मनकी बात इस पत्रके द्वारा किसी अंशमें प्रकट कर सकूँगा।

यदि देश और विश्वको जल्दी ही प्रलयका शिकार नहीं होना है तो गोहत्या बन्द होगी ही और सारे विश्वमें जहाँ-जहाँ गोहत्या होती है, बन्द होनी ही चाहिये। इस आन्दोलनके फलस्वरूप भी गोहत्या बन्द होनी चाहिये, क्योंकि यह विश्वकी रक्षाके लिए आवश्यक है। परन्तु मुझे इस आन्दोलनके फलकी कोई चिन्ता नहीं है, न उसमें आसक्ति है। भगवान जब जिस प्रकारकी बुद्धि दें, किसीका भी बुरा न चाहते हुए भगवत्पूजाके भावसे सावधानीके साथ उस बुद्धिके अनुसार कार्य करना चाहिये। न तो कार्यके पूर्ण होनेमें आसक्ति होनी चाहिये और न कार्यके अनुकूल फलमें आसक्ति होनी चाहिये। घरमें आग न लगे, सावधानी रखनी चाहिये; आग लग जाय तो बुझानेका प्रयत्न करना चाहिये। बस, अपना आप काम हो गया। घर जलना होगा तो जलेगा ही, इसके लिये चिन्ताकी आवश्यकता नहीं।

असलमें साधक मनुष्यको कर्मासक्ति तथा कर्म-फलासक्ति न रखते हुए जैसे नाटय-मञ्चपर कुशल अभिनेता अपने स्वांगके अनुसार अपना अभिनय नाटकके स्वामीकी प्रसन्नताके लिये कुशलताके साथ करता है, वैसे ही, भगवत्प्रीत्यर्थ अपने कर्तव्यका सम्पादन करना चाहिये।

मुसलमान-ईसाइयोंसे मेरा तनिक भी द्वेष नहीं है। कई मुसलमान भाई-बहन ऐसे हैं, जो मुझे अपने सगे भाईसे बढ़कर प्यार करते हैं। बहुत-से ईसाई मेरे मित्र हैं। वस्तुतः मनुष्य ही नहीं, चेतन पशु-पक्षी-तिर्यक जीव ही नहीं– जड़-पृथ्वी, जल-अग्नि-वायु-आकाश, समुद्र-नदी, वृक्ष-लता, गिरि-पर्वत, दिशा-विदिशा, सभीको मैं भगवत्स्वरूप मानना और देखना चाहता हूँ।

आप आध्यात्मिक दृष्टिसे पूछ रहे हैं इसलिए मैं भी चेष्टा करता हूँ कि उसी दृष्टिसे उत्तर लिखूँ। भगवान्‌की दृष्टिसे चराचर अनन्त विश्व केवल भगवान्‌की ही अभिव्यक्ति है। जड़, चेतन सभीके रूपमें भगवान् प्रकट हैं। सबमें भगवान्‌का दर्शन करते हुए यथायोग्य अपने कर्मके द्वारा भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये और पूजा करनेवाले तथा पूज्यमें भी कोई भेद नहीं रहना चाहिये। भक्तकी दृष्टिसे इतना भेद अवश्य रहेगा कि भक्त पूजा करनेवाला है

और अखिल विश्वके रूपमें भगवान् उसके पूज्य हैं। किसीसे वैर-विरोध और द्रोह-हिंसाका तो कोई प्रश्न ही नहीं। पूजामें त्रुटि न आने पाये, यह ध्यान अवश्य होगा।

आत्माकी दृष्टिसे सब आत्मा है। जैसे एक ही शरीरके सारे अंग-पैरसे लेकर मस्तकतक सब हमी हैं। कहीं भी चोट लगे, हमें लगती है, उसी प्रकार समष्टि आत्मा ही अभीष्ट जगत् है। इस अवस्थामें किसीका बुरा चाहना और करना बन ही नहीं सकता।

इस आन्दोलनमें सम्मिलित होनेके कारणोंमें प्रधान कारण तो है भगवदिच्छा। मैंने स्वयं इच्छा भी नहीं की थी और प्रयत्न भी नहीं किया, अनायास ही इस प्रकारके कारण बनते गये कि मैं इसमें सम्मिलित हो गया और अब इसमें सम्मिलित होना मुझे कर्तव्य भी जान पड़ता है। अनशनकी बात मैंने किसीसे कही नहीं, पर जिन महात्माओंका इसमें सात्त्विक विश्वास है, उनको रोकनेवाला मैं कौन होता हूँ? मैंने किसीको रोका भी नहीं। अपने यहाँ लोकोपकारार्थ प्राण-दान करनेका, सर्वस्व-त्यागका विधान है और वह परम पवित्र है। वह आत्महत्या नहीं, तपस्या है और यथाधिकार कर्तव्य है, पर मैं वृद्ध, शरीरसे अस्वस्थ– मैंने अनशनका न कभी विचार किया और न अब भी मेरा विचार है।

यह बात लोग कह सकते हैं और लोगोंके द्वारा कही भी गयी है कि प्रदर्शनकारी लोग गायको बचानेका नाम लेकर गये थे और उन्होंने मनुष्योंकी हत्या करवा दी। मनुष्योंकी हत्याएँ हुईं, यह सत्य है। प्रत्येक वस्तुको आदमी अपनी-अपनी आँखसे देखते है, पर भ्रम भी होता है। यह भ्रम ही तो है कि हमलोग भगवद्रूप जगत्को भगवान्से भिन्न मान रहे हैं। इतना बड़ा भ्रम जब रह सकता है, तब प्रदर्शनकारियोंको मनुष्योंकी हत्या करनेमें कारण समझनेका भ्रम होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं, पर सत्य कुछ और ही है। मैं स्वयं ७ (नवम्बर १९६६) तारीखके प्रदर्शनमें था। मैंने देखा है, सुना है, समझा है और उसके आधारपर निर्भ्रान्त रूपसे कह सकता हूँ कि 'मनुष्योंकी हत्या करनेका आरोप प्रदर्शनके संचालकोंपर लगाना मिथ्या तो है ही, सर्वथा पाप है!' मनुष्योंकी हत्या हुई, कुछ मकानोंके अंश भी जले और टूटे-फूटे, कुछ मोटरें भी जलीं, पर यह काम किसके द्वारा हुआ, इसको वास्तवमें भगवान् ही

जानते हैं, पर हुआ यह उन्हीं आसुरी सम्पदाके आश्रयी दुष्कृत लोगोंके द्वारा, उन्हीं मूर्खोंके द्वारा, जो अपना भविष्य नहीं सोचते और दूसरोंके अमंगलमें ही जिनको सुख मिलता है। वे कोई हों, भगवान् उनको सुबुद्धि दें, उनपर दया करें!

आपके कई प्रश्न मैं छोड़ देता हूँ। अन्तिम प्रश्नका उत्तर यह है कि मेरी समझसे इस हिंसा-काण्डको लेकर आन्दोलनको बन्द करनेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इस आन्दोलनके संचालक विशुद्ध शान्ति और अहिंसाको चाहनेवाले रहें; अहिंसा, प्रेम, शान्ति और आत्मभावनाको और भी बढ़ायें, सबका मंगल चाहें, मंगल करें और समस्त देशवासियोंका आवाहन करें कि लोग तनसे, मनसे, धनसे— जो जिस योग्य हों, इस महान् पुण्यकार्यमें योग दें। भगवान् हमारे वर्तमान शासकोंको भी सुबुद्धि प्रदान करें, जिससे उनके अन्दर भी सौहार्द प्रकट हो, वे करोड़ों देशवासियोंकी अन्तर्व्यथा समझकर उसे मिटानेके लिये शीघ्रसे शीघ्र सम्पूर्ण गोवंशकी हत्याको कानूनन बन्द कर दें। आवश्यक हो तो विधानमें भी संशोधन किया जाय। साथ ही गो-पालन और गो-संवर्द्धनकी व्यवस्था भी की जाय। भगवान्‌की कृपा, भगवान्‌के मंगलविधान, सबमें एक भगवान् विद्यमान हैं —इस बातपर विश्वास रखते हुए जबतक गोहत्या सम्पूर्णतया बन्द न हो, शान्तिपूर्ण वैध साधनोंके द्वारा आन्दोलनका क्रम जारी रहना चाहिये और समस्त देशमें इसका विस्तार होना चाहिये।

शेष भगवत्कृपा।

* * * *

सम्मान्य महोदय,

सादर प्रणाम! आपका अत्यन्त सौजन्य तथा स्नेहसे पूर्ण दूसरा लम्बा पत्र मिला। आपकी अयाचित स्नेहभावनाके सामने मैं नतमस्तक हूँ। आपके कुछ प्रश्नोंका संक्षिप्त उत्तर नीचे लिख रहा हूँ।

आपके कृपापात्रके पहले लम्बे अंशका इतना ही उत्तर है। अब आप कृपया इस विषयको यही छोड़ दें – यह प्रार्थना है, क्योंकि अब इस विषयपर कुछ कहने-लिखनेका विचार नहीं है।

गोरक्षा-आन्दोलनसे सरकारका मन अभीतक नहीं बदला, यह सत्य है। हो सकता है– आन्दोलनकारियोंका मानस सर्वथा शुद्ध न हो। यह भी पता नहीं कि भगवान्‌की मंगलमयी लीला अब किस रूपमें आत्म-प्रकाश करना चाहती है। प्रलय भी तो उनकी लीला ही है। गौकी रक्षापर सरकारके उच्चस्तरीय लोग सहानुभूतिसे विचार करते तो निश्चय ही विश्वको बड़ा भौतिक, कुछ अधिदैविक तथा किसी अंशमें आध्यात्मिक लाभ भी अवश्य होता। पर शायद ऐसा नहीं होना होगा। भगवान् सबको सुबुद्धि दें, सबका मङ्गल करें!

आचार्यों-सन्तोंका अनशन अभीतक तो चल रहा है। कबतक चलेगा, उनके प्राण छूट जायेंगे, वे अनशनका त्याग कर देंगे, समझौता हो जायगा या और कुछ होगा –कुछ पता नहीं। इस विषयमें भविष्यकी बात न मैं जानता हूँ, न जाननेकी आवश्यकता ही है। कुछ महानुभव अनशन त्याग करानेकी चेष्टा कर रहे हैं– सच्ची हितभावनासे और गोवंशकी रक्षा तथा सन्तोंके हेतुसे ही। वे नैतिक दृष्टिसे अपने तर्कोंके द्वारा कुछ समयके लिये अनशन और आन्दोलन स्थगित करनेका प्रस्ताव करते हैं। उधर आध्यात्मिक दृष्टिकोणवालोंको इसके विपरीत दूसरी ही बात समझमें आती है और मुझे भी वही ठीक मालूम होती है। भगवान्‌के मङ्गलम विधानके अनुसार जो होना होगा, होगा ही; उसकी चिन्ता नहीं है। चिन्ता है लीलामयके लीलासंकेतका अनुसरण करनेमें अहंकारके बाधक होनेकी।

मेरी पुनः भगवान्‌से यही प्रार्थना है कि वे सबको बुद्धि दें, जिससे उनके मन भगवान्‌के सेवन-भजनमें लगे और सब यथार्थ कल्याण तथा परम शान्ति सुखके भागी हों–

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

शेष भगवत्कृपा।

* * * *

दिल्लीमें साधु-संन्यासियोंपर पुलिसद्वारा किये गये लाठीचार्जकी निन्दा करते हुए भाईजीने लिखा—

'गोहत्याके निषेधके लिये गत ७ नवम्बर (सन् १९६६) को दिल्लीमें देशके सभी सम्प्रदायोंके लाखों मनुष्योंके द्वारा किये गये प्रदर्शनके नामपर समाज-विरोधी तत्त्वोंने जो तोड़-फोड़, आगजनीके पापपूर्ण कृत्य किये और पुलिसने निर्दोष, निरीह जनता तथा साधु-सन्तोंपर लाठी, गैस, गोली बरसाकर जो अनुचित कार्य किया है, वह बड़े ही दुःखकी बात है। इससे गोहत्या-बन्दीके शान्तिपूर्ण पवित्र कार्यमें एक बड़ी बाधा आ गई है। कुछ लोग, 'प्रदर्शनकारियोंके द्वारा यह कुकृत्य किया गया' —इस भ्रममें पड़ गये। अब असली चीज सामने आ रही है। ··· ··· ···

हर्षकी बात है कि अहिंसामय सत्याग्रह चलाया जा रहा है। हिन्दू समाजके प्रसिद्ध सन्त प्रभुदत्तजीने और गोवर्धनपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजीने तथा कई सन्तोंने आमरण-अनशन-व्रत आरम्भ कर दिया है। कुछ सन्त पहलेसे ही अनशन कर रहे हैं।

केन्द्रीय सरकारसे मेरा सविनय-सादर निवेदन है कि वह आग्रह छोड़कर करोड़ों-करोड़ों देशवासियोंकी न्यायसंगत माँगको तुरन्त स्वीकार करके, भारतके संविधानमें परिवर्तन करके ऐसा कानून बना दे, जिससे सम्पूर्ण रूपसे गोवंशकी हत्या भारतमें सर्वत्र-सदाके लिये बन्द हो जाय। स्वराज्यसे पूर्व लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी आदिके द्वारा वचन दिया हुआ है कि स्वराज्य मिलते ही गोहत्या बन्द हो जायगी। उस वचनको पूरा करें।'

* * * *

गोरक्षा-आन्दोलनकी जानकारी देते हुए भाईजीने लिखा—

गोरक्षा-आन्दोलन चल रहा है, यद्यपि उसमें अभी सफलता नहीं मिली है। भगवान्‌की कृपासे इस बार समस्त देशमें जो महान् जागृति हुई, गोमाताकी रक्षाके लिये देशभरके नर-नारियोंमें त्याग-तपस्याकी जो महान् तीव्र धारा बह चली, वह सर्वथा आदर्श तथा आदरणीय है। इस विषयमें 'कल्याण'में प्रकाशित लेखों तथा अपीलोंको पढ़कर हमारे 'कल्याण'के सम्मान्य

पाठक-पाठिकाओंने बहुत बड़ा कार्य किया और वे अब भी कर रहे हैं। हजारों-लाखों नर-नारियोंने भगवान्‌की आराधना-प्रार्थना की, अपने-अपने विश्वास तथा रुचिके अनुसार देवाराधन किया। वैदिक यज्ञ, वेदपारायण, रुद्राभिषेक, गायत्री-पुरश्चरण, दुर्गा-अनुष्ठान, वाल्मीकि-रामायण-पारायण, मानस-पारायण, विष्णु-आराधन, शिवाराधन, अखण्ड-नामकीर्तन, करोड़ों-अरबोंकी संख्यामें भगवन्नाम-जप, सामूहिक यज्ञ-यागादि, विभिन्न धर्मानुसार विविध अनुष्ठान आदि हुए तथा अब भी हो रहे हैं। लाखों-लाखों हस्ताक्षर गोहत्या-बन्दीके लिये कराये गये। हजारों सभाएँ हुईं। संभ्रान्त घरोंकी ऐसी महिलाएँ, जिनका कभी किसी राजनीतिसे सम्बन्ध नहीं रहा, जिन्होंने जेलकी कल्पना भी नहीं की, गोमाताकी रक्षाके लिये प्रसन्नताके साथ जेल गयीं। हजारों साधु-महात्मा, विभिन्न सम्प्रदायोंके वैष्णव, शैव, वैरागी और सद्‌गृहस्थ जेलोंमें गये तथा अब भी जा रहे हैं। जगह-जगह समितियाँ बनीं। दिल्लीमें दस लाख नर-नारियोंकी अपूर्व ऐतिहासिक शोभायात्रा निकली—यद्यपि उसे बदनाम करनेके लिये जान-बूझकर उपद्रव कराये गये, बहुत-से निर्दोष लोगोंके प्राण गये, कितने ही घायल हुए तथा बहुत-से लोग मुकदमोंमें फँसाये गये। कवियों तथा लेखकोंने गोमाताकी रक्षाके लिये कविता और लेख लिखे, वक्ताओंने भाषण दिये और अपनी-अपनी हैसियतके अनुसार लोगोंने पैसे दिये। हमारे पास इतने अधिक पत्र आये तथा आ रहे हैं कि हम चाहनेपर भी उन सबके उत्तर नहीं लिख सके, इसके लिये हम उन सबसे हाथ जोड़कर क्षमा-प्रार्थना करते हैं।

'कल्याण'की प्रार्थना तथा प्रेरणापर लाखों-लाखों देशवासियोंने जो विलक्षण कार्य किया है, उसे हम भगवान्‌की कृपा समझते हैं और समझते हैं उन देशवासियोंका हमारे प्रति अनन्त उपकार। इसके लिये हम उन सबके हृदयसे कृतज्ञ हैं। वास्तवमें 'कल्याण'के सारे पाठक-पाठिकागण भगवान्‌की सेवाके लिये ही एक स्वयंनिर्मित 'कल्याण-परिवार'के ही सदस्य हैं; जो इस प्रकार समय-समयपर धर्मसेवाके द्वारा भगवत्सेवाके पवित्र कार्यमें सहर्ष सहयोग देते-दिलाते हैं। यह बड़े ही गौरव तथा संतोषका विषय है।

पूज्यपाद जगद्‌गुरु अनन्तश्रीशंकराचार्यजी तथा पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्तजीके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा गया है, वह यथार्थ है। मनुष्य बिना मृत्युकालके मरता नहीं और मृत्युकाल आनेपर बचता नहीं। यदि किसीकी मृत्युमें निमित्त

महान् गौरवयुक्त हो, धर्मयुक्त हो; भगवदर्थ-धर्मरक्षार्थ किसीके प्राण विसर्जित होते हों तो वह बहुत बड़ा सौभाग्य है तथा आदर्श तो है ही। मेरा परमपूज्य आचार्यजी तथा ब्रह्मचारीजीके जीवनसे मोह है तथा मैं इनके जीवनसे देश तथा धर्मका बड़ा लाभ मानता हूँ, इससे मैं निश्चय ही यह चाहता था कि इनके जीवनकी रक्षा हो। ये जब अनशन-व्रत करनेको प्रस्तुत हुए थे, उस समय भी मेरा मन सर्वथा अनुकूल नहीं था। पर जब व्रत ले लिया गया, तब इनकी जीवन-रक्षाके साथ ही इनके जीवनके व्रतकी रक्षाका प्रंश्न, जीवन-रक्षाके प्रश्नसे भी अधिक महत्त्वकी वस्तु हो गया। इसीसे मैं चाहता था कि इनकी जीवन-रक्षा तो हो, पर वह हो इनके वचनानुसार सरकारके द्वारा सम्पूर्ण गोवंशकी रक्षा होनेपर ही, कम-से-कम सम्पूर्ण गोवंशकी रक्षाके लिये कानून बनाने या सिद्धान्तको मान लेनेका पूर्ण आश्वासन मिलनेपर ही। दुःखकी बात है कि वैसा नहीं हुआ। ये महात्मा हैं, संत-हृदय हैं, शुद्ध-मानस हैं, राजनीतिके दाँवपेच भला क्यों जानने लगे? राजनीतिज्ञोंकी कूटनीति सफल हो गयी। इन्हें समझा दिया गया कि 'जो कुछ सरकारने लिखा है, उससे अधिक सरकार लिख नहीं सकती, इसमें आंशिक आश्वासन है ही। आपका उद्देश्य सफल हो रहा है' आदि-आदि। और इनके द्वारा समितिके आदेशसे अनशन-व्रत स्थगित हो गया। इसमें भी मैं किन्हींकी नीयतपर दोषारोपण नहीं करता। उस समय जिनको जैसी बुद्धि उपजी, अच्छी नीयतसे उनके द्वारा वैसा ही कार्य किया गया, पर इससे एक बार देशपर बहुत बुरा असर पड़ा। मेरे पास बहुत पत्र इस आशयके आये हैं, पर हुआ वही, जो होना था। पूज्यपाद जगद्गुरु महाराजका मन अब भी वैसा ही है। ऐसा सुना गया है कि उन्होंने बड़ी कठिनतासे अनशन स्थगित करना स्वीकार किया था और अब भी बड़े उत्साहके साथ वे हर तरहसे गोमाताकी रक्षाके लिये प्रयत्न करनेको प्रस्तुत हैं। अभी बम्बईमें उनके बहुत ही उत्साह तथा आशापूर्ण प्रवचन हुए हैं। सत्याग्रह भी चल रही रहा है। महीनोंसे चल रहे इस सत्याग्रहमें सभीने उत्साहसे भाग लिया है। भारतके विभिन्न सम्प्रदायके साधु सत्याग्रहमें आये और आ रहे हैं। वैष्णव-सम्प्रदायके भक्तगण आ रहे हैं। श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायके पूज्य आचार्य तथा श्रीवल्लभ-सम्प्रदायके पूज्य आचार्य महोदयोंने बड़े उत्साहसे सब प्रकारसे योगदान देनेकी इच्छा प्रकट की है और वे बहुत दिनोंसे हजारों-हजारों भक्तोंके साथ प्रस्तुत हैं। सनातनधर्म-प्रतिनिधि-सभाके

पूज्य स्वामी श्रीगणेशानन्दजी महाराजके लोग साथ हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, जनसंघ तथा आर्यसमाजने बड़ी सहायता की है तथा कर रहे हैं। हिन्दू-महासभा, जैन-समाज भी साथ हैं। और भी जगह-जगहसे ऐसे समाचार मिले हैं तथा मिल रहे हैं जो बड़े ही उत्साहप्रद हैं। इसलिये जनतामें शिथिलता आनेकी बात सोचना वस्तुतः भूल है। हमलोग अपने मनकी शिथिलता जनतापर लादकर आन्दोलनमें शिथिलता ला दें — यह दूसरी बात है।

फिर एक प्रश्न यह भी है कि लाखों देशवासियोंने जो त्याग-तपस्या की है, भगवदाराधन और देवाराधन की है तथा वे अब भी जो कर रहे हैं, क्या वह निष्फल होगी? प्रत्येक कर्मका अदृष्ट फल तो होता ही है, दृष्ट भी होगा। हमें ऐसा विश्वास करना चाहिये कि सम्पूर्ण गोवंशकी हत्या कानूनसे बन्द होगी, गोपालन और गोरक्षणकी भी समुचित व्यवस्था होगी और इस विश्वासके साथ-साथ दोनों ही कार्योंके लिये हमें यथाशक्ति यथासाध्य प्रयत्नशील बने रहना चाहिये।

यह सत्य है कि सरकारने न तो गोहत्यापर सम्पूर्ण प्रतिबन्ध लगानेके सिद्धान्तको स्वीकार किया है, न संविधानमें परिवर्तनकी बातको माना है, न किसी प्रकार भी वह कहीं वचनबद्ध ही हुई है; पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि भविष्यकी सरकारका भी यही दुराग्रह रहेगा। भगवान् सबको सुबुद्धि दें। हमें आशा करनी चाहिये कि अगली सरकार सम्पूर्ण गोवंशकी हत्या पूर्णतया बन्द करनेके लिये कानून बनायेगी तथा गो-पालन एवं गोरक्षण-गोसंवर्धनकी भी समुचित व्यवस्था होगी।

फिर असल बात तो यह है कि हमें पल-पलमें फलका अनुसंधान न करते हुए प्रतिपल कर्तव्य-पालनके द्वारा भगवत्पूजनमें लगे रहना है। हमें तो फल मिल ही गया, यदि हमारे द्वारा सचमुच शुभ स्वकर्म-सम्पादनरूप भगवत्पूजा हो गयी। अतएव अहंकार, ममता, कामना तथा राग-द्वेषसे बचते हुए भगवत्पूजाके भावसे प्राप्त-कर्तव्यका पालन करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। यही परम फल है। गोरक्षा तो वस्तुतः भगवान् ही करेंगे। हम तो निमित्तमात्र भले ही हों।

* * * *

अनुभूतियों एवं दिव्य स्थितिका पदोंमें विवरण

यह निर्विवाद रूपसे कहा जा सकता है कि भाईजीने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियोंका जितना स्पष्ट एवं विस्तृत विवरण पदोंमें दिया है, उतना गद्यमें नहीं लिखा। किंचित् गहराईमें उतरकर देखा जाय तो 'पद-रत्नाकर'के अनेकानेक पदोंमें उनकी विभिन्न आध्यात्मिक उपलब्धियोंके चित्र हैं।

श्रीभाईजीको सर्वप्रथम भगवान् श्रीविष्णुके साक्षात् दर्शन जसीडीहमें आश्विन कृष्ण ६, शुक्रवार, वि. सं. १९८४ (१६ सितम्बर १९२७) को पन्द्रह-बीस महानुभवोंकी उपस्थितिमें हुए थे। यह आध्यात्मिक जगत्की एक अलौकिक घटना थी। उनके हृदयका वह प्रथम दर्शनोल्लास वाणीके रूपमें प्रकट हो गया और उसने एक पदका रूप ले लिया—

जन्म-जन्मसे लगी हुई थी जिनके दर्शनकी आशा।
रूप-सुधा-वारिधि-अवगाहन की जिसके थी अभिलाषा॥

जिसने अपने मिलनेकी व्याकुलता भर दी थी मनमें।
विरहानल था धधक उठा, जिससे उसके सारे तनमें॥

यह साधन-विहीन था, कारण किंतु एक बलवान अपार।
निश्चित ब्रह्मरूप गुरुवर की, थी अनुकम्पा पारावार॥

उनकी प्रेम-रज्जुसे हरि को बँधना पड़ा स्वयं तत्काल।
रखनी पड़ी अभय करने को, नतमस्तकपर भुजा विशाल॥

कोमल कर-स्पर्शसे जन को निर्भय नित्य पड़ा करना।
चरण स्पर्श, अभय वाणी, मधुर प्रसादसे दुख हरना॥

भाग्यवती जिन आँखोंने वह देखी रूप-छटा अनुपम।
तृप्त हो गयी, नहीं बता सकती, हैं वर्णनमें अक्षम॥

रुकी लेखनी, बन्द हो गयी, चलता नहीं हाथ आगे।
क्षमा कीजिये प्रेमी पाठक, सरल पाठिका सद्भागे॥

(पद-रत्नाकर, पद-सं. ८५८)

उसके बाद तो श्रीकृष्ण उन्हें प्रियतमरूपसे मिल गये और जीवनकी सारी साध पूरी हो गई, जिसे उन्होंने स्वयं स्पष्ट स्वीकार किया है–

मिले मधुर मुझको, मेरे हो, मेरे वे प्रियतम भगवान्।
पूरी हुई साध जीवनकी, पूरे हुए सभी अरमान।।
बुझी सभी विषकी ज्वाला, कर रूप-सुधा-रसका मधुपान।
हुई विकीर्ण किरण शुचितकी दिव्याभामय परम महान।।
छाया अति शीतल प्रकाश सर्वत्र मिटा सब तम-अज्ञान।
दिखने लगे श्यामसुन्दर मनमोहन अब सर्वत्र समान।।

(पद-रत्नाकर, पद सं. १२१७)

इसके पश्चात् श्रीकृष्ण उन्हें अनावरण रूपमें दिखाई देने लगे, जिससे वे निहाल ही हो गये–

कर दिया प्रभुने मुझे निहाल। हटा आवरण, कटा जंजाल।
दीखते अनावरण नंदलाल। बजाते मुरली मधुर रसाल।।
सर्वपर, सर्व सर्व-अधिराज। एक ही, दो बन रहे विराज।
देख मैं महाभाव-रसराज। हो गया सफल, मिटे सब काज।।

(पद-रत्नाकर, पद सं. ११२६)

काव्य-रचनाकी पृष्ठभूमि

सन् १९५६ में तीर्थयात्रासे लौटनेके पश्चात् भाईजी कई मास बहुत अस्वस्थ रहे। उस अवस्थताकी स्थितिमें उन्होंने व्रजरस-सम्बन्धी तथा दैन्यभावके कुछ पदोंकी रचना की थी। सन् १९५८ में स्वजनोंके आग्रहसे उन पदोंको एक पुस्तिकाके रूपमें मुद्रित कराया गया। उसकी भूमिकाके रूपमें भाईजीने जो शब्द लिखे थे, वे नीचे दिये जा रहे हैं। यह भूमिका कम्पोज हो चुकी थी, पर पीछे भाईजीने इसे रोक लिया दूसरी साधारण भूमिका लिखकर उसमें दे दी। श्रीराधाकृष्ण-लीला-सम्बन्धी पद इसी स्थितिमें लिखे गये हैं। पाठक स्वयं उन पदोंके महत्वका अनुमान लगावें–

''मङ्गलमय भगवान् अनन्त कृपासिन्धु हैं। उन्होंने कृपा करके

मङ्गलमय रोग भेजा। महीनों बिछौनेपर पड़े रहना पड़ा। डाक्टर-वैद्योंने सम्मति दी– 'पूर्ण एकान्तमें पूरे आरामसे रहना चाहिये; लोग मिलने-जुलने न पायें, कोई काम न करने दिया जाय।' अतः लोगोंका मिलना-जुलना प्रायः बंद हो गया। काम रहा नहीं। सहज ही अधिक समय अकेले रहनेका सुअवसर मिल गया। चिकित्सा-औषध-पथ्यादिके समयको छोड़कर शेष समय अकेला ही बंद कमरेमें रहता। अकेलेमें रोगका चिन्तन न करके मन दूसरे काममें लगता। वह काम था– आत्मनिरीक्षण और आत्मपरीक्षण। जीवनके सभी तरहके चित्र आते– लोग बड़ा संत, भक्त या महात्मा मानते हैं। ओह, कितना बड़ा धोखा है। जीवनमें कितनी अपार दुर्बलताएँ हैं, कितनी मलिनताएँ हैं और कितने दोष-कलुष भरे हैं।' यह सब देखकर हृदय भर आता, सहज दैन्यभावका उदय होता। आँखोंमें आँसू छलक आते; मन दयासागर, अकारण कृपालु, सहज सुहृद् पतितपावनके पवित्र पादपद्मोंमें लोट जाता एवं बार-बार करुणापूर्ण भावसे अपने दोष बता-बताकर अपनी अत्यन्त दीन दशाकी ओर दीनबन्धुकी दयादृष्टिको आकर्षित करता। कभी स्वयं ही अपनेको प्रबोध देने लगता।''

''इसी बीच मन्द-मन्द मुस्कराते हुए विश्व-जन-मन-मोहन अनन्त आनन्दाम्बुधि श्रीश्यामसुन्दर आते– हँसकर सिरपर वरद हस्त रखकर कहते– 'मूर्ख, क्यों रो रहा है? क्यों दीन-हीन बनकर दुःखी हो रहा है? चल, मेरे साथ व्रजमें; देख वहाँ मेरी दिव्य लीला और परमानन्द-सागरमें निमग्न हो जा।' श्रीश्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन आनन्द-कंदकी मधुरतम वाणी सुनते ही मनका दैन्य भाग जाता। मन मन्त्रमुग्धकी भाँति उसी क्षण चल पड़ता उनके पीछे-पीछे। वे उसे परमरम्य क्षेत्रमें छोड़कर चले जाते और लग जाते अपने लीलाविहारमें।''

मन स्वच्छन्द विचरण करता– कभी नन्दबाबाके आँगनेमें, कभी यशोदा मैयाके प्राङ्गणमें, कभी गोष्ठमें, कभी सखाओंके हास्य-विनोदमें, कभी वनसे लौटकर आवनीमें, कभी कालिन्दीके कूलपर, कभी रामण्डलमें, कभी प्रेममयी गोपाङ्गनाओंके समुदायमें, कभी अकेली गोपीके घरमें, कभी किसी अकेली सखीके मनमें, कभी सखियोंकी मधुर प्रेमचर्चामें, कभी वंशीवटपर, कभी रासमण्डलमें, कभी श्रावणके झूलोंमें, कभी शारदीय झूलोंमें, कभी

होलीके रंगमें, कभी नव प्रफुल्लित कुसुम-सौरभित वृन्दा-काननमें, कभी श्रीमतीके पास, कभी श्रीश्यामसुन्दरके पास, कभी निभृत निकुञ्जोंमें, कभी किशोर-किशोरीकी लीला-विहारस्थलीमें, कभी उनके परस्पर होनेवाले मधुरतम उच्च प्रेमालापोंमें, कभी उद्धव-गोपी-मिलनमें, कभी मथुरामें होनेवाले श्रीकृष्ण-उद्धव-मिलनमें, कभी मथुरा जानेके पश्चात् राधा तथा गोपाङ्गनाओंकी प्रेमविरह-दशामें– इस प्रकार प्रतिदिन-दिनरात महीनोंतक यह दैन्य और लीला-दर्शनका प्रवाह अबाध चलता रहा। मनने शत-शत विविध विचित्र लीलाएँ एवं श्रीराधाकृष्णकी अनूप रूप-माधुरी देखीं, समझी और किसी-किसी लीलामें सम्मिलित होनेका सौभाग्य प्राप्त किया। कभी-कभी सौन्दर्य-सुधासागरमें जाकर अपने-आपको खो दिया। वहाँ जो देखा, वह सर्वथा अलौकिक, दिव्य, मन-वाणीसे अतीत था, अत्यन्त विलक्षण था। उसका पूर्ण वर्णन सम्भव नहीं है। उसके लिये शब्द नहीं हैं। परंतु जितना कुछ शब्दोंमें आ सकता था, उसके बहुत ही थोड़े अंशका तथा दैन्यभावका स्थितिमें प्रकट मनके बहुत ही थोड़े-से उद्गारोंका इन तुकबंदियोंमें चित्रण करनेका प्रयास किया गया है।''

* * * *

उनकी स्थिति केवल दर्शन एवं वार्तालापतक ही सीमित नहीं रही, आगे चलकर तो वे स्वयं श्रीराधाकृष्णकी लीलाओंमें सम्मिलित होने लगे, देखिये–

अन्तरमें हो रहा खेल अति मधुर विलक्षण।
बाहर वैसे दीखे वह निश्शब्द, अलक्षण॥
कौन बताये? किसे? वहाँके कैसे अनुभाव।
आ न सके पल एक छोड़कर वह रस नितनव॥
बाहर आते समय रोक देती वह लीला।
भीतर ही है रमा रही वह चारु सुशीला॥
उस लीलाका त्याग बड़ा ही कठिन, असंभव।
इसीलिये बन रहा नहीं बाहर कुछ सम्भव॥

(पद-रत्नाकर, पद सं. ११२८)

जीवनके अन्तिम दस-बारह वर्षोंमें भाईजीकी स्थिति बड़ी विचित्र रही। भाईजीकी अभिलाषा थी और अभिलाषाके अनुरूप प्रयास था कि मेरी वृत्तियाँ जगत्के सेवाकार्यमें लगी रहें, परन्तु उनकी वृत्तियाँ बलात् पहुँच जाती थीं उस लीला-राज्यमें। भाईजीकी अभिलाषाके विपरीत उनकी वृत्तियाँ श्रीराधा-माधवकी मधुर लीलाओंके गहन सिन्धुमें विलीन हो जाती थीं। यह कैसी अद्भुत विवशता थी। उनके संकेत उन्हींके शब्दोंमें देखिये—

पता नहीं कुछ रात-दिवस का, पता नहीं कब संध्या-भोर।
जाग्रत-स्वप्न दिखाई देता श्याम सदा मेरा चित-चोर॥
भूल गई मैं नाम-धाम निज, भूल गई सुधि हूँ मैं कौन।
नयन नचाकर, प्राण हरणकर, खड़ा हँस रहा धरकर मौन॥

(पद-रत्नाकर, पद सं. ५०५)

ऐसे एक नहीं, अनेक पद हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण केवल भावनासे ही नहीं, प्रत्यक्ष रूपसे भाईजीके निरन्तर साथ रहते थे—

क्षणभर नहीं छोड़ते मोहन, नित्य बने रहते हैं संग।
देश-कालका भेद नहीं कुछ, पल-पल उठती अमित उमंग॥
घरमें-वनमें, बाहर-भीतर बहुत काममें या बेकाम।
शयन-जागरण, खान-पानमें संग सदा ही रहते श्याम॥

(पद-रत्नाकर, पद सं. ११२१)

रात-दिवस मनमें रहै, रहै सदा तन साथ।
कैसे देखूँ और कौं, कैसे जोडूँ हाथ॥
नित नवीन लीला करै, कभी न दे अवकास।
कैसे सोचूँ अन्य कुछ, कैसे रखूँ पास॥
रात-दिवस बातैं करै, रचे नित नये खेल।
कैसे बोलूँ औरसे, कैसे रखूँ मेल॥

(पद-रत्नाकर, पद सं. ११३०)

रहते मेरे साथ निरन्तर, प्रभु क्षण दूर नहीं होते।
अनुभव सदा कराते अपना हर स्थितिमें जगते-सोते॥
रहूँ कहीं भी, कैसे भी, वे रहते नित्य पास मेरे।
रहते नित भीतर-बाहरसे चारों ओर मुझे घेरे॥

(पद-रत्नाकर, पद सं. ११७२)

मेरे मंगलमय रसमय प्रभु रहते नित ही मेरे पास।
देते नव-नव नित्य मधुर आनन्द विविध कर दिव्य विलास॥
डूबे रहते स्वयं, डुबाये रखते मुझको पारावार।
परम दिव्य रसके, स्वाभाविक करते विशद विशुद्ध विहार॥
नहीं अन्यको मुझे देखने देते, नहीं देखते आप।
करते रहते सदा मधुरतम दिव्य मुझीसे रस-आलाप॥

(पद-रत्नाकर, पद सं. १२२०)

ऐसे एक नहीं, अनेक पद हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी वृत्तियाँ निरन्तर लीला-राज्यमें ही रहती थीं—

भीतर खुले द्वार रस-गृहके, बाहर लगे कठोर कपाट।
बाहर निर्जनता-नीरवता, भीतर लगी रूपकी हाट॥

(पद-रत्नाकर, पद सं. ५२२)

पहले तो लोग अपनी समस्याओंके समाधान पत्रोंद्वारा भाईजीसे प्राप्त कर लेते थे, पर उपर्युक्त स्थितिमें जब पत्र-लेखनका कार्य बन्द हो गया तो लोग स्वयं उनके पास आकर समाधान प्राप्त करनेकी चेष्टा करने लगे। जब भाईजीकी स्थिति सामान्य धरातलपर रहती तब तो वे समाधान कर देते, परन्तु जब वे जागतिक धरातलपर न रहते तो आनेपर भी लोग समाधान प्राप्त करनेमें असमर्थ रहते। अपनी विवशता तथा उसके हेतुकी अभिव्यक्ति इस पदमें देखिये—

नाथ! तुम्हारी कितनी करुणा, कैसा अतुल तुम्हारा दान।
हटा असत् मायाका पर्दा, दिया स्वयं ही दर्शन-ज्ञान॥

हटे वह सामनेसे तब मैं अन्य कुछ देखूँ

नहीं रह गया अब तो कुछ भी अन्य, छोड़कर तुमको एक।
मिथ्या जगमें रमनेवाले रहे न मिथ्या बुद्धि-विवेक।।
आते लोग, सुनाते अपनी विषम समस्याओंकी बात।
सुलझानेको उन्हें पूछते साधन, सविनय, कर प्राणिपात।।
कहूँ उन्हें, समझाऊँ क्या मैं, जब न दीखता कुछ सत् सार।
सुलझानेवाले उस मनको, गया सर्वथा लकवा मार।।

(पद-रत्नाकर, पद सं. १२४६)

ऐसी स्थितिमें लोग स्वयं ही कम आने लगे और श्रीभाईजी भी सबसे यही निवेदन करते थे—

नहीं कामका रहा, छोड़ दो इसकी आशा।
रक्खोगे तो तुम्हें मिलेगी नित्य निराशा।।
भस्म हो गई बुद्धि जागतिक, जल-भुनकर सब।
रही न कोई इसमें भोग-विचार-भूमि अब।।
क्या करना, क्या नहीं—सोच सकता न तनिक यह।
सदा सहज ही उदासीन रहता, सब कुछ सह।।

(पद-रत्नाकर, पद सं. ११५०)

भाईजीकी इस दिव्य भागवतीय स्थितिसे सम्बद्ध एक तथ्यकी ओर संकेत करना अतिआवश्यक है। वे चाहते थे कि मेरी वृत्तियाँ लीला-सिन्धुमें गहरी न उतरें— जिससे सेवाकार्य सुचारु रूपसे चलते रहें— परन्तु यह उनके वशकी बात नहीं रह गई थी, वे स्वयं विवश थे। कभी-कभी स्वयंका स्वयंसे संघर्ष हो जाता था और वर्जन करते-करते ही भाव-समाधिकी स्थितिका प्रायः अवतरण हो जाया करता था। वर्तमान इतिहासके पन्नोंमें जितने सन्तोंके जीवन-संकेत उपलब्ध हैं, उनमें किसीमें भी ऐसी बात नहीं मिलती जो स्वयं ही अपनी वृत्तिको 'इधर' (अर्थात् जागतिक धरातलपर) लगाये रखनेका प्रयत्न कर रहा हो और फिर भी भाव-समाधि लग जाय। यह पूर्णतः यथार्थ है कि प्राकृतिक शब्दोंके माध्यमसे और प्राकृतिक मन, बुद्धिद्वारा उस अप्राकृतिक स्थितिका स्वरूप समझा ही नहीं जा सकता। एक क्षणके लिये भी प्रियतम श्यामसुन्दर उनको छोड़ते ही नहीं थे—

हटते नहीं एक पल भी वे मुझे छोड़कर प्रियतम श्याम।
सोते-जगते, खाते-पीते, हरदम रहते पास ललाम॥
नित्य दिखाते रहते अपनी अति पवित्र लीला सुख-धाम।
बाहर-भीतर, तनमें-मनमें देते रहते सुख अविराम॥
(पद-रत्नाकर, पद सं. ११२५)

ऐसा दिव्य था भाईजीका जीवन।

उपरामताकी चरम सीमा : भाव-समाधि

भाईजी जिस महाभावमयी स्थितिमें थे, उनके द्वारा बाह्य व्यवहारका सुचारु रूपसे सम्पन्न होना सम्भव ही नहीं था। वास्तविकता यह थी कि श्रीकृष्णको इनके माध्यमसे जगत्के समक्ष एक नया आदर्श उदाहरण रखना था। इसीका परिणाम था कि उस अनिर्वचनीय स्थितिमें रहते हुए भी विभिन्न क्षेत्रोंमें सेवाके नये-नये आदर्शोंका प्रस्तुतीकरण भाईजीके जीवन द्वारा हो सका। लगभग न् १९६० के पश्चात् वृत्ति बार-बार जगत्को छोड़ने लगी। ऐसी अवस्थामें बाह्य जगत्के कार्योंको सम्पन्न करनेमें बाधा उपस्थित होने लगी। नीचे भाईजीके पत्रोंके कुछ अंश प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जिनसे उनकी स्थितिका कुछ अनुमान लगाया जा सके।

दि. २१ नवम्बर १९५९ के एक पत्रमें उन्होंने लिखा—

प्रिय ··· ··· ····,

सप्रेम हरिस्मरण। ··· ··· एक हटे तब न दूसरेसे बात की जाय—

हटे वह सामनेसे तब मैं अन्य कुछ देखूँ।
सदा रहता बसा मनमें तो कैसे अन्यको लेखूँ॥
उसीसे बोलनेमें ही मुझे फुर्सत नहीं मिलती।
तो कैसे अन्य चर्चाके लिये फिर जीभ यह हिलती॥
सुनाता वह मुझे मीठी रसीली बात है हरदम।
तो कैसे मैं सुनूँ किसकी छोड़ वह रस मधुर अनुपम॥
समय मिलता नहीं मुझको, टहलसे एक पल उसकी।
छोड़कर मैं उसे, कैसे करूँ सेवा कभी किसकी?

रह गयी मैं नहीं कुछ भी किसीके कामकी हूँ अब।
समर्पण हो चुका मेरा जो कुछ भी था, उसीके सब।।
(पदरत्नाकर पद सं. ४८२)

चलत चितवत दिवस जागत सुपन-सोवत रात।
हृदयतें वह स्याम मूरति छिन न इत उत जात।।

पर यहाँ तो केवल हृदयकी बात नहीं है। हृदयमें भी और बाहर भी तब क्या किया जाय? किवाड़ बन्द किये पड़ा रहता हूँ। यहाँ तो—

लुट गया डेरा, नहीं कुछ बच रहा।
हर तरफ हर वक्त ऊधम मच रहा।।
कर रहा वह है शरारत दिन औ रात।
हो गयी मेरी सभी वे किश्तें मात।।

... ... इस श्याम सागरमें डूबनेपर किसीको निकलते नहीं देखा गया। उस नशेमें चूर होनेपर कोई सयाना नहीं हुआ। ... ...

* * * *

दि. १२ जून १९६० के पत्रमें वे लिखते हैं –

प्रिय ... ...,

सप्रेम हरिस्मरण। ... ... मेरा स्वास्थ्य तो प्रायः ठीक ही है। पर मनकी उपरति, एकान्त-प्रियता तथा अन्यमनस्कता बढ़ रही है। कभी-कभी जगत्को बिलकुल भूल जाता हूँ। बोलते-बोलते भूल जाता हूँ। कहना कुछ और चाहिये– सोचना कुछ और चाहिये, कर तथा सोच जाता हूँ कुछ और ही। यह दशा है। ... ...

* * * *

दि. १६ नवम्बर १९६१ के पत्रमें वे लिखते हैं–

प्रिय भैया ... ...,

सप्रेम हरिस्मरण। तुम्हारे कई पत्र आये। मैंने इधर किसीको पत्र नहीं

लिखा। रात-दिनमें कुछ मिलाकर पाँच-छः घण्टे बाह्य-चेतना पूरी रहती है। उस समय जितना बन पड़ता है, प्रेसका काम देखता हूँ। पत्रादि लिख ही नहीं पाता। बड़ी विवशता है। कमरा अधिक समय बन्द ही रहता है। सत्सङ्गमें भी कभी दो-चार दिनों बाद जा पाता हूँ। भाई जयदयाल, विष्णुकी माँ आये हुए हैं। पर मैं तो उनसे नहीं मिल पाता। यह हालत है। ··· ··· आजकल मेरा न भूलना ही आश्चर्य है। पत्रोंमें कुछका कुछ लिख देता हूँ। लिफाफोंपर नाम गड़बड़ कर देता हूँ ··· ···।

* * * *

उन्हीं स्वजनको दि. २७ अप्रैल १९६२ के पत्रमें भाईजीने लिखा—

प्रिय भैया ··· ··· ··· ···,

सप्रेम हरिस्मरण। तुम्हारे पत्र मिले। मैं पत्र नहीं लिख सका सो भैया मेरी परिस्थितिपर विचार करके क्षमा करना। तुम लोगों जैसे सुहृदोंको पत्र लिखनेका मन बहुत रहता है और यह उचित भी है। अतः मैंने पत्र देना एकदम बन्द ही नहीं कर दिया—परिस्थितिने बाध्य कर रखा है। मेरी परिस्थितिका पूरा अनुमान करना भी कठिन है। प्रतिक्षण संसारको सर्वथा विस्मृत करा देनेवाली चित्तवृत्तिका प्रवाह, बलात्कारसे इस वृत्ति-प्रवाहकी सहज गतिको रोककर संसारको पकड़ाये रखनेवाली परिस्थितियाँ, मस्तिष्कका विद्रोह तथा द्वन्द्वयुद्ध, मेरी स्थितिका अनुमान न कर सकनेके कारण सभीका अपने-अपने मनके महत्त्वपूर्ण कार्यके लिये मेरी सम्मति, सहयोग तथा सहायताका आग्रह, भाँति-भाँतिकी संसारकी परिवर्तनशीलताके कारण प्रादुर्भूत स्थितियाँ आदि; तथा काममें अनिच्छा, अरुचि, समय-समयपर कामकी आवश्यकता तथा पद्धतिकी भी विस्मृति होनेपर भी बलात्कारसे कामकी स्मृति तथा काममें लगाकर यथायोग्य कार्य सम्पादन करना। यह मेरी हालतका एक सांकेतिक रूप है। अब बताओ कैसे क्या सोचूँ, क्या लिखूँ। आज इस समय किसी प्रकार मनको बटोरकर पाँच-चार पत्र लिखनेका विचार किया है। तुम्हारा यह पत्र पहला ही है। लिख सकूँगा या नहीं पता नहीं। मेरी यह स्थिति न किसीको समझायी जा सकती है, न कोई समझ पायेगा, ऐसी आशा ही है। ··· ··· ··· ···

जब भाईजीने देखा कि अब किसी भी तरह 'कल्याण' गीताप्रेसका काम सम्भालना सम्भव नहीं है, तब श्रीसेठजीको पत्र लिखा—

।।श्रीहरिः।।

गीताप्रेस, गोरखपुर
१६ मई १९६२

परम पूज्य चरण,

सादर प्रणाम। आपके कई पत्र मिले। मैं उत्तर नहीं लिख पाया, इसके लिए क्षमा चाहता हूँ। महीनोंसे मैं बहुत ही कम पत्र लिख पाता हूँ। आपकी सेवामें पत्र लिखकर कुछ बातें निवेदन करनेका विचार बहुत दिनोंसे था, पर पत्र नहीं लिखा जा सका। कुछ निरुपाय-सी स्थिति है।

कलकत्ते जानेसे पूर्वतक मस्तिष्ककी स्थिति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई एक धारामें चल रही थी। अधिक समय बाहरी ज्ञान नहीं रहता था और शरीर बेसुध बैठा रहता था। इस धारामें यहाँ कोई बाधा नहीं थी। कलकत्ते जानेपर बाधा आयी। दिनभर लोगोंसे मिलना, बातचीत करना, जाना-आना आदि करना पड़ता। मस्तिष्क चाहता कि किसी भी ऐसी परिस्थितिका स्पर्श न हो, संसार सर्वथा विस्मृत हो जाय और परिस्थिति संसारमें बँधे रहनेको बाध्य करना चाहती। बड़ा द्वन्द्व-युद्ध चलता। दिनमें बात करते-करते गड़बड़ी होती। वृत्तिको जबर्दस्ती संसारमें लगानेकी चेष्टा करनी पड़ती, भूलें होतीं, उन्हें सँभालनेकी चेष्टा होती। लोगोंके सामने कोई ऐसी चीज आकर एक तमाशा न बन जाय—इस भावनासे वृत्तियोंको संसारमें रहनेके लिए जबर्दस्ती करनी पड़ती। इसका परिणाम यह हुआ कि उस सहज धारामें बाधा आ गयी, साथ ही चित्तमें एक विचित्र अशान्ति पैदा हुई। रातको बारह-एक बजे जब सोने जाता, तब दिनभरका आघात पायी हुई वृत्ति जबर्दस्ती संसारको त्याग देती। संसार नहीं रहता, तब संसारकी नींद भी नहीं रहती। लोग समझते, सो रहा है। इस प्रकार रातें बीततीं। कलकत्तेमें शायद ही दो-तीन रातें बीती होंगी, जिनमें मैं दो-तीन घंटे सोया हूँ। वहाँसे लौटनेपर काम बढ़ा मिला। फिर दुलीचंदके चोट लग गयी। वही परिस्थितिका पचड़ा यहाँ भी आ गया। अतएव यहाँ भी अबतक बड़ी ही गड़बड़ी चल रही है। अब फिर कलकत्ते जाना है। काम होता ही नहीं। पत्र-व्यवहार प्रायः बन्द है।

लोगोंकी शिकायतें आती हैं, पर जैसे मुर्देपर कोई कितना ही मारे, वैसा ही दशा है। यहाँ रहना भी बाधक ही प्रतीत होता है। लोग मिलने आते हैं, पत्र लिखते हैं। अपने-अपने काममें सभी लोग सहायता-सहयोग चाहते हैं और अपनी-अपनी दृष्टिसे सभीके कार्य महत्त्वके होते हैं। वे अपना मानते हैं– इससे सहायता-सहयोग चाहना भी दोषकी बात नहीं, स्वाभाविक है। 'कल्याण'वाले लेख चाहते हैं, प्रेसवाले कभी-कभी कुछ सलाह चाहते हैं, यह सभी उचित है, पर मैं क्या करूँ? विवशता बढ़ी जा रही है। कहीं भी जाने-आने, मिलने-जुलने, लिखने-पढ़नेकी वृत्ति एकदम नहीं होती। विशेषांकका काम है। मैं जानता हूँ मुझे करना चाहिए। आप प्रेरणा भी उचित करते हैं। पर मैं न तो निर्णय कर पाता हूँ, न काम ही। आपके इच्छानुसार करना चाहता हूँ, आपके कार्यको बढ़ा देना, आपके सामने एक नयी परिस्थिति या उलझन पैदा कर देना मैं नहीं चाहता। पर मैं कैसे क्या करूँ– यह नहीं सोच सकता, न कर ही सकता हूँ।

मैं जानता हूँ कि विशेषांकका निर्णय तथा कार्य-आरम्भ शीघ्र हो जाना चाहिए, पर मैं कर नहीं पाता। कई प्रस्ताव हैं– १. अग्निपुराणांक २. वेदांक ३. विविध देवोंकी शास्त्रीय उपासनाकी विधिका अंक ४. सर्वधर्म-संग्रहांक ५. कर्तव्यांक ६. ब्रह्मवैवर्तपुराणांक आदि। इनमें मुझे 'ब्रह्मवैवर्तपुराणांक' जँचा। पुस्तकें मँगवायीं। छाँटकर जल्दी देनेकी बात सोची। पंडित श्रीरामनारायण- दत्तजीसे भी कह दिया। यह सब हुआ, पर किया कुछ भी नहीं, न करनेकी जरा भी वृत्ति ही है और सचमुच अब मुझसे होगा भी नहीं। अतः श्रीगोस्वामीजीके साथ श्रीरामनारायणदत्तजीको यहाँ दे देना चाहिए। वे 'कल्याण'का सम्पादन ठीक कर सकेंगे।

अतएव मेरी हाथ जोड़कर आपसे निम्नलिखित प्रार्थना है–

१. 'कल्याण', 'गीताप्रेस' सबके सब क्षेत्रोंसे मुझे शीघ्र ही निश्चय ही अलग कर दिया जाय। कहीं भी न नाम रहे, न जिम्मेदारी रहे, न हस्ताक्षर रहे, न सलाह आदि ली जाय। मरा समझकर भुला दिया जाय।

२. कहीं भी जाने-आनेकी परिस्थिति न रहे। कहीं एकान्त-स्थानमें रहा जाय। गोरखपुरमें भी रहा जाय, तो सर्वथा सब प्रकारकी इस क्रिया-

शीलतासे बिल्कुल पृथक् होकर।

३. पत्र-व्यवहार सर्वथा बन्द कर दिया जाय।

मेरी आपसे, मित्र-बान्धवोंसे, घरवालोंसे सभीसे यह प्रार्थना है। होगा तो वही है, जो भगवान्‌ने रच रखा है।

ऋषिकेश आनेका मेरा मन उपर्युक्त कारणोंसे बिल्कुल नहीं है। प्रारब्धवश या भगवत्-विधानसे आना पड़े, तो ठीक ही है। मस्तिष्ककी गड़बड़ीका असर शरीरपर हुआ। शरीर शिथिल है। कामसे सर्वथा इन्कार करता है।

आपका
हनुमान

* * * *

इधर कई दिनोंसे मेरे मस्तिष्ककी विचित्र दशा हो रही है। लोग आते हैं, पत्र आते हैं और सब ठीक-ठीक अपने मनकी बात कहते हैं और समाधान चाहते हैं। उनमेंसे कुछसे मैं थोड़ी-बहुत बातचीत भी करता हूँ और किसी-किसीको पक्का उत्तर भी देता हूँ। पर समझमें नहीं आता, उन्हें मैं कैसे समझाऊँ— धरातलका ही बड़ा अन्तर है। मेरे धरातलपर आये बिना वे मेरी बात समझ नहीं सकते और उनकी बातोंका मेरे मनमें कुछ भी महत्त्व समझमें नहीं आता। लोगोंसे मिलने-जुलनेमें बड़ी 'अरति' हो रही है। 'अरतिर्जन-संसदि' गीताका यह पद बार-बार याद आता है। शिष्टाचारके नाते बड़े संकोचसे सबसे मिलता-जुलता तो हूँ, पर (सबमें भगवत्-बुद्धि होनेपर भी) व्यावहारिक जगत्‌की असत्ता प्रतीत होनेके कारण यह व्यवहार भी अच्छा नहीं लगता। इधर तो पाँच-सात दिनमें लगातार अत्यन्त विरक्त संन्यास-आश्रम-ग्रहण करनेकी मनमें आ रही है, जिससे व्यवहारका सम्पर्क प्रायः अपने-आप ही बन्द हो जाय। इधर प्रेसमें भी गड़बड़ चल रही है; कार्य-संचालकोंमें आपसमें प्रेम नहीं है। सभी जगह व्यष्टि-अहम्‌की प्रबलता है।

बीच-बीचमें मेरा मस्तिष्क संसारको सर्वथा छोड़ देता है। जगत्‌की कोई सत्ता नहीं रह जाती। उस अवस्थामें तो किसी प्रकारकी अशान्तिका प्रश्न ही नहीं, जब अपने किवाड़ बन्द करके बिल्कुल अकेला रहता हूँ, तब भी शान्ति

रहती है। किवाड़ खुलते ही डर-सा लगने लगता है, कोई आ न जाय। घरवाले और बाहरवाले सभीके लिये एक-सी बात है। अभी यहाँ दो विवाह होनेवाले हैं, मेरा जी डर रहा है।

विवाहवालोंसे क्या कहा जाय? पर हाँ, भगवान्‌की कृपासे विवाहके दिनोंमें मस्तिष्क खराब हो जाय तो अच्छा है। पर मैं यह जानता हूँ कि ऐसा मानना भी संसारकी सत्ताको सत्य मानना है। यह भी एक प्रकारका 'अज्ञान' ही है। परन्तु जबतक वैसी स्वाभाविक स्थिति न हो जाय, तबतक बचना आवश्यक मालूम होता है। आप सब मेरे हितैषियोंसे, जो मुझे सुख देना और मेरा हित करना चाहते हैं— सबसे यह प्रार्थना है कि मेरे इस कार्यमें सब मेरी सहायता करें। मेरी इस परिस्थितिपर विचार करके जो कुछ उचित हो, वह करना चाहिये।

शेष भगवत्कृपा।

* * * *

॥श्रीहरिः॥

प्रिय भैया मोहन,

सादा और साधु-जीवन साधनामय ही होता है। यहाँ तो यह हाल है कि नींद और दिमागकी खराबीमें जितना समय बीतता है, उसको छोड़कर बाकी समय साधनाके विरुद्ध ही जाता है। भगवच्चिन्तनके बदले पराये दोष-गुण-चिन्तन और भगवद्गुणानुवादके बदले परापवाद होता है। घरके लोग, आसपासके लोग और साथ रहनेवाले लोग, जो मुझे आदर्श मानते हैं, यदि रात-दिन लोकैषणा, विषयैषणा आदिमें लगे रहते हैं, परस्पर एक-दूसरेके लिए त्याग न करके द्वेष और स्वार्थका ही आश्रय लेते हैं, यह सब मेरे संग और मेरे आदर्शका परिणाम है, तो मैं कैसा हूँ— यह स्वाभाविक ही सिद्ध हो जाता है। मैं यहाँसे अलग रहना चाहता हूँ और सावित्रीकी माँ बहुत परेशान है, परन्तु कुछ ऐसे अपने ही बनाये हुए बन्धन हो गये हैं, जिनके कारण यहाँसे हटना नहीं होता। इच्छा थी—शेष जीवनके बचे हुए श्वास केवल एकान्तमें अनन्य भगवत्स्मरणमें ही बीतें, परन्तु यह हो नहीं पाता। 'कल्याण'का काम भी नहीं होता। शरीर काम करनेसे इनकार करता है। आजकल घंटेभर बैठता हूँ तो दो घंटे लेटनेकी आवश्यकता होती है। सोचता हूँ—अचानक काम बंद

हो जाय, इससे पहले ही किसीको सँभला दिया जाय। यहाँवाले तो कोई तैयार दीखते नहीं। श्रीरामनारायणदत्तजीके विषयमें सोच रहा हूँ। वासुदेव अगर यहाँ रहता तो सेठजीके भावोंको जानता था, पर उसका रहना कठिन है। अभी रामनाथजी 'सुमन' यहाँ आये थे। उनसे भी बातचीत मैंने की है। देखा जाय क्या होता है। जो भगवान्‌को स्वीकार होगा, वही होगा।

तुम्हारा
हनुमान

* * * *

।।श्रीहरिः।।

गीताप्रेस, गोरखपुर
२४ नवम्बर १९६७

प्रिय भैया,

इस समय भौतिक जगत् बहुत नीचे स्तरपर है और क्रमशः नीचेकी ओर ही जा रहा है। इसका परिणाम और भी दुःखप्रद होगा। मेरा मन तो आजकल बहुत ही उपरत-सा रहता है। बेचारे लोग आते हैं, अपनी-अपनी समस्या लेकर पत्रादि भी लिखते हैं। सभीमें भगवान् हैं, सबका आदर करना चाहिए; पर मैं कर ही नहीं पाता। बहुतोंकी तो बात ही आजकल मेरी समझमें नहीं आती। मन उनको ग्रहण ही नहीं करना चाहता, मानो संसारकी बातोंके ग्रहण करनेमें मनको लकवा मार गया हो। दृष्टिकोण ही बदल गया है। जो लोग आते हैं— वे अपने दृष्टिकोणसे अपनी बात ठीक ही कहते हैं, पर उस दृष्टिकोणके अभावमें मुझे उनकी बातका न कोई महत्त्व दीखता है, न निराकरण ही। बड़ी विचित्र स्थिति है। इसीसे अधिक समय सर्वथा अकेला किवाड़ बन्द कर रहता हूँ। न किसीसे मिलनेका मन करता है, न देखनेका ही। कोई आते हैं, तब बहुत सँभल-सँभलकर बात करता हूँ, जिससे वे अन्य कुछ न समझें, पर उसमें कठिनाई होती है। जीवन-मृत्युमें कोई भेद नहीं दिखाई देता। पर न मैं अपनी बात किसीको समझा सकता हूँ, न कोई समझ ही पाता है। आवश्यकता भी नहीं है। सबसे यथायोग्य।

तुम्हारा भाई
हनुमान

भाईजीके जीवनका यह स्वरूप कितना विलक्षण है। शास्त्र-मर्मज्ञ एक संतने एक बार कहा था कि ऐसा उदाहरण ग्रन्थोंके पृष्ठोंपर कभी पढ़नेको भी नहीं मिलता। १६ अप्रैल सन् १९६८ को स्वर्गाश्रम, डालमिया-कोठीमें भाईजी भाव-समाधिमें थे। जब उनकी समाधि शिथिल हुई, एक श्रद्धालुने भाईजीसे भाव-समाधिके स्थितिके बारेमें कुछ जिज्ञासा व्यक्त की। उस श्रद्धालु जिज्ञासुके आग्रहको देखकर भाईजीने बड़े संकोचके साथ कहा—

''मैं इस स्थितिके विषयमें विस्तारसे बतलानेमें लाचार हूँ। भगवत्कृपासे कैसा क्या होता है—भगवान् जानें। मैं तो अपनेको एक अनिर्वचनीय आनन्दकी स्थितिमें पाता हूँ। स्थितिकी ऐसी सम्भावना होते ही मैं कमरा बन्द कर लेता हूँ। पर कभी-कभी हठात् सब इन्द्रियोंका कार्य एकाएक बन्द हो जाता है और मैं जहाँ, जिस अवस्थामें होता हूँ, उसी अवस्थामें रह जाता हूँ। उस अवस्थामें आँखें खुली रहनेपर भी दिखायी नहीं पड़ता, कानोंसे सुनता नहीं, त्वक्से स्पर्शका अनुभव नहीं होता। इस प्रकार जब इन्द्रियोंका कार्य होना बन्द हो जाता है; तब मन निष्क्रिय हो जाता है और मनके निष्क्रिय होनेसे बुद्धि निष्क्रिय हो जाती है। कभी सब इन्द्रियोंका कार्य एकाएक एक साथ ही बन्द हो जाता है और कभी-कभी एक-एक इन्द्रियका कार्य बन्द होते-होते सब इन्द्रियोंके कार्य बन्द हो जाते हैं। कार्य बन्द होनेमें क्रम नहीं है। वृत्ति इन्द्रियोंसे हटकर 'उधर'में केन्द्रित हो जाती है। 'उधर'का अर्थ या स्वरूप समझाया नहीं जा सकता। जब बाह्य ज्ञान पूरा हो जाता है, तब 'उधर'की स्मृति नहीं रहती और जब अधूरा बाह्य ज्ञान होता है, तब 'उधर'की कुछ स्मृति हो रहती है, पर वाणीमें आ नहीं सकती और जितनी वाणीमें आ सकती है, उसको भी बताना सहज नहीं है। वृत्ति लौटनेमें भी कभी थोड़ी-थोड़ी वृत्ति आती है, कभी एक साथ ही सारी वृत्ति आ जाती है।

जब वृत्ति जाती है, तब यह भी स्मरण नहीं रहता कि कहाँ हूँ, सामने कौन है। पर यह भी उस समयकी वास्तविक स्थिति नहीं है; क्योंकि इन्द्रियोंके कार्योंका रुक जाना, मन-बुद्धिकी वृत्तियोंसे जगत्का सर्वथा त्याग हो जाना और पूर्णतया वृत्तिका 'उधर' लग जाना ही 'भागवती स्थिति' नहीं है। जबतक वृत्तिजन्य 'इधर'का त्याग और

वृत्तिजन्य 'उधर'का ग्रहण है, तबतक प्रकृति-राज्यमें ही स्थिति है। 'भागवती स्थिति'में मन-बुद्धि-अहंकी सत्ता नहीं रहती; उनके स्थानपर भागवत्सत्ता आ जाती है, जिसका ज्ञान भी भगवत्सत्तामें ही होता है, अन्य किसीको नहीं। आजकल वृत्ति जगत्को कम पकड़ती है, 'उधर' अधिक जाती है और 'भागवती स्थिति' हो जाती है।''

* * * *

अपनी इस विवशताको उन्होंने कविता-रूपमें भी लिपिबद्ध किया और उसे 'कल्याण'में प्रकाशित किया था—

नाथ! तुम्हारी कितनी करुणा, कैसा अतुल तुम्हारा दान!
हटा असत् मायाका पर्दा, दिया स्वयं ही दर्शन-ज्ञान॥
नहीं रह गया अब तो कुछ भी अन्य, छोड़कर तुमको एक।
मिथ्या जगमें रमनेवाले, रहे न मिथ्या बुद्धि-विवेक॥
आते लोग, सुनाते अपनी विषम समस्याओंकी बात।
सुलझानेका उन्हें पूछते साधन, सविनय कर प्रणिपात॥
कहूँ उन्हें, समझाऊँ क्या मैं, जब न दीखता कुछ सत्, सार।
सुलझानेवाले उस मनको गया सर्वथा लकवा मार॥

('कल्याण' वर्ष ४१, अङ्क १०)

* * * *

'कल्याण'-सम्पादकीय-विभागके सदस्य श्रीशिवनाथजी दुबेको गीताभवनसे ३-६-६८ के अपने पत्रमें श्रीभाईजीने लिखा—

आजकल मेरे मस्तिष्ककी जो स्थिति है और जो उत्तरोत्तर बढ़ रही है, उसे देखते सम्पादनका काम मैं कर सकूँगा— यह नहीं कहा जा सकता। प्रतिदिन ही ५-७ घंटे बाह्य चेतना सर्वथा लुप्त रहती है। चेतनाके समय भी बार-बार यहाँका सब कुछ लुप्त होता रहता है।

* * * *

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, वृत्तियोंके लुप्त होनेकी यह प्रक्रिया तीव्र होती गयी। इसकी झलक सन् १९६९ ई. में गीताभवन (ऋषिकेश) से एक स्वजनको

लिखे गये उनके निम्नांकित पत्रमें मिलती है —

॥ श्रीहरिः ॥

गीताभवन
१७ जून १९६९

प्रिय भैया··· ··· ··· ···,

सप्रेम हरिस्मरण। तुम्हारे पत्रादि मिले। भैया! मेरी स्थिति कुछ विचित्र-सी हो रही है। आजकल मस्तिष्क अधिक खराब रहता है। यहाँ बहुत लोग घरमें ठहरे हुए हैं। गीताभवनमें भी बहुत भीड़ है। बहुत लोग मिलना, बात करना चाहते हैं। मैं उनके सामने मस्तिष्कवाली कोई बात प्रकट करना नहीं चाहता। सबके संतोषके लिए यथासाध्य अपनी स्थितिको छिपाता हुआ सबके साथ मिलना तथा ठीक-ठीक बातें करना चाहता हूँ– इसलिये कई बार बड़ी कठिनता होती है। सारी वृत्तियाँ जगत्‌को सर्वथा छोड़ना चाहती हैं; दूसरी एक वृत्ति चाहती है– 'ऐसा न हो, चेतना ठीक बनी रहे।' अतः उस समय बाहरी काम, बाह्य चिन्ता आदिकी ओर वृत्तियोंको जबर्दस्ती लगाना चाहता हूँ। किसी-किसी बार तो इसमें सफल हो जाता हूँ, परन्तु अधिक बार यही होता है कि बाह्य चेतना नहीं होती। अपने-आप ही लोगोंको निराश होकर चले जाना पड़ता है। जब बाह्य चेतना आती है, तब भी प्रायः कोई वृत्ति जगत्‌को ग्रहण करना नहीं चाहती। उस समय ऐसा लगता है कि कभी बाह्य चेतना हो ही नहीं– जबतक इस शरीर तथा प्राणका सम्बन्ध है, केवल और केवल वही स्थिति बनी रहे; उससे व्युत्थान हो ही नहीं। जब बाह्य चेतना पूरी रहती है, तब भी आजकल बहुत दिनोंसे ऐसा ही मन करता है– बड़ी प्रबल इच्छा होती है कि मैं अकेला ही रहूँ। कमरा बन्द रहे, जहाँ रहूँ, वहाँ भीड़-भाड़ हो ही नहीं। कमरा खुला भी हो तो न कोई मेरे पास आये, न मुझसे जगत्‌की और जगत्‌के विषयको– किसी भी प्रकारकी कोई बात की जाय। मेरे सामने कोई विषय-चर्चा ही न हो। मैं अकेलेमें मन ही तो कोई काम कर लूँ, नहीं तो परमार्थ-चिन्तनमें ही लगा रहूँ।

पर अबतकका जीवन बड़ा भीड़भाड़का रहा है। घरके ही नही, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, सेवा-सहायता, ट्रस्ट तथा संस्थाएँ, सत्-साहित्य-प्रचार आदि अनेक विषयोंके सैकड़ों-हजारों झंझट अपने ही स्वभावदोषसे लगे रहे हैं। हजारों-लाखों आदमियोंसे परिचय है, पत्र-व्यवहार हुआ

है, कभी कहीं मिलन हुआ है। अतः स्वाभाविक ही बड़े सद्भावसे अपनी-अपनी समस्याओंको लेकर लोग मिलना चाहते हैं, पत्र-व्यवहार करना चाहते हैं। मिलनेपर कोई घरकी बात करता है, कोई अपनी समस्याका समाधान चाहता है, कोई किसी विषयमें परामर्श चाहता है, सहायता चाहता है, सिफारिश चाहता है, साधनकी बात पूछता है, कोई अपना दुःख सुनाकर दुःख-अशान्तिसे त्राण पानेका उपाय पूछता है, और कोई धर्म-अध्यात्म- राजनीति आदिके सम्बन्धमें सम्मति, सहायता, सहयोग चाहता है। ऐसे हजारों-हजारों प्रश्नोंको लेकर लोग मिलते हैं।

मेरा सदाका स्वभाव है— किसीको मना करनेमें बड़ी कठिनता प्रतीत होती है। यह भी ध्यान रहता है कि इन सभी रूपोंमें भगवान् हैं, फिर मैं इनका तिरस्कार कैसे करूँ? भगवान्‌की तो पूजा करनी चाहिये, भगवान् उन सबमें निश्चय हैं ही। बहुत-सी बातें संकोचसे ऐसी भी स्वीकार कर लेता हूँ, जो मेरी लौकिक शक्तिसे बाहरकी हैं। सबसे बड़ी कठिनाई होती है यह अनुभव कर कि मैं इतने सब रूपोंमें भगवान्‌का स्वागत न कर पाकर, अकेले ही और सर्वथा अकेलेमें ही अपने भगवान्‌को देखना चाहता हूँ। जनसमूहसे वृत्ति प्रबलतासे हटती रहती है। कभी-कभी ऐसा होता है और आजकल तो रोज ही दिनमें कई बार होता है कि मैं बात कर रहा हूँ, वृत्तियाँ जगत्‌को छोड़ने लगीं, देखना-सुनना बन्द होने लगा। किससे क्या कह रहा था, इसकी स्मृति नष्ट हो गयी। कौन थे, यह भी भूल गया। कौन क्या कहता है, समझमें नहीं आता। इस अवस्थामें बात करते-करते रुक जाना पड़ता है। कभी तो वृत्ति लौटकर जगत्‌में आ जाती है, मन-इन्द्रियोंका काम सामान्यरूपसे चलने लगता है और फिर ठीक-ठीक व्यवहार होने लगता है, किन्तु कभी-कभी रही-सही बाह्य चेतना भी चली जाती है। उस दिन एक सज्जन व्यापारकी बात कहकर राय पूछ रहे थे। दो-चार बातें करके ही मैं रुक गया। उन्हें पता नहीं चला कि मुझे क्या हो गया। कुछ देर बैठकर बेचारे निराश-उदास होकर चले गये। दूसरे दिन आये, तब मैंने उनको प्रकारान्तरसे समझाया।

एक दिन एक सज्जन अपनी लड़कीके विवाहमें शामिल होनेके लिए कह रहे थे। स्त्री-पुरुष दोनों साथ थे। बहुत परिचित, बहुत प्रेम रखनेवाले। मैं बात करते-करते रुक गया। आँखें खुली थीं, बाहर कोई परिवर्तन नहीं, पर संसारका अभाव हो गया। इन्द्रियोंकी क्रिया बन्द हो गयी, मैं बोलता-बोलता रुक गया। उन्होंने मुझे नाराज समझा और वे दुःखी होकर चले गये। ऐसी परिस्थितिमें मेरे मनमें आता है कि यदि मुझसे स्नेह रखनेवाले तथा मेरे प्रति कृपा करनेवाले, मेरे

घर-परिवारके लोग ऐसी व्यवस्था कर देते, जिससे मुझे सर्वथा अकेलेमें रहनेकी सुविधा होती; जगत्‌की बात मेरे सामने आती ही नहीं तो बहुत अच्छा होता। जैसे कोई पागल हो जाय, मर जाय तो उससे फिर कोई कुछ आशा नहीं रखता, वैसे ही।

शरीरकी बीमारीमें ऐसी कुछ शान्ति सहज ही मिल जाती है। लोग स्वाभाविक ही कम मिलते-जुलते हैं। घरवाले भी डिस्टर्ब करना नहीं चाहते— आनेवालोंको भी वे समझा देते हैं— उस समय ऐसा मन होता है कि शरीरकी नीरोगतासे तो यह रोग ही अच्छा— यही बना रहे तो कुछ तो राहत मिले।

ऐसी स्थितिमें क्या किया जाय, कुछ समझमें नहीं आता। अभी रातके साढ़े तीन बजे हैं। बीच-बीचमें वृत्तियाँ चेतनाको छोड़ रही हैं। बड़ी मुश्किलसे रुक-रुककर ऊपरकी पंक्तियाँ लिख पाया हूँ। तुम सोचना— मेरी कैसे क्या व्यवस्था हो? लोगोंको भी दुःख न हो और मेरा *'अरतिर्जनसंसदि'* का भी निर्वाह हो जाय।

तुम्हारा भाई
हनुमान

सभी संस्थाओंके उत्तरदायित्वसे मुक्त होनेकी इच्छा

अपनी अनिर्वचनीय स्थितिको कुछ संकेत भाईजीने श्रीविश्वनाथदासजी, मुख्यमन्त्री, उड़ीसाको भी १९६९ में एक पत्र लिखकर दिया था। श्रीदास महोदय भाईजीसे 'भारतीय चतुर्धाम वेद-भवन-न्यास'के संयुक्त मन्त्रीपदपर बने रहनेका आग्रह कर रहे थे और भाईजी उस उत्तरदायित्वसे मुक्त होना चाहते थे—

''इधर बहुत वर्षोंसे मेरा अन्तर्मन निवृत्तिप्रिय हो रहा है। इसीसे मैं प्रायः प्रतिदिन ही अधिक समय एकान्त बंद कमरेमें रहता हूँ। लोगोंसे मिलने-जुलनेकी वृत्ति नहीं होती। साथ ही इधर कुछ वर्षोंसे भगवत्प्रेरित ही एक विचित्र परिस्थिति और आ गयी है। उसे मैं प्रकाश नहीं करना चाहता और इसीलिये मैंने उसको 'मस्तिष्क ठीक न रहना' की संज्ञा दे रखी है। बात यह है कि अकस्मात् ऐसा हो जाता है कि इन्द्रियोंकी, मनकी सारी क्रियाएँ बंद हो जाती है। जगत्‌का सर्वथा लोप हो जाता है, केवल प्राण चलते रहते हैं। शरीर जिस अवस्थामें इस प्रकारकी स्थिति होनेके आरम्भमें था, वैसे ही बैठा या पड़ा रहता है। आँखें खुली हों तो भी दीखता नहीं, क्योंकि कोई देखनेवाला ही नहीं रहता। इसको समाधि कहिये या और कुछ।

पहले तो किसी समय ऐसी स्थितिकी मैं चाह करता था— उसके लिये प्रयत्न करता था; अब कोई भी प्रयत्न न करनेपर भी, वरं कभी-कभी तो वृत्तियोंको बलात्कारसे संसारमें लगानेकी चेष्टा करनेपर भी अकस्मात् ऐसा हो जाता है और यह स्थिति कुछ मिनटोंसे लेकर १५-२० घंटोंतक भी रह जाती है। उस समय शरीर-मन-बुद्धि सर्वथा अक्रिय रहते हैं। पहले यह स्थिति कई दिनों बाद हुआ करती थी, अब तो बहुत जल्दी-जल्दी हो जाती है। इससे बहुत सँभलकर रहना पड़ता है। वस्तुतः इस स्थितिमें प्रवृत्तिके कार्योंका सर्वथा त्याग ही सुविधाजनक तथा वाञ्छनीय है। पर मैं प्रवृत्तिके कार्योंमें रहता हूँ, इसके कई बार वृत्तियोंको बलात् संसारमें बनाये रखनेका प्रयत्न करना पड़ता है।''

* * * *

||श्रीहरिः||

प्रवासस्थान— गीताभवन स्वर्गाश्रम,
पौड़ी-गढ़वाल, उ.प्र.
तिथि— ज्येष्ठ शुक्ल २, वि.सं.२०२६,
(१८ मई, १९६९)

सम्मान्य महोदय,

सादर सप्रेम हरिस्मरण। इधर मेरा स्वास्थ्य बहुत ढीला रहता है। मस्तिष्क भी ठीक नहीं रहता। कार्य करनेकी न तो शक्ति दीखती है और न वृत्ति ही।

इस अवस्थामें इच्छा न रहनेपर भी मैं चाहता हूँ कि मुझे विद्यालयकी समितिकी सदस्यतासे तथा उसके पदसे अलग कर दिया जाय। किसीका देहावसान हो जानेपर दूसरे लोग कार्य सँभालते ही हैं। यहाँ भी ऐसी ही बात समझनी चाहिए। मैं जानता हूँ कि कुछ कठिनाई होगी ही, परन्तु आवश्यकता विशेषपर व्यवस्था करनी ही पड़ती है।

शेष भगवत्कृपा।

प्रति— मूकबधिर विद्यालय,
गोरखपुर

आपका
हनुमानप्रसाद पोद्दार

* * * *

।।श्रीराधा।।

गीताभवन
२९ मई १९६९

पूज्य स्वामी श्रीसदानन्दजी महाराज,

सादर नारायण। रातको माननीय नन्दाजीके साथ आप पधारे थे। मैं श्रीनन्दाजीके प्रति श्रद्धा तथा उनकी हिन्दू प्रीतिके लिए बहुत सम्मान रखता हूँ। उनके संकोचसे मैं कह नहीं सका। इसीसे आज आपके द्वारा कहलवा दूँगा।

कल ज्वर कम था। आज फिर कुछ बढ़ गया है। शरीर अशक्त है। दूसरी बात– असली यह है कि मैं अपना शेष बचा हुआ थोड़ा-सा जीवन केवल एकान्त भगवत्स्मरणमें लगाना चाहता हूँ, एकान्तमें रहकर चिन्तन करना चाहता हूँ। भगवान्‌से तथा आप सब हितैषियोंसे भी यही भीख माँगता हूँ कि मुझे इसमें सहायता करें। मेरी किसी भी पब्लिक काममें रुचि नहीं रह गयी है। सभी संस्थाओं– यहाँतक कि 'गीताप्रेस' और 'कल्याण'से भी मैं सम्बन्ध नहीं रखना चाहता। मैंने सभी जगह लिखित त्यागपत्र भेज दिये हैं। यह मेरी कमजोरी हो, प्रमाद हो, कार्यक्षेत्रसे भागनेकी कायरता हो– कुछ भी हो, पर मैं कुछ भी कर नहीं पाता। मेरी इस दुर्बलता और कायरताकी बात आप श्रीनन्दाजीको नम्रताके साथ समझानेकी कृपा करें और मुझसे किसी कामकी कोई आशा न रखें। मेरी हृदयसे सहानुभूति है, पर मैं विवश हूँ। आज तो मेरा दिमाग ही खराब हुआ जा रहा है। शामतक कैसा रहेगा, पता नहीं।

मैं आपके सौहार्द तथा स्नेहके लिये अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, पर अपनी विवशतायुक्त असमर्थताके लिए क्षमा चाहता हूँ। श्रीनन्दाजीके चरणोंमें प्रणाम करके उनसे क्षमा चाहता हूँ।

आपका अपना ही
हनुमानप्रसाद

स्वामी श्रीसदानन्दजी महाराज,
परमार्थ निकेतन, स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश)

* * * *

यह उपरति इस सीमातक पहुँच गयी कि अंतोगत्वा अपने जीवनरससे सींची गयी संस्था गीताप्रेस और उसके शतदल 'कल्याण'से भी उनका मन-मधुकर विरत हो गया। इस सम्बन्धमें लिखा गया एक महत्त्वपूर्ण पत्र नीचे दिया जाता है–

॥श्रीहरिः॥

(गोविन्द-भवनके ट्रस्टकी मीटिंगमें पढ़नेके लिए)

२९ मई १९६९

सबसे सादर प्रणाम।

आज सबेरेसे ही ज्वर कुछ बढ़ गया है और शरीरमें थकावट मालूम हो रही है। साथ ही दिमाग भी खराब हुआ जा रहा है। मैं भरसक पूरा प्रयत्न कर रहा हूँ कि मीटिंगमें उपस्थित रहकर बातचीत करूँ, पर मेरे बशकी बात नहीं है। यदि कदाचित् मेरी बाह्यचेतना नष्ट हो गयी तो मैं हाजिर नहीं हो सकूँगा। आपलोग मीटिंग अवश्य कर लीजियेगा, मेरे लिए टालियेगा नहीं।

मेरी प्रार्थना है–

१. कपड़ेका काम श्रीमोहनलालजीके इच्छानुसार जारी रहे, उसमें दखल न दिया जाय।
२. आपसमें जहाँतक हो, प्रेम बढ़े। हमलोग संस्था चलानेमें कारण बनें, टूटनेमें नहीं।
३. अपनी-अपनी भूलोंके लिए पश्चात्ताप करें, दूसरोंकी भूल सिद्ध करनेका प्रयास न किया जाय।
४. जीवनका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति है – यही समझकर प्रेसकी सेवा, संस्थाओंकी सेवा प्रेम-त्याग और विनम्रताके साथ की जाय। अभिमान न आने पाये।
५. मेरा त्याग-पत्र कृपया स्वीकार कर लिया जाय, क्योंकि मैं काम करनेमें असमर्थ हूँ। श्रीईश्वरीप्रसादजी या अन्य किन्हींको अध्यक्ष और किन्हीं दूसरे सज्जनको ट्रस्टी चुन लिया जाय।
६. 'कल्याण'के सम्पादनकी दूसरी व्यवस्था सोची जाय। श्रीरामनारायण-दत्तजीको मैंने पत्र लिख दिया है।

७. मेरे सारे अपराध क्षमा कर दिये जायँ। आप सभी मुझपर अपार स्नेह तथा कृपा रखते हैं। मैं उसका आदर ठीक-ठीक नहीं करता। अनादर तथा अपराध भी कर बैठता हूँ। आप सभी क्षमा करें।

८. श्रीस्वामी रामसुखदासजी महाराजकी सम्मति लेकर उसके अनुसार सब कार्य-संचालनकी चेष्टा करें। इससे बड़ा लाभ रहेगा। सत्संग-संचालनका सारा भार उन्हें दे दें। उन्होंने कृपापूर्वक स्वीकार किया है।

९. गीताभवनका मनमुटाव अब भगवान्‌के नामपर श्रीसेठजीकी पवित्र पुण्य स्मृतिमें उनके आदरार्थ, अपने कल्याणार्थ और मुझे दीनपर कृपा करके सदाके लिये समाप्त करके सच्चे हृदयसे गले लगाकर मिलें। मेरी यह विनीत प्रार्थना है सबसे। फिर सादर सविनय प्रणाम।

विनीत
हनुमानप्रसाद पोद्दार

* * * *

एक अच्छे संन्यासी महात्मा भाईजीके पास कभी-कभी आते थे तथा उनसे एकान्तमें वार्ता करके चले जाते थे। समय-समयपर वे पत्रद्वारा भी भाईजीसे कुछ पूछते रहते थे। भाईजी उनसे अपने जीवनकी, साधनाकी, अनुभूति आदिकी बातें प्रायः छिपाते न थे। उन महात्माके पत्रोंका उत्तर लिखते समय भी वे बहुत खुल जाते थे। नीचे उन्हीं महात्माको भाईजीद्वारा लिखा गया पत्र दिया जा रहा है—

।।श्रीहरिः।।

गीताभवन, स्वर्गाश्रम
आषाढ़ शुक्ल ५, सं. २०२६
(जून १९६९)

सम्मान्य श्री.........,

सादर प्रणाम। आपका पत्र मिला था। आपने मेरे शरीरके सम्बन्धमें चिन्ता प्रकट की, यह आपकी कृपा है। आप जानते हैं—पाञ्चभौतिक शरीर विनाशी है। इससे वास्तवमें हमारा क्या सम्बन्ध है। यह तो नाश होगा ही। इसके लिये कुछ भी चिन्ता नहीं है। भगवत्कृपा तथा

आप गुरुजन-स्नेहियोंकी सद्भावनासे मैं 'स्वस्थ' हूँ। फिर, मेरा तो यहाँ वास्तवमें अब कोई काम भी नहीं रहा; जिस कार्यके लिये इस पाञ्चभौतिक शरीरके माध्यमसे मुझे भेजा गया था, उनका वह कार्य पूरा हो गया। जो कुछ मेरेद्वारा होना अभीष्ट था, वह हो गया। उसका फल निश्चय ही बहुत ही श्रेयस्कर– 'उनके' इच्छानुसार हुआ है; पर वह क्या है, आगे क्या होगा, यह जाननेकी न मुझे आवश्यकता है न इच्छा। यन्त्रको तो जैसे घुमाया, घूम गया। क्यों घुमाया, घुमानेका क्या परिणाम होगा– यह घुमानेवाले यन्त्री जानें। इसके अतिरिक्त एक बात और है– इस समय जगत् पतनोन्मुख है। कोई क्षेत्र भी ऐसा नहीं है– आध्यात्मिक कहे जानेवाले उच्चस्तरसे लेकर चोरी-डकैती, अनाचार- व्यभिचारके निम्न स्तरतक– जिसमें दम्भ, नीच स्वार्थ, राग-द्वेष, काम-लोभ, मद-अभिमान, ईर्ष्या-वैर आदि न आ गये हों। अतः इस संसारमें– इस देहमें मैं रहना भी नहीं चाहता। यद्यपि सब भगवान्‌की ही लीला है या मायामात्र है, तथापि देह व्यावहारिक जगत्‌में है और वह व्यावहारिक जगत् इस समय गिरते-गिरते बहुत नीचे स्तरपर आ गया है; और उसके नीचे गिरनेकी गति रुकी नहीं है, वरं उत्तरोत्तर जोर पकड़ रही है। ऐसी स्थितिमें इस व्यावहारिक जगत्‌में, इस देहमें रहना भी निरर्थक है। ऐसी कोई कामना तनिक भी नहीं है कि शरीर जल्दी चला जाय, या रहे; पर जल्दी चला जाय– यह अच्छा लगता है। न जायगा तो भी प्रसन्नता है।

मेरी यथार्थ स्थिति और जीवनकी घटनाओंका किसीको भी पूरा पता नहीं है। लोग मेरे प्रेमी बने श्रद्धासे मेरी जीवनी या संस्मरण लिखते हैं, पर उनमें वे यथार्थसे बहुत दूर– केवल बच्चोंकी-सी अपने मनोऽनुकूल बातोंको– सो भी अपनी दृष्टिके अनुसार लिखते हैं। उनसे यथार्थ वस्तुका पता कभी नहीं लग सकता। रही श्रीराधामाधवकी अनुभूतिकी, सो जब मेरी ही बात लोग नहीं जानते, तब श्रीराधामाधवके स्वरूपकी बात कैसे जानेंगे ?

आजकल अधिकतर मेरा इस जगत्‌से कोई सम्बन्ध भीतरसे नहीं है। कार्यकालमें– बाहर भी बहुत ही थोड़ा है। और जब जगत्‌की सर्वथा अनुभूति मिट जाती है, उस समय तो भीतर-बाहर कहीं भी जगत् नहीं रह जाता। एकमात्र वे ही रह जाते हैं। यह कोई ध्यान या समाधि नहीं

है, जिसका किसी अभ्याससे सम्बन्ध हो, न किसी क्रियाका ही फल है। यह तो उनकी अपनी लीलाकी एक विलक्षण स्फूर्ति है या उनकी लीलाकी लीला है– जो अत्यन्त ही दुर्लभ है। यहीं वास्तवमें ठीक-ठीक स्वरूपका साक्षात्कार होता है। कई बार ऐसा विचार होता है कि इस लीलाकी कुछ, किसी अंशमें अनुभूति अमुक-अमुकको भी हो जाती; पर लीलामयका संकेत इसे स्वीकार नहीं करता और वह जो कुछ कहता है, वही ठीक है।

जगत्का क्या होगा– इस स्तरमें उसे जाननेकी न इच्छा है न आवश्यकता। सृजन-संहार इसका स्वरूप ही है। जैसा कुछ उनकी बाह्यलीलाका विधान बन चुका है, वह सामने आता जायगा। कोई यदि चाहे और क्षमता हो तो उसे देखता रहे। नहीं तो, अलग जहाँ है, वहीं बना रहे। इसकी ओर देखे ही नहीं।

आपके प्रश्न तो बहुत हैं, और हैं भी महत्वके; पर इतनेमें ही उनका उत्तर समझ लें। आपके सामने– किसीके सामने भी उन सब चीजोंको प्रकट करनेका निषेध है। जिन बातोंको आपके सामने प्रकट करनेमें संकोच न करनेका आदेश है, वे बातें वहींतक लिखी गयी हैं। इसके आगे बढ़नेका संकेत नहीं है।

जितना, जो कुछ, जिसके लिये मुझसे करवाना अभीष्ट था, उतना वे मुझसे करवा चुके। इसका परिणाम भी वैसे बहुत ही मङ्गलमय हुआ है तथा दूरतक एवं दीर्घकालतक व्यापक होगा; पर अभी अव्यक्तरूपसे स्थित है। कभी शायद प्रकट हो, या न भी हो। मुझे यह जाननेकी इच्छा नहीं है।

बस, इतना ही।

आपका
हनुमानप्रसाद पोद्दार

* * * *

उस स्थितिका किंचित् परिचय महामहोपाध्याय पं. श्रीगोपीनाथजी कविराजको दिसम्बर १९७० में लिखे गये श्रीभाईजीके एक पत्रकी निम्नाङ्कित पंक्तियोंसे प्राप्त किया जा सकता है, जो मूलतः बँगला भाषामें लिखा गया था–

''मैं सदा-सर्वदा इस प्रकारका अनुभव करता हूँ कि भगवान्‌की दिव्य कृपासुधाका वर्षण मेरे ऊपर नित्य हो रहा है............। वर्तमान समयमें बहुत दिनोंसे मेरा शरीर अस्वस्थ है। पर भगवत्कृपासे शरीरकी इस अस्वस्थ अवस्थामें भी मैं विलक्षण आनन्द-लाभ कर रहा हूँ। प्रायः एकान्तमें रहता हूँ और उस समय एक ऐसी स्थिति रहती है, जो सर्वथा अनिर्वचनीय तथा अचिन्त्य है।''

अन्तिम क्षणोंतक गीताप्रेसके भविष्यकी चिन्ता

इसके कुछ ही दिनों बाद भाईजी शय्याग्रस्त हो गये। उस स्थितिमें भी उनके मानसनेत्रोंके सामने 'कल्याण' और गीताप्रेसके भविष्यकी चिन्ता मँड़राती रही। त्यागपत्र देनेके बावजूद एक क्षणके लिए भी न तो उसकी सेवासे उनकी लेखनी विरत हुई, न उसके भविष्यके प्रति ही उनकी किसी रूपमें उदासीनता परिलक्षित हुई। २२ मार्च १९७१ के दिन भाईजी नित्यलीलाने लीन हो गये, उसके करीब डेढ़ महिना पहले गोविन्द-भवन ट्रस्टके अध्यक्ष श्रीईश्वरीप्रसाद गोयनकाके नाम लिखा गया उनका एक पत्र नीचे दिया जा रहा है –

॥श्रीहरिः॥

गीतावाटिका, गोरखपुर
५ फरवरी १९७१

प्रिय श्रीईश्वरीप्रसादजी,

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र कई दिनों पहले मिला था। मैं समयपर उत्तर नहीं लिख सका। स्वास्थ्य ढीला रहनेके कारण पत्र लिखना-लिखाना कठिन हो गया है, कोई विचार मत कीजियेगा।

मेरा स्वास्थ्य अच्छा नहीं है। मैं किसी कामको स्वयं नहीं देख सकता,

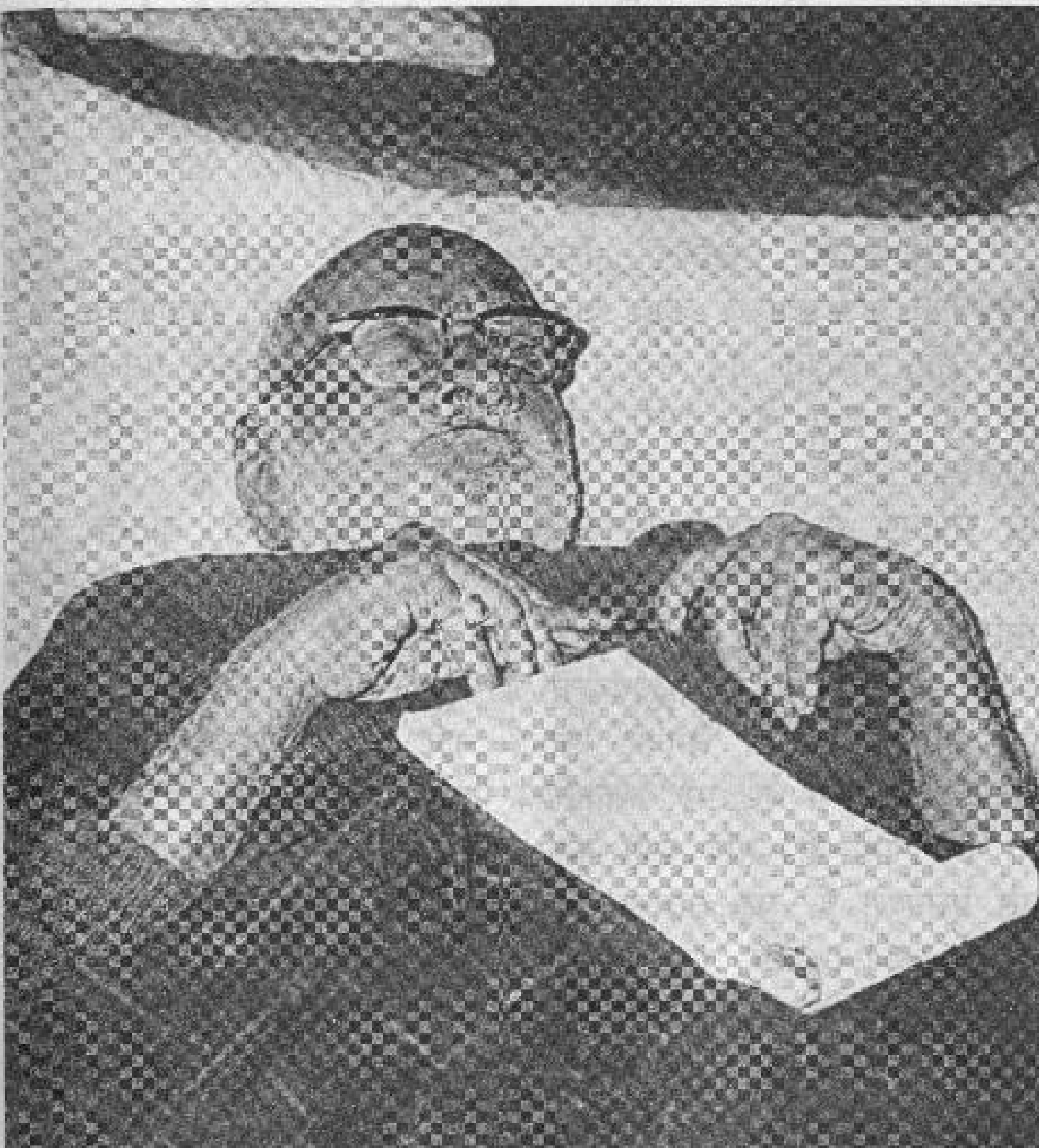

चिर-विश्राम के एक सप्ताह पूर्व काव्य-रचनामें संलग्न

इसलिए मेरा कुछ लिखना अनुचित-सा है, पर प्रेममें आसक्ति है और वर्तमान युगकी धर्म-विरोधी वृत्तियोंसे भारतीय संस्कृतिकी रक्षाके लिए कुछ काम होना आवश्यक है। इसलिए कई बार कई बातें मनमें आती हैं, उनमेंसे कभी कुछ लिख देता हूँ –

गीताप्रेसकी 'गुडविल' (साख) भगवान्‌की दयासे और पूज्य श्रीसेठजीके पुण्य-प्रतापसे बहुत अच्छी है। सभी लोगोंकी गीताप्रेसके प्रति प्रीति और सद्भावना है। अतएव गीताप्रेसके द्वारा बहुत-कुछ धर्म-प्रचारका कार्य हो सकता है। दूसरी संस्थाएँ उतना नहीं कर सकतीं। पर गीताप्रेसकी स्थिति ऐसी है कि अन्यान्य ग्रंथोंकी बात तो दूर रही, गीता और रामायण भी लोगोंकी माँगके अनुसार दे नहीं सकते। बाहरके लोग गीताप्रेससे बहुत बड़ी-बड़ी आशा करते हैं। वर्तमान-युगमें मजदूरोंकी मानसिक धारण दूसरी हो गयी है और काम भी ज्यादा हो गया है। इसलिए बड़ी मशीनकी आवश्यकता है। पूज्य श्रीसेठजीने तो मेरे सामने कभी भी बड़ी मशीन लेनेकी 'नाहीं' नहीं की थी। एक बड़ी मशीन लेनेकी सोचा गया था, पर कलकत्तेका मकान लेनेकी बात हो जानेसे वह बात रुक गयी थी। यदि कहीं कभी कोई बात उन्होंने कही थी तो वह किस प्रसंगवश है, यह सोचना चाहिए। परिस्थिति बदलती है तो उसीके अनुसार कार्य-पद्धतिमें भी परिवर्तन करना पड़ता है। मशीनोंके दाम पहलेकी अपेक्षा बहुत बढ़ गये हैं। नयी मशीनके आनेमें भी समय बहुत लगता है। दिल्लीमें एक ऑफसेट मशीन भाई जयदयालके एक कर्मचारी श्रीहितशरणजीके पास हैं। वह मशीन करीब डेढ़ लाखमें मिल सकती है। 'कल्याण'के दो फर्मे एक साथ छप सकते हैं। मेरी समझमें यह मशीन अवश्य ले लेनी चाहिए और उसे गोरखपुरमें न बैठाकर अन्य जगह बैठाना चाहिए, जिससे छपाईके काममें बाधा न आये और मजदूरोंमें भी असंतोषकी बात न रहे। पहले दिल्लीमें बैठानेकी बात सोची गई थी, पर नगर बहुत बड़ा होनेसे खर्च अधिक होगा और स्थानकी भी तंगी आयेगी।

श्रीबिहारीलालजीसे मैंने इस विषयमें बात कर ली है कि मशीन वृन्दावनमें बैठायी जाय और कुछ काम सम्भालनेका जिम्मा भी वे ले लें। वहाँ हमारे सूर्यकान्तके दादा श्रीशिवभगवानजी फोगलाने एक आश्रम बनवाया था, उस जगह मशीन बैठायी जा सकती है। श्रीबिहारीलालजी

मुझे बहुत मानते हैं। अतः वे मेरी बात मानकर काम सँभाल लेंगे।

यहाँकी कुछ मशीनें बिकी थीं, अतः रुपयोंकी कोई दिक्कत नहीं होगी। रुपयोंकी और भी व्यवस्था हो सकती है। अतएव मेरा तो यह निश्चित मत है कि मशीन अवश्य ले लेनी चाहिए। ऐसी मशीनका मिलना बहुत कठिन है। सब दृष्टियोंसे विचार करनेपर यही मालूम देता है कि गीताप्रेसका काम जबतक भगवान् चलायें, तबतक अपनी ओरसे विशेष प्रयत्न करके चलाना चाहिए। पूज्य श्रीसेठजीके होनेतक कोई कठिनाईकी बात नहीं थी। वे मेरे निवेदनके अनुसार प्रायः काम करनेको तैयार रहते थे और उनसे बिना पूछे कोई काम कर लेता तो उसमें प्रसन्न होते थे। पर अब मैं आपलोगोंसे बिना पूछे स्वतन्त्रतापूर्वक कोई काम करना नहीं चाहता, संकोच होता है। मेरे इस निवेदनपर आप विचार करके सम्मति लिखियेगा। साथ ही श्रीहरिरामजी वहाँ हों तो उनसे भी बात करनी है। पूज्य श्रीस्वामीजीसे भी बात कर लीजियेगा।

पत्रका उत्तर शीघ्र दीजियेगा। मेरा स्वास्थ्य बहुत ढीला चल रहा है। यह पत्र पड़े-पड़े लिखवा रहा हूँ।

आप स्वस्थ एवं सानन्द होंगे। शेष भगवत्कृपा।

आपका

हनुमानप्रसाद पोद्दार

* * * *

वसीयतनामाके कुछ अंश

२६-२७ दिसम्बर १९६९ को श्रीभाईजीका स्वास्थ्य बहुत अधिक खराब हो गया था। गोरखपुरके डाक्टर सभी निराश हो गये थे। दिल्ली ऑपरेशनके लिये जानेकी बात तय हो रही थी। अचानक भगवान्‌की कृपासे स्थितिमें सुधार हो गया। क्या, कैसे हुआ, भगवान् जानें। उसी दिन रात्रिके प्रथम प्रहरमें श्रीभाईजीने एक पैड माँगा और उसपर चुपके-चुपके कुछ लिखना आरम्भ किया। थोड़ा-थोड़ा करके लगभग एक मासमें, अर्थात् २७ जनवरी १९७० को उन्होंने उसे 'मेरा वसीयतनामा' कहकर पूर्ण किया।

उसीके कुछ अंश यहाँ दिया जा रहा है—

प्रस्तावना

॥श्रीहरिः॥

गोरखपुर

दिनाङ्क— २७-१२-६९

कल ज्यादा दर्द था, आज कुछ कम है। मेरे मनमें आया कि मैं अपनी कुछ मान्यताओं और इच्छाओंको— हो सके तो लिख दूँ। तदनुसार लिखना शुरू किया है। मनकी बातें सारी तो लिखी ही नहीं जायँगी। कुछ बातें लिखी जा सकती हैं। लिखनेके समय मनमें जो चित्र होगा, सत्य-सत्य उसीको अङ्कित करनेका विचार है। कहीं कोई भी राग-द्वेष तथा अन्य कोई भी हेतु नहीं है। लिखा जानेपर जिनको मिले, वे स्वयं अपने लिये कुछ लाभकी बात दीखे और इच्छा हो तो उसे ग्रहण कर सकते हैं।

उम्र ७८ वर्षकी हो गयी। भारतमें प्रायः ६० वर्षकी उम्र मृत्युकी उम्र मानी जाती है। तदनुसार मेरा शरीर तो अधिक टिक रहा है। शरीर छूटनेवाला है ही। इसकी जरा भी चिन्ता या दुःख नहीं होना चाहिये। आत्माका कभी नाश नहीं होता, शरीर नष्ट हुए बिना रहता नहीं। यह अपरिहार्य है। मनुष्य मोहवश अधिक जीना चाहता है। वास्तवमें उसे न तो शरीरको अधिक रखनेकी इच्छा करनी चाहिये और न शरीरके जल्दी नष्ट हो जानेकी। कर्मवश सहज जो कुछ होना है, होता रहे। बस, सावधानी तो केवल एक ही बातकी रखनी है कि हर स्थितिमें भगवान्‌का स्मरण होता है या नहीं।

शरीरमें कहीं भी पीड़ा होगी और वह जिस मात्रामें होगी– उसका अनुभव तो होगा ही; अन्तर इतना ही होता है कि जो शरीरसे अपनेको पृथक् देखता है, उसे पीड़ाके साथ-साथ होनेवाला, दुःख नहीं होता– वह इस बातसे दुःखी नहीं होता कि 'मैं बीमार हो गया, भयानक बीमारी है, कब अच्छा होऊँगा, मर तो नहीं जाऊँगा– इत्यादि;' क्योंकि वह नाम-रूपवाले शरीरको 'मैं' नहीं मानता; आत्माको मानता है; आत्मा नित्य नीरोग तथा अमर है। पर उसको (शरीरसे अपनेको पृथक् देखनेवालेको) पीड़ाका ज्ञान– पीड़ाजनित स्थितियोंका भोग तो होगा ही। इस प्रकार मुझे भी पीड़ाका बड़ा अनुभव हो रहा है। पेटका असह्य दर्द सहन करनेमें कष्ट होता है। पता नहीं, शरीर जायगा या रहेगा। वैसे इसकी अब आवश्यकता भी नहीं रही। 'विशेष कार्य' समाप्त हो चुका। अब तो शरीरका प्रारब्ध, जो 'विशेष कार्य'के कारण रुक गया था, समाप्त होते ही शरीर चला जायगा। घरवालोंको, स्वजनोंको, मुझमें किसी भी कारणसे राग रखनेवालोंको मोहवश दुःख होगा ही; पर विधाताका अमिट विधान समझकर दुःख नहीं करना चाहिये और मानव-जीवनकी यथार्थ सफलताके लिये मेरे भावोंके अनुसार या जँचे जैसे ही प्रयत्न अवश्य करना चाहिये।

''मेरा वसीयतनामा'' के कुछ अंश–

गोरखपुर
२७-१-७०

मेरी कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं है। भगवान्‌के मङ्गलविधानके अनुसार जो कुछ हुआ है, हो रहा है और होगा– वही ठीक है और वही मेरी इच्छा है।

तथापि मेरे मनमें ऐसी बात आयी थी कि मेरे जीवनकी कुछ अनुभूतियाँ, कुछ खास मान्यताएँ, कुछ परिस्थितियाँ, कुछ कामनाएँ, कुछ विचार– संकेतसे या संक्षेपसे लिख दूँ, जिससे जो लोग कुछ जानना चाहते हैं– जिज्ञासा रखते हैं, जान-समझकर उससे लाभ उठा सकें।

मेरे पास अपना न तो एक पैसा कहीं जमा है, न मेरे कहींसे कोई आमदनी ही है। रतनगढ़में कुछ मकान आदि हैं। उसका वसीयतनामा पहले

लिख दिया गया था। अब सम्पत्तिके रूपमें– 'ये मेरे कुछ विचार मात्र' हैं, जिन्हें लिख रहा हूँ। ये सर्वसाधारण, पब्लिकमें प्रचारके लिये नहीं हैं। परिवारके, घरके तथा निकट-सम्पर्कमें जो लोग हैं, वे इन्हें पढ़ें और जिनको कुछ लेना हो, वे अपना अधिकार समझकर अवश्य ले लें– यह निवेदन है।

मेरे आध्यात्मिक उत्तराधिकारी

मेरे आध्यात्मिक उत्तराधिकारीका कोई एक नामनिर्देश नहीं किया जा सकता, मेरे लिये सभी स्नेहपात्र हैं; पर किसीको उतना ही और वैसा ही उच्चस्तर या मध्यस्तरका अंश प्राप्त होगा, जितनी उसकी मेरे प्रति विशुद्ध भावना रही होगी और जो जितनी आध्यात्मिक भूमिकापर आरूढ़ होगा। हाँ, जिन्होंने दम्भ किया, मुझे ठगने या मुझसे केवल लौकिक भोग-सुख-साधनके लिये सम्पर्क रक्खा है, उनको शायद ही कुछ मिलेगा; किसीको मिलेगा तो वह बहुत ही कम हिस्सा। दम्भी और दूसरोंको ठगनेकी चेष्टा करनेवाले तो स्वयं आत्मवञ्चना करते हैं, उनको कुछ भी प्राप्त होना प्रायः असम्भव है।

मुझमें जिनकी जरा भी श्रद्धा, प्रीति या सद्भावना हो, उनसे मेरा निवेदन है कि वे सभी नर-नारी परम सात्त्विक, त्यागोन्मुख, भगवत्सम्बन्धयुक्त जीवन बनायें। 'कल्याणकारी आचरण' नामक पुस्तकमें मेरे जो विचार छपे हैं, उनका यथासाध्य पूरा पालन करें तो अवश्य ही उनको भगवत्कृपासे परमवस्तुकी प्राप्ति होगी।

* * * *

निकट परिवारके, घरके तथा मेरे निकट एवं मेरे साथ रहनेवाले अन्यान्य सभी, जो मेरे प्रति न्यूनाधिक आत्मीयता, स्नेह-श्रद्धा रखते हैं, मुझे बहुत ही प्रिय हैं। सभीमें न्यूनाधिक सद्गुण हैं; मेरी उन सभीके प्रति सच्ची शुभकामना है। वे सभी मेरे भाव तथा विचारोंका उत्तराधिकार यथायोग्य प्राप्त करें– मेरे साथ भावसाम्य प्राप्त करके भगवान्‌के मार्गमें आगे बढ़ें– मैं यह हृदयसे चाहता हूँ और उन सबसे सस्नेह अनुरोध करता हूँ कि वे ऐसा अवश्य करें; इससे उनका कल्याण होगा।

बाबा चक्रधरजी (राधाबाबा)

बाबा चक्रधरजी पू. श्रीजयदयालजी (श्रीसेठजी) की प्रेरणासे कृपापूर्वक यहाँ पधारे और अबतक मेरे साथ ही हैं। बाबासे मेरा जो कुछ सम्बन्ध है, उसे किन्हीं शब्दोंमें नहीं बतलाया जा सकता। न किसी 'संकेत' या 'न्याय'से ही बतलाया जा सकता है। उन्होंने मेरी जो कुछ सेवा की है, वह अतुलनीय है। मेरे द्वारा किये हुए अपमान तथा दुर्व्यहारको जितना सहा है, उतना सहकर शायद ही कोई अपनेको सुस्थिर रख सके तथा प्रेमका निर्वाह कर सके। उनकी स्थिति क्या है, मैं नहीं बता सकता। इतना जानता हूँ कि वे महान् हैं और सर्वथा 'मेरे अपने' हैं और मुझे वे सर्वथा 'अपना' मानते हैं।

मेरा देहत्याग पहले हो जाय और मेरे बाद उनका शरीर रहे, तब तो मैं चाहता ही हूँ। पहले भी चाहता हूँ कि उनका भीतरी-बाहरी स्वरूप एक-सा 'मूर्तिमान् अध्यात्म' हो– उनके रोम-रोमसे, उनके शरीरको स्पर्श करके जानेवाले वायुसे– लोगोंको अमोघ आध्यात्मिक प्रकाश मिले तथा विशुद्ध आध्यात्मिक बल मिले। उनकी वाणी (चाहे वह मौन भाषामें बोलती हो, चाहे अमौनमें) भगवत्प्रेम-सुधाका प्रवाह बहा दे। पुण्यात्मा अधिकारियोंको ही नहीं, सर्वथा अनधिकारियोंको भी अधिकारी बना दे। आपामर– महान् पातकीतकको भगवान्‌के प्रेमार्णवमें डुबो दे जबर्दस्ती। कोई किसी प्रकार भी सम्पर्क-लेशको प्राप्त कर ले, वही परम अधिकारी बन जाय। उनकी क्रियामें भगवान्‌की लीला मूर्तिमान् हो। उनके श्वास-श्वाससे विशुद्ध प्रेमानिलका प्रवाह बहे। ऐसा नाट्य-कौशल हो कि बिना ही रङ्गमञ्चके दिव्य सहज रङ्गमञ्च बन जाय और दर्शकमात्र आप्यायित होकर ही जायँ। इस सिंहनीका दूध ही ऐसा हो, जो बूँद गिरते ही दिव्य स्वर्णपात्र तैयार कर दे। सर्वत्र भगवान्-ही-भगवान्, भगवत्प्रेम-ही-भगवत्प्रेम– एकमात्र भगवत्प्रेम ही छा जाय। केवल प्रेम ही सुनायी दे, प्रेम ही दिखायी दे, प्रेमका ही स्पर्श हो, प्रेमका ही सौरभ प्राप्त हो और सर्वत्र प्रेमका ही मधुर रसास्वादन हो। भगवान् कहीं मेरा यह सुखस्वप्न सत्य करें।

* * * *

मेरे जीवनपर पूज्य श्रीसेठजीका बहुत बड़ा प्रभाव

यों तेरे मेरे जीवनपर उपनिषदोंका, ऋषियोंका, श्रीमद्भागवतका तथा वैष्णवग्रन्थोंका बड़ा प्रभाव है; महान् आचार्य श्रीशंकराचार्य तथा भगवान् श्रीचैतन्यदेवसे मुझे सर्वाधिक लाभ प्राप्त हुआ है। *पर यदि सत्य कहा जाय तो मेरे जीवनपर बहुत बड़ा प्रभाव श्रद्धेय पूज्य श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका है।* मेरे जीवनको बहकने तथा एक ही अध्यात्मपथपर सुरक्षित रखनेका सारा श्रेय उन्हींकी कृपाको है। उनको मेरे पास भगवान्ने ही भेजा था। यद्यपि सम्बन्धमें वे मेरे मौसेरे-भाई होते थे, तथापि दूर-दूर रहनेसे मिलनेका काम नहीं पड़ा था। कलकत्तेमें पारख कोठीमें पिताजीके साथ हमारी दूकानपर वे स्वयं आने लगे और उन्होंने मुझे अपनी ओर खींचा। यह लगभग सन् १९१० की बात है, तबसे शरीरके अन्ततक उनकी कृपा बराबर बनी रही। मैंने कई बार गीताप्रेस और 'कल्याण'के कामको छोड़कर भागना चाहा, पर उनकी प्रबल कृपाशक्तिने नहीं भागने दिया। उनसे मुझे जो कुछ मिला, उसकी कहीं तुलना नहीं हो सकती। यों कहना चाहिये कि मुझमें यदि कहीं कोई अच्छापन है तो यह भगवान्के एवं उनके कृपादानका फल है। बुराई सारी मेरी है।

मेरी अतुल सम्पत्ति

मझे जो कुछ लाभ हुआ, उसमें उपर्युक्त संत-कृपाके साथ-साथ तीन चीजोंकी प्रधानता है—

१. सबमें भगवान्को देखना।
२. भगवत्कृपापर अटूट विश्वास।
३. भगवन्नामका अनन्य आश्रय।

यही 'मेरी अतुल सम्पत्ति' है और यह इतनी विशाल है कि असंख्य लोगोंके द्वारा इसके ग्रहण किये जानेपर भी यह कम नहीं होगी। आप जो कोई मेरे यथार्थ उत्तराधिकारी बनना चाहें, सबमें भगवान् देखकर सबका हित-सुख-सम्पादन तथा सम्मान करें। निरन्तर बरसनेवाली भगवत्कृपाकी अहैतुकी अनन्त सुधाधारामें सराबोर रहें और अनन्य निष्ठा-विश्वासके साथ भगवन्नाम-जप-कीर्तन करते रहें। ये तीनों करेंगे तो अवश्य ही पारमार्थिक लाभ होगा।

मेरे सम्पर्कमें आनेवाले

मुझसे जीवनमें घरके एवं बाहरके इतने लोग मिले हैं, जिनकी संख्या नहीं की जा सकती। इनमें पूर्वजन्मोंके सम्बन्धके कारण सम्पर्कमें आकर कर्मानुसार अनुकूल-प्रतिकुल फल देने-लेनेवाले, किसी हेतुसे नये सम्पर्कमें आनेवाले, अनायास सहज ही मिल जानेवाले, किसी लौकिक कार्यके लिये मिलनेवाले, लौकिकके साथ-साथ विधाताके विधानसे किसी अज्ञात 'विशेष कार्य'में भी सहयोग देनेवाले और केवल 'विशेष कार्य'के लिये ही न्यूनाधिकरूपसे सम्पर्कमें आनेवाले– सभी प्रकारके लोग हैं।

शिलाँग, कलकत्ता, शिमलापाल, रतनगढ़, बम्बई, गोरखपुर तथा अन्यान्य स्थानोंमें– पूज्य महात्मा, संन्यासी, पूज्य आचार्य, सरकारके उच्च अधिकारी, न्याय-शासन-विभागके अधिकारी, शिक्षा-विभागके महानुभाव, गीताप्रेस, 'कल्याण' तथा 'कल्याण'-सम्पादन-विभागके कार्यकर्ता, सेवा-सहायता आदि कार्योंसे सम्बन्धित, घरमें रहनेवाले, घरके कर्मचारी, सेवक, मित्र, साहित्यिक क्षेत्रमें सम्पर्कमें आनेवाले, 'कल्याण'के लेखक आदिके रूपोंमें मिलनेवाले– ऐसे भी बहुत लोग हैं, जिनका न्यूनाधिकरूपसे भगवान्‌के 'विशेष कार्य'से सम्बन्ध है। यह आवश्यक नहीं कि उस 'विशेष कार्य'का सबको पता हो। कुछ नाम ये हैं–

द्वारका शारदापीठके जगद्‌गुरु शंकराचार्य, पुरी गोवर्धनपीठके जगद्‌गुरु शंकराचार्य, शृंगेरीमठके जगद्‌गुरु शंकराचार्य, बदरीनाथमठ (ज्योतिर्मठ) के जगद्‌गुरु शंकराचार्य, श्रीरामानुज-सम्प्रदायके जगद्‌गुरु श्रीअनन्ताचार्यजी महाराज, श्रीराघवाचार्यजी महाराज, वल्लभ-सम्प्रदायके आचार्य श्रीगोकुलनाथजी महाराज, महात्मा श्रीभवानीशंकरजी, श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी, स्वामी भोलेनाथजी, स्वामी प्रज्ञानपादजी, स्वामी माधवानन्दजी, योगिराज स्वामी प्रज्ञानाथजी, स्वामी अखण्डानन्दजी (सस्तुँ साहित्यमण्डलवाले), स्वामी प्रेमानन्दतीर्थजी, स्वामी ज्ञानानन्दजी (भारतधर्म महामण्डल), स्वामी संकर्षणदासजी, बाबा रामकृष्णदासजी, स्वामी गौराङ्गदासजी, स्वामी चिदानन्दजी सरस्वती, स्वामी पुरुषोत्तमानन्दजी, श्रीगोमतीदासजी, स्वामी मङ्गलनाथजी, स्वामी स्वयंज्योतिजी, स्वामी गङ्गेश्वरानन्दजी, श्रीब्रह्मबाबा, पं. रामवल्लभाशरणजी, श्रीरूपकलाजी, श्रीअञ्जनीनन्दनशरणजी, श्रीपाद दामोदर

सातवलेकरजी, श्रीसतीशचन्द्र मुखर्जी, श्रीप्राणकिशोर गोस्वामी, गो. दामोदरजी शास्त्री, श्रीकृष्णप्रेमजी, संत तुकड़ोजी, श्रीरसिकमोहन विद्याभूषण, श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, श्रीजीव न्यायतीर्थ, श्रीहीरेन्द्रनाथ दत्त, श्रीऐनी बेसेन्ट, श्रीगोपीनाथजी कविराज, महात्मा सीताराम ओंकारनाथ, पं. हाराणचन्द्र शास्त्री, श्रीरामदासजी गौड़, श्रीरामनाथजी सुमन, डॉ. रघुबीर, डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी, डॉ. राधाकमल मुकर्जी, डॉ. श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, श्रीश्यामाप्रसाद मुकर्जी, श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय, श्रीबलदेव उपाध्याय, श्रीआनन्दशङ्कर बापूभाई ध्रुव, श्रीजीवनशंकरजी याज्ञिक, श्री ए.जी. शेरिफ, कमिश्नर बनारस, बीकानेरकी राजमाता सुदर्शना देवी, सर जॉन वुडरफ, श्रीमाधव हरि अणे, श्रीरंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर, श्रीअनन्तशयनम् आयंगर, श्रीअयोध्यादासजी बार-ऐट्-ला, श्री आद्याप्रसादजी श्रीवास्तव, श्रीचारुचन्द्र दास बैरिस्टर, श्रीजुगलसिंहजी खीची, बार-ऐट्-ला आदि।

मैंने जानबुझकर राग-द्वेषवश किसीको दुःख नहीं पहुँचाया

जबसे मैंने होश सँभाला है— जहाँतक मुझे याद है— मैंने राग-द्वेषवश, जान-बूझकर ऐसा कोई काम प्रायः नहीं किया है, जिससे किसीको दुःख पहुँचे, या किसीके भी हितका नाश हो।

कलकत्तेमें क्रान्तिकारी महत्वपूर्ण पत्र 'युगान्तर', 'संध्या' तथा विप्लववादियोंके साहित्यके अध्ययन तथा विप्लववादी महान् त्यागपूर्ण जीवनवाले नवयुवकोंके सङ्गसे मेरा मन उनके तथा उस आन्दोलनके प्रति आकृष्ट हो गया था। भारतकी स्वतन्त्रताके क्रान्तिकारी आन्दोलनके समय अवश्य ही अंग्रेजी शासनके प्रति मेरे मनमें द्वेष हो गया था और कुछ अंग्रेज उच्चाधिकारियोंके प्रति भी था— यह केवल भारतकी स्वतन्त्रताको लेकर; पर वह महात्मा गांधीके विशेष सम्पर्कमें आनेपर नष्ट हो गया।

इसके बाद गांधीजीके जीवनकालमें ही मुसल्मानोंकी हिंदू-विरोधी चेष्टाओंके कारण मुसल्मानोंकी उस नीतिके प्रति भी—किसी व्यक्तिके प्रति नहीं— मेरे मनमें विरोध हो गया था, जो कई वर्षोंतक रहा।

इस विरोधी वृत्तिमें भी मेरे मनमें स्वयं बलिदान होकर उनका सुधार करनेकी स्फुरणा होती थी। इसीसे भगवान्‌की कृपासे मेरे द्वारा किसी प्रसङ्गको

लेकर ऐसा कोई कार्य नहीं हुआ, जिससे किसी अंग्रेज या मुसल्मानको व्यक्तिगत हानि हुई हो। मेरे बहुत-से ईसाई-मुसल्मान मित्र हैं, जो मुझे भाईके समान प्यार करते हैं। ईसाइयोंमें पादरी श्री सी.एफ.एण्ड्र जू महोदय, श्रीआर्थर मैसी मुझपर बड़ी कृपा रखते थे। मुसल्मानोंमें, डॉ.मोहम्मद सैयद हाफिज, श्रीसैयद कासिम अली, श्रीबदरुद्दीन आदिका मेरे साथ बड़ा प्रेमका सम्बन्ध था, और है। गोरखपुरके कई ईसाई विद्वान् तथा मुसल्मान भाई मेरे साथ बहुत ही प्रेम तथा आत्मीयताका व्यवहार करते थे, रखते हैं। मैं उन सभीका कृतज्ञ हूँ।

जान-बूझकर बुरी नीयतसे कुछ न करनेपर भी मेरे द्वारा मत-सिद्धान्तके आग्रहके कारण, मोह-ममतावश, देशके, समाजके, जातिके, परिवारके, घरके– बहुत लोगोंका बहुत बार अपमान-तिरस्कार हुआ है। मेरे रूखे-कड़े बर्तावसे, असत् व्यवहारसे, कभी-कभी असत् न दीखनेवाले सत्-व्यवहारसे भी, बहुतोंको दुःख पहुँचा है; इसके लिये घर-बाहरके सभीसे सच्चे हृदयसे क्षमा चाहता हूँ। वे सभी मुझपर कृपा करें और मेरे अपराधोंके लिये क्षमा कर दें।

एक ही सत्य विभिन्न रूपोंमें अभिव्यक्त है

भारतवर्षमें तथा बाहर जितने भी ईश्वरोन्मुखी धर्म हैं तथा जिनमें किसी भी नामसे दैवी सम्पदाको प्रथम स्थान है, वे सभी धर्म शुभ हैं, उनमें फलकी दृष्टिसे कोई भेद नहीं मानना चाहिये। मेरा तो यह निश्चय है कि परमतत्त्व, सत्य, परमात्मा, भगवान् या आत्मा 'एक–अद्वितीय' है। वह नित्य अपने ही आपमें, अपनेसे ही लीलायमान है। जितने भी ईश्वरवादी दैवी-सम्पत्तिवान् धर्म हैं, सब विभिन्न दिशाओंसे तथा विभिन्न मार्गोंसे बहती हुई, एक ही समुद्रकी ओर जानेवाली विभिन्न नदियोंके समान भगवत्प्राप्तिके मार्गरूप हैं। विभिन्न धर्मों तथा विभिन्न आचार्यों-संतोंके तत्त्व-निरूपणमें जो भेद दिखायी देता है, वह तो अवश्यम्भावी है। आसामसे, पंजाबसे, दक्षिणसे और हिमालयसे काशी जानेवालोंके मार्ग, काशी एक होनेपर भी, एक-से नहीं हो सकते। इसी प्रकार जो महात्मा जिस मार्गसे तत्त्वधामके अन्तद्वारतक बुद्धिके द्वारा पहुँचे हैं, उनकी उन्हें वहाँ पहुँचाकर वापस लौटी हुई बुद्धि उनके नामसे उसी मार्गका वर्णन करेगी और अन्तर्द्वारको ही तत्त्व बताकर

उसीका निरूपण करेगी। असलमें जहाँ बोलना-चालना है, वहाँ तत्त्वकी उपलब्धि—तत्त्व-स्वरूपता नहीं है। अतएव तत्त्वका वर्णन तो होता ही नहीं, वर्णन होता है— साधन-मार्गका, और साधन-मार्गमें विविधता अवश्यम्भावी है। पहुँचे हुए सभी महात्माओंकी बुद्धि—चाहे वे किसी धर्म-सम्प्रदायके हों—सत्यका ही वर्णन करती है और वह सत्य वहींतक होता है, जहाँतक बुद्धि पहुँच पाती है, देख पाती है।

अतएव मैंने जहाँतक बना है, किसी भी मत-सम्प्रदायके महात्माओंका और उनकी दैवी-सम्पदायुक्त साधन-पद्धतिका कभी विरोध नहीं किया। मुझे ऐसा लगता है कि 'एक ही सत्य विभिन्न रूपोंमें अभिव्यक्त है।' मैं यह चाहता हूँ कि मेरी इस मान्यता तथा उपलब्धिके भी लोग उत्तराधिकारी बनें और जो सच्चे मनसे बनना चाहता हैं, उन्हींको मैं यह उत्तराधिकार देता हूँ।

कर्मजनित प्रारब्ध हुए बिना कोई किसीका अनिष्ट नही कर सकता

मेरी यह दृढ़ मान्यता तथा अनुभूति है कि अपने ही किये हुए कर्मोंके फल-स्वरूप अनिष्टकारक कर्मजनित प्रारब्ध हुए बिना कोई किसीका अनिष्ट नहीं कर सकता, पर दूसरेका अनिष्ट करनेका विचार और कार्य करके वह स्वयं अपने नवीन 'पाप-कर्म'का कर्ता अवश्य बन जाता है। अतएव किसी भी प्राणीका किसी प्रकारसे भी कुछ भी अनिष्ट करनेकी बात न सोचनी चाहिये न वैसा कोई कार्य ही करना चाहिये। हाँ, दूसरेका हित-सुख-सम्पादन करनेका विचार तथा प्रयत्न अवश्य करना चाहिये। वह 'हित-सुख-सम्पादन' भी होगा, उसके प्रारब्धके अनुसार ही। 'पर-हित-सुख-सम्पादन'का हमारा विचार तथा कार्य— हमें पुण्यकर्मका कर्ता बन देगा, जो हमारे लिये शुभ फलका उत्पादक होगा और यदि यही 'पर-हित-सुख-सम्पादन'का विचार और कार्य निष्कामभावसे भगवत्प्रीत्यर्थ या उनकी अर्चारूप होगा तो मानव-जीवनके एकमात्र उद्देश्य— 'भगवत्प्राप्ति'में सहायक होगा।

कभी अपने किसी 'अनिष्ट'में दूसरे किसीका हाथ दिखायी दे तो दृढ़तासे यह समझना चाहिये कि हमारा 'अनिष्ट' हमारे अपने कर्मजनित प्रारब्धके सिवा दूसरा कोई भी, कभी भी कर नहीं सकता। जिसका हाथ

दिखायी देता है, वह तो 'निमित्तमात्र' है और यदि उसने ऐसा किया है तो नया पापकर्म करके अपना ही अनिष्ट किया है; एवं जो अपना अनिष्ट करता है, वह पागल है। पागल सदा ही दयाका पात्र है। अतएव उसके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये कि भगवान् उसे 'क्षमा' कर दे। कभी उसका बदलेमें 'अनिष्ट' तो चाहे ही नहीं।

प्रेमी और प्रेमास्पदका सम्बन्ध

किसीको बिना ही जनाये उसका उपकार करना, उसको जनाकर करना, उसके घरवालोंको जनाकर करना, बहुतोंको बताकर करना अथवा विज्ञापन करके करना– सभी परोपकार उत्तम हैं तथा किसी भी रूपमें हों, उन्हें करना कर्तव्य है। पर इनमें एक-से-दूसरा नीचे दर्जेका है।

उपकार करके बदलेमें प्रशंसा चाहना, कृतज्ञता चाहना, समयपर बदलेमें उपकारकी आशा रखना, यश-कीर्ति चाहना, उपकारके अहसानसे दबाकर उससे मनमाना काम करवानेकी चाह करना, भगवान्‌से बदलेमें सुख चाहना, परलोकमें बदला चाहना– ये सब 'सकाम भाव' हैं। इनमें जो निर्दोष हों, वे सकाम भाव भी रहें तो भी 'उपकार' करना कर्तव्य है। पर यह सब 'उपकार' है– 'प्रेम' नहीं है।

प्रेमी कुछ भी करके प्रेमास्पदका उपकार नहीं करता, वह तो अपने ही लिये अपना ही काम करता है। इससे प्रेमास्पद या किसीको जताने-बतलानेका तो प्रश्न ही नहीं उठता, वरं प्रेमीके मनमें कभी यह भी नहीं आता कि मेरा प्रेमास्पद यह जान भी ले कि मेरा प्रेमी मेरे दुःखसे दुःखी है। प्रेमी प्रेमास्पदके दुःखमें उसके सामने बैठकर रोता नहीं, दूसरोंके सामने भी अपनी मानसिक वेदनाको प्रकट नहीं करता। इसका अर्थ यह नहीं कि उसको वेदना कम होती है। बड़ी वेदना होती है, पर वह अपनी वेदनाका विज्ञापन तो करता ही नहीं, अपनी किसी भी चेष्टासे-भाव-भङ्गिमासे भी प्रेमास्पदपर यह असर भी नहीं डालना चाहता कि 'मेरा प्रेमी मेरे लिये इतना दुःखी है'; क्योंकि वह समझता है कि इससे भी प्रेमास्पदपर एक अहसानका भार पड़ेगा। अतएव वह चुपचाप जो कुछ भी अधिक-से-अधिक कर सकता है, करता है। जैसे अपने दुःख-निवारणके लिये कोई स्वाभाविक ही चेष्टा करता है, वैसे ही वह करता है। इतनेपर भी

अपने दुःख-निवारणकी चेष्टामें और प्रियतमके दुःख-निवारणकी चेष्टामें एक महत्त्वका अन्तर रहता है। अपना दुःख तो मनुष्य सह भी लेता है, कभी-कभी उसकी उपेक्षा भी कर बैठता है, दूसरोंसे भी उसके निवारणकी आशा करता है; पर प्रियतमका दुःख न तो वह सह सकता है, न उसकी उपेक्षा कर सकता है और न उसकी निवृत्तिके लिये दूसरोंकी ओर ही ताक सकता है। जो कुछ भी वह कर सकता है, तुरंत तथा पूर्णरूपमें करता है। ऐसे प्रेमीने ही वास्तवमें प्रेमका पाठ पढ़ा है। मुझे भी ऐसे एक-दो प्रेमी प्राप्त हैं, यह मेरे लिये आनन्दकी बात है। वास्तवमें जिनको प्रेमका सेवन करना हो, उन्हें ऐसा बनना चाहिये।

मेरे द्वारा 'विशेष कार्य' करवानेकी योजना

वास्तवमें इस पाञ्चभौतिक शरीरसे अपने कर्मके अतिरिक्त, मेरे द्वारा कुछ 'विशेष कार्य' करवानेकी योजना थी। जिनकी, जैसी जितनी योजना थी, उनकी कृपा तथा शक्तिसे उनका काम बहुत अंशमें पूरा हो गया, यद्यपि मैंने जितना चाहा था, जैसे चाहा था, वैसा नहीं हो पाया। यों तो जितने लोग मेरे सम्पर्कमें आये हैं, उनका कुछ-न-कुछ कल्याण तो अवश्य ही हुआ है और होगा; पर जिन लोगोंने मेरे द्वारा स्वार्थवश अनुचित कार्य करानेकी इच्छा तथा चेष्टा की, वे प्रायः वञ्चित ही रह गये। उनकी प्रगति तो रुक ही गयी, कई किसी अंशमें क्षतिग्रस्त भी हो गये। भगवान् उनका कल्याण करें।

यद्यपि जगत्के मङ्गलके लिये जो कुछ हुआ है, वह बहुत दूर-दूरतक हुआ है तथा उसका प्रभाव व्यापक और दीर्घकालतक रहेगा। 'वह क्या है, कैसा है'– यह न मैं पूरा जानता हूँ न जाननेकी इच्छा है। हाँ, इतना जानता हूँ कि वह प्रभुका कार्य है और महान् है।

मुझमें श्रद्धा-प्रीति-विश्वास रखनेवाले लोग

मुझमें श्रद्धा-प्रीति-विश्वास रखनेवाले लोग बहुत-से स्त्री-पुरुष हैं। उनमेंसे कई सर्वथा सच्चे हैं, उनको उनकी श्रद्धा, प्रीति, विश्वासके अनुसार भगवान् कल्याण-फल देंगे– निश्चित ही। पर जो लोग अपनेको ऐसा मानते हुए या बतलाते हुए भी वास्तवमें श्रद्धा-प्रीति-विश्वासयुक्त हृदयसे भगवत्प्राप्ति

या भगवत्प्रेम न चाहकर केवल भोगलिप्सा रखते हैं, उनको मिथ्या आचारके कारण भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रेमकी प्राप्ति नहीं होगी।

वस्तुतः मुझमें कुछ भी नहीं है। जो कुछ है, भगवान्में है। भगवान्के सम्पर्कको लेकर जो मेरे माध्यमसे भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रेम चाहते हैं, उनके अन्तःकरणकी सत्यताके फलस्वरूप भगवत्कृपासे उनकी प्रेम-कामना पूर्ण होगी। पर मेरे साथ उनका सम्बन्ध केवल भगवत्-सम्पर्कयुक्त ही होना चाहिये, किसी प्रकारके लौकिकताका सम्मिश्रण उसमें नहीं होना चाहिये। इसलिये मैं इस बातको जानता हूँ कि मुझसे दूर-दूर रहनेवाले कई स्त्री-पुरुष मुझमें भगवत्सम्पर्कित निष्ठा रखनेके कारण भगवत्प्राप्तिके समीप पहुँच रहे हैं, और मेरे पास, सदा मेरे समीप रहनेवाले बहुत-से लोग भाव न रखनेके कारण आत्मवञ्चित हो रहे हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि पास रहनेवालोंमें सभी ऐसे हैं। कई ऐसे लोग हैं– जिनका नाम बताना वर्जित है, जिनको यथार्थ लाभ हो रहा है और होगा।

जो लोग मेरे पास रहकर भी मुझसे दूर-दूर रहते हैं, उनको कुछ भी हाथ नहीं लगता; वे विकृति ही देखते हैं; पर जो दूर रहकर भी अन्तरङ्ग रहते हैं, जिनका श्रद्धापूत हृदय भावसारूप्य पा लेता है, वे भीतरके बहुत कुछ रहस्योंको जान लेते हैं और सत्सङ्गका वस्तुतः उन्हींको लाभ प्राप्त होता है। मेरे जीवनमें भी ऐसे ही दोनों प्रकारके लोगोंसे सम्पर्क रहा है। मैं जिन्हें देना भी चाहता था, प्रयत्न भी मैंने किया था देनेका, हृदयसे परे रहनेके कारण वे कभी उसे ग्रहण नहीं कर सके; पर ऐसे लोग, जिनके लिये मेरी अपनी ओरसे कोई चेष्टा नहीं हुई, हृदयसे भावासारूप्य प्राप्तकर वे बहुत कुछ ले गये। अपनेको जगत्के सामने अपना जाहिर करनेवाले कोरे रह गये और जिनके विषयमें किसीको पता भी नहीं है कि उनसे मेरा कोई सम्पर्क है, वे पा गये। जो पा गये, वे अब भी पा रहे हैं और चूँकि उनका मार्ग मुक्त हो गया है, अतएव वे आगे भी यथाधिकार पाते रहेंगे। अतएव जबतक जीवन है, तबतक जिनको कुछ भी पानेकी इच्छा हो, उन्हें अन्तरङ्ग बननेकी– पास रहने, न रहनेको कोई महत्त्व न देकर– 'मेरे मनोनुकूल साधनामें नित्य प्रवृत्त रहनेकी चेष्टा करनी चाहिये, जिससे कम-से-कम उनका ग्रहणद्वार मुक्त हो जाय। नहीं तो उन्होंने अबतक जो विकृति देखी है, आगे भी वह विकृति ही देखते रहेंगे, उल्टे घाटेमें रहेंगे।

मेरे पास जितने लोग आये हैं— आते हैं— सभी कुछ-न-कुछ देने आते हैं और देकर जाते हैं। भक्ति, श्रद्धा, प्रेम, सद्भाव, शिक्षा, परामर्श, विनय, नम्रता, क्षमा, अहंकार मिटानेवाली दक्षत, दोष दिखानेवाली निन्दा, कर्तव्यका ज्ञान करानेवाली चेतावनी— जिनके पास जो कुछ होता है, दे जाते हैं। लाखों-लाखों नर-नारी ऐसे हैं, जो मेरे पास आये नहीं हैं, पर इसी प्रकारसे उन्होंने मुझको सदा दिया है और अनवरत दे रहे हैं। इसलिये मुझपर तो सभीका उपकार है और मैं सभीका कृतज्ञ हूँ। विभिन्न प्रकारके अनुकूल-प्रतिकूल भावोंको धारण करके आनेवाले सभी लोग एक बहुत बड़ा उपकार करते हैं, यह कि— 'मधुर और भयानक सभी रूपोंमें— अनुकूलता और प्रतिकूलताकी पोशाकमें एक भगवान् ही आते हैं'— इस बातको मैं कभी न भूलूँ और राग-द्वेषसे बचकर सदा-सर्वदा हर रंग-रूपमें छिपे हुए उनको पहचान लूँ। इस दृष्टिसे भी सभी मेरे अत्यन्त आदरके पात्र हैं— सभी भगवत्स्वरूप हैं, मैं सभीका हृदयसे नमन करता हूँ। मैंने इस भावके पोषण तथा संवर्द्धनकी चेष्टा सदा की है और मैं चाहता हूँ, मेरे इस भावको मेरे उत्तराधिकारी ग्रहण करें।

केवल परमार्थ-साधनके उद्देश्यसे ही मेरे सम्पर्कमें आये लोग

घरके तथा बाहरके उनलोगोंमें, जो केवल परमार्थ-साधनके उद्देश्यसे ही मेरे सम्पर्कमें आये हैं, दो प्रकारके नर-नारी हैं—

१. पूर्वजन्मसे साधनमें लगे हुए।
२. इस जन्ममें साधनमें लगनेवाले।

इनमें भी दो तरहके हैं—

१. पूर्वजन्ममें मेरे सम्पर्कमें आये हुए।
२. इस जन्ममें सम्पर्कमें आये हुए।

इस जन्ममें अथवा पूर्वजन्ममें मेरे सम्पर्कमें आये हुए लोग भी चार प्रकारके हैं—

१. केवल परमार्थ-साधनमें लगे हुए।
२. न्यूनाधिकरूपमें लौकिक वासनासे मिश्रित परमार्थ-साधनमें लगे हुए।
३. लौकिक वासनाकी प्रधानतावाले

४. केवल लौकिक वासनावाले नाममात्रके साधक।

मैं सबका कल्याण चाहता हूँ, पर भगवान्‌के नियमानुसार उनको पूर्ण सफलता, आंशिक सफलता या असफलता मिलेगी— उनके भावानुसार ही।

पारमार्थिक सफलतामें समर्पणकी प्रधानता है

केवल परमार्थ-साधनकी दृष्टिसे मेरे साथ भावसाम्य करके जो लोग मेरे अधिक सम्पर्कमें हैं, उनकी सफलता निश्चित है; पारमार्थिक सफलतामें समर्पणकी प्रधानता है। अनुकूल आचरण करनेमें अपनी जानमें शक्तिभर कमी न रक्खे— पर अपने पुरुषार्थका अभिमान कभी न करे। जिनको समर्पण किया है, सर्वतोभावसे उनकी कृपाका पूरा विश्वास रक्खे— सफलता निश्चित है। जो लोग इस स्तरपर हैं, उन्हें और भी बढ़ना चाहिये। जो इस स्तरसे कुछ नीचे हैं या बिल्कुल नहीं हैं— उन्हें शीघ्र प्रयत्न करके लगना चाहिये। जो लोग शुद्धभावसे अनुकूल सेवामें संलग्न हैं, उनका विशेष भार भगवान् वहन करते हैं। सत्सङ्गी साधकोंको निराश न होकर भगवान्‌की अहैतुकी कृपाके बलपर निरन्तर यथासाध्य भगवान्‌के अनुकूल कार्योंमें (यही साधन है) लगे रहकर यह विश्वास करना चाहिये कि भगवान्‌ने उनको अपना लिया है— सर्वथा स्वीकार कर लिया है।

जीवनी लिखनेका विरोध

मेरे कुछ स्नेही सज्जन, जो मेरे प्रति श्रद्धा तथा सद्भाव रखते हैं, मेरी जीवनी लिखना चाहते हैं या लिख रहे हैं। जहाँतक उनका शुद्ध भाव है, मैं उसका आदर करता हूँ और उनके स्नेहके लिये कृतज्ञता प्रकट करता हूँ; परंतु उनसे मेरा अनुरोध है कि वे इसपर पुनः विचार करें।

प्रथम तो हाड़-मांसके पाञ्चभौतिक अनित्य 'शरीर' तथा उसके कल्पित 'नाम'की जीवनी लिखकर उसको सम्मान प्रदान करना— एक प्रकारसे प्रत्यक्ष ही 'नाम-पूजा' है, जो सर्वथा अवाञ्छनीय है। मैं उस श्रेणीका पुरुष तो हूँ नहीं, परंतु वास्तवमें आत्मस्थित कोई भी पुरुष इस मिथ्या नाम-रूपकी जीवनी तथा उसके महत्त्वका समर्थन नहीं करते।

दूसरे, लेखक जीवनको, यथार्थ रहस्यको, कार्यके प्रेरक विचारोंको—

जो कर्त्ताके जीवनका सच्चा दर्शन कराते हैं— जानते नहीं। फिर, बाहरकी बातोंमें भी जीवनी-लेखक प्रायः उन्हीं बातोंका उल्लेख करते हैं, जिनसे उनका महत्त्व प्रकट होता है। उनकी भूलों तथा कमजोरियोंको छोड़ देते हैं या छिपा देते हैं; क्योंकि जीवनीके लेखकका उद्देश्य यथार्थ जीवन-चित्र उपस्थित करना नहीं, अपितु बड़े ही सद्भावसे उनके गुणोंका प्रचार-प्रसार करके अपनी श्रद्धा प्रकट करना और उन गुणोंके प्रचारद्वारा जगत्को लाभ पहुँचाना होता है। पर ऐसा करनेमें जीवनी एकाङ्गी होती है, सच्ची नहीं होती। और असत्यके आश्रयमें तो 'विकृति'की पूरी सम्भावना है ही। इसलिये भी जीवनी लिखनेका समर्थन नहीं किया जा सकता।

तीसरे, मेरा पाञ्चभौतिक शरीर सर्वथा प्राकृत तथा कर्मजनित होनेपर भी इसके द्वारा कुछ 'विशेष कार्य' करानेकी कोई दैवी प्रेरणा थी। उसको न तो मैं बतला सकता हूँ और न कोई लेखक जान ही सकता है। उस 'विशेष कार्य'को लेकर जीवनमें कब-कब, कैसे-कैसे, कौन-कौन-से विचार आये, कैसी-कैसी क्रियाएँ हुईं— यह लेखक नहीं जानते। न मैं ही उनको बता या लिख सकता हूँ। इस अवस्थामें कोई भी जीवनी-लेखक मेरी यथार्थ जीवनी नहीं लिख सकते। मेरे पाञ्चभौतिक 'शरीर तथा नाम'वाले जीवनमें साधारण लोगों-जैसी ही कमजोरियाँ हैं। अनेक अवाञ्छनीय चेष्टाएँ हुई हैं, होती हैं। उन्हें छिपाया जायगा तो जीवनी मिथ्या होगी और बताया जायगा तो वह जगत्के लिये और भी हानिकारक कार्य होगा। इसलिये जीवनी लिखकर उसके द्वारा मेरे प्रति सम्मान-प्रदर्शन करनेकी तथा जगत्को लाभ पहुँचानेकी इच्छा नहीं करनी चाहिये।

मेरा सच्चा सम्मान

मेरा सच्चा सम्मान तथा मेरे द्वारा जगत्को लाभ पहुँचानेका साधन है— मेरे भावों, विचारों तथा सम्मति-उपदेशादिके अनुसार जीवनको संयम, त्याग, सेवा, विनय, अनवरत भगवच्चिन्तन, भगवत्-सम्बन्धी वार्तालाप तथा क्रिया-कलाप एवं प्रत्येक कार्यको भगवान्का स्मरण करते हुए (कर्म तथा भोगमें आसक्ति-कामना-ममता न रखते हुए) भगवान्की पूजाके लिये ही करना— इस प्रकारका जीवन बनाना, प्राणिमात्रमें भगवान्को देखकर सबका हित-सुख-सम्पादन करना तथा भगवत्सेवाका जीवन बनाना। यही मेरे

भावोंका उत्तराधिकार है और यही मेरी सच्ची सेवा तथा सच्चा सम्मान है एवं इसे मेरे शरीर छूटनेपर ही क्यों, मेरे जीवनकालमें ही— मुझपर स्नेह-श्रद्धा करनेवाले— सभी भाई-बहिन करें। इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी और उनका वास्तवमें कल्याण होगा।

मनुष्यको निन्दासे लाभ उठाना चाहिये

वास्तवमें निर्दोष आत्माकी दृष्टिमें निन्दा-स्तुतिका कोई अर्थ नहीं है, व्यावहारिक जगत्‌में इनका स्थान है। पर मनुष्यको निन्दासे सर्वथा लाभ उठाने तथा स्तुतिसे होनेवाले नुकसानसे बचनेकी चेष्टा करनी चाहिये। मैंने बार-बार निन्दाका आदर करके उससे लाभ उठानेकी चेष्टा की है और मेरा यह अनुभव है, निन्दा करनेवालोंमें ७० से ८० प्रतिशततक सच्चे होते हैं, और हमें लाभ पहुँचाते हैं। इसके विपरीत प्रायः २५ से ४० प्रतिशत प्रशंसा करनेवाले अतिशयोक्तिपूर्ण एवं मिथ्या वचन बोलते हैं— कुछ जान-बूझकर किसी स्वार्थवश और कुछ भ्रान्त धारणके कारण— और ये हमें नुकसान पहुँचाते हैं। यथार्थमें तो स्तुति-निन्दा, दोनोंमें ही हर्ष-विषादयुक्त होना अनुचित है, पर स्तुतिका अनादर करना चाहिये और निन्दाके शब्दोंपर गहराईसे ध्यान देकर अपनी त्रुटियोंको दूर करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। निन्दा करनेवालेका अनादर तो कभी करना ही नहीं चाहिये। मेरी इस मान्यताको जो ग्रहण करना चाहें, वे ही इस मान्यताके उत्तराधिकारी हो सकते हैं और वे अनेक हो सकते हैं।

मेरे जीवनमें भी बहुत-सी कमजोरियाँ हैं। मुझसे अपराध बने हैं, उनके लिये मुझे पश्चात्ताप है। परंतु उनका उत्तराधिकारी मैं किसीको नहीं बनाना चाहता। मैं बड़े आग्रहसे सबसे यह अनुरोध करता हूँ— मेरी बुराइयोंकी नकल कभी कोई भी किसी भी हालतमें न करें। मेरे उन्हीं आचरणोंकी नकल करें, जो शास्त्रानुसार वास्तवमें कल्याणकारी हों; जो जरा भी गिरानेवाले हों, उनको किसी भी रूपमें तनिक भी स्वीकार न करें।

* * * *

मेरे प्रिय चौपाई - दोहे - श्लोक

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जग पानी।।
(मानस १/७/१)

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।।
(मानस ७/११२ख)

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।।
(मानस ४/३)

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।
(गीता ६/३१)

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।
(गीता ६/३२)

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।
(गीता ६/२९)

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।
(गीता ६/३०)

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।
(गीता ७/१९)

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।
(गीता ७/१४)

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।
(गीता ११/५५)

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।
(गीता २/६४)

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।
(गीता २/६५)

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।
(गीता ३/३४)

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।
(गीता ५/२२)

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।'
(गीता ९/३३)

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।।
(गीता ८/१५)

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः।।
(भागवत १/१८/१३)

यावद् भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति।।
(भागवत ७/१४/८)

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशोद्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किं च भूतं प्रणमेदनन्यः।।
(भागवत ११/२/४१)

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।
(पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड १९/३५५-५६)

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।
(गरुडपुराण २/३५/५१)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।
(गीता १८/६५)

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।
(गीता १८/६६)

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।
(गीता २/५६)

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।।
(गीता ५/२०)

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः।।
(गीता १२/१७)

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।
(ईशावास्योपनिषद् १)

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।
(ईशावास्योपनिषद् ६)

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।
(ईशावास्योपनिषद् ७)

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।
(कठोपनिषद् २/३/१४)

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।।
(कठोपनिषद् १/२/२३)

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।।
(गीता २/७१)

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।
(गीता ५/२९)

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।
(गीता ४/३९)

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहु राम को, नाम जपु, 'तुलसी' तजि कुसमाजु।।

'तुलसी' ममता राम सों, समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख दास भए भव पार।।
(दोहावली)

* * * *

अमर संदेश

संत भगवान्‌को प्राप्तकर उन्हींके स्वरूप हो जाते हैं; अतएव वे अपने पावन चरित्रसे, श्वास-पश्वाससे, कल्याणमयी दृष्टिसे, शुभ भावनासे निरन्तर परम मङ्गलका प्रसार करते रहते हैं। यही मङ्गल साक्षर संतोंकी लेखनीसे भी प्रकट होता है। भाईजी इसी कोटिके संत थे। अतएव उन्होंने अपने जीवन, व्यवहार, वाणी और लेखनीसे जगत्‌को परम मङ्गलमय संदेश प्रदान किया है, जो चिरकालतक जगत्‌का अशेष मङ्गल करता रहेगा। उनकी पावन लेखनीसे लगभग २५,००० पृष्ठोंका सत्साहित्य निस्सृत हुआ है। उसका एक-एक अक्षर परम मङ्गलमय है। उसी विशाल शब्द-राशिमेंसे कुछ रत्न नीचे दिये जा रहे हैं—

मानव-जीवनकी सफलता भगवत्प्राप्तिमें है

याद रखो— मानव-जीवनकी सफलता भगवत्प्राप्तिमें है, विषयभोगोंकी प्राप्तिमें नहीं। जो मनुष्य जीवनके असली लक्ष्य भगवान्‌को भूलकर विषयभोगोंकी प्राप्ति और उनके भोगमें ही रचा-पचा रहता है, वह अपने दुर्लभ अमूल्य जीवनको केवल व्यर्थ ही नहीं खो रहा है, वरं अमृत देकर बदलेमें भयानक विष ले रहा है।

याद रखो— बहुत जन्मोंके बाद बड़े पुण्यबल तथा भगवत्कृपासे जीवको मानव-शरीर प्राप्त होता है। इन्द्रियोंके भोग तो अन्यान्य योनियोंमें भी मिलते हैं, पर भगवत्प्राप्तिका साधन तो केवल इसी शरीरमें है; इसको पाकर भी जो मनुष्य विषयभोगोंमें ही फँसा रहता है, वह तो पशुसे भी अधिक मूढ़ है।

याद रखो— यदि तुमने इस जीवनमें भगवान्‌को नहीं प्राप्त किया— कम-से-कम भगवत्प्राप्तिके पथपर नहीं आ गये तो तुम्हें पीछे इतना पछताना पड़ेगा कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। अतः हाथमें आये हुए इस महान् सुअवसरके एक-एक क्षणको बड़ी ही सावधानीके साथ जीवनके असली लक्ष्य भगवत्प्राप्तिके साधनमें ही लगाना चाहिये।

विभिन्न धर्म एक ही सत्यको पानेके मार्ग

एक ही सत्यको पानेके अनेक मार्ग हैं। विविध दिशाओंसे उस एककी ओर अग्रसर हुआ जा सकता है। जो जिस दिशामें है, वह अपनी दिशासे ही उसकी ओर चलेगा। सब एक दिशामें नहीं चल सकते; क्योंकि सब एक दिशामें हैं ही नहीं। हाँ, सबका लक्ष्य वह एक ही है, इसीलिये अन्तमें सब उस एकहीमें पहुँचेंगे; परंतु दिशाभेदके अनुसार मार्ग तो भिन्न-भिन्न होंगे ही। तुम जिस मार्गसे चलते हो, वह भी ठीक है और दूसरा जिससे चलता है, वह भी ठीक हो सकता है। तुम्हारा और उसका लक्ष्य तो एक ही है। फिर विवाद किस बातका? इसलिये अपने मार्गपर चलो, सावधानीके साथ अग्रसर होते रहो; दूसरेकी ओर मत ताको। न किसीको गलत समझो और न अपने निर्दिष्ट मार्गको छोड़ो।

भगवान्‌की कृपा

याद रक्खो– तुमपर भगवान्‌की कृपा नित्य-निरन्तर बरस रही है। वह सदा सब ओरसे तुम्हें नहला रही है। ऐसा कोई क्षण नहीं जाता, जिस समय तुम भगवान्‌की कृपासे वञ्चित रहते हो। वञ्चित रहते भी कैसे? तुम उनकी अपनी प्यारी-से-प्यारी रचना जो ठहरे। तुमपर वे कृपा क्या करते, उनके हृदयमें तो पल-पलमें स्नेह उमड़ा आता है। सचमुच विश्वास करो– जबसे तुम हुए, न जाने किस अज्ञातकालसे, तभीसे उन्होंने तुम्हें अपनी गोदमें ले रखा है। एक क्षणके लिये भी कभी उन्होंने तुमको दूर नहीं किया। उनका कल्याणमय कर-कमल निरन्तर तुम्हारे सिरपर रहता है और निरन्तर तुम उनका शीतल-मधुर स्पर्श पा रहे हो।

विश्वास करो– भगवान् तुम्हारे लिये कृपाकी मूर्ति ही हैं– *प्रभु-मूरति कृपामई है।'* उनके पास इस कृपाके विपरीत या इसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं; तब फिर तुम क्यों डरते हो कि कभी भगवान्‌की अकृपा हो गयी या कृपा न हुई तो जाने क्या होगा? जब तुम्हें देनेके लिये उनके पास कृपाके अतिरिक्त दूसरी वस्तु है ही नहीं, तब वे देंगे कहाँसे और तुमको वह मिलेगी भी कैसे?

विश्वास करो– जहाँ-कहीं दुःख-संकट या पीड़ा-यातनाकी प्रतीति होती

है, वहाँ वस्तुतः उनकी कृपा ही उस रूपमें प्रकट होकर तुम्हारा महान् हित-साधन कर रही है, जिसको तुम जानते नहीं और इसीलिये उससे बचना चाहते हो। परंतु वे दयालु प्रभु तुम्हें उससे वञ्चित नहीं करना चाहते।

भगवान् मङ्गलमय हैं, हमारे परम हितैषी हैं; सर्वज्ञ हैं, किस बातमें कैसे हमारा हित होता है– इस बातको जानते हैं। अतएव उनके प्रत्येक विधानका स्वागत करो। खुशीसे सिर चढ़ाकर उसे स्वीकार करो। उनके हाथके दिये जहरमें अमृतका अनुभव करो, उनके हाथकी तलवारमें शान्तिकी छबि देखो, उनके कोमल करस्पर्शसे महिमाको पाये हुए सुदर्शनमें परमसुखके शुभ दर्शन करो और उनकी दी हुई मौतमें अमरत्वको प्राप्त करो। उनके प्रत्येक मङ्गलविधानमें उनको स्वयमेव अवतीर्ण देखो।

भगवान् तुम्हारे परमसुहृद् हैं

ऐसा कोई स्थान नहीं है और ऐसा कोई समय नहीं है, जिसमें भगवान् न हों, एवं ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जिसपर भगवान्‌की कृपा न हो, जिसको भगवान् अपनानेसे इनकार करते हों।

याद रखो– भगवान् स्वभावसे ही सुहृद् हैं, वे कृपाके ही मूर्तिमान् स्वरूप हैं। उनमें किसी भी पापीके प्रति कभी घृणा नहीं होती। किसने पहले क्या किया है, कौन क्या कर रहा है, किस देश-वेषका है, किस जातिकुलका है, किस धर्म-सम्प्रदायका है– यह कुछ भी वे नहीं देखते। वे देखते हैं– केवल उसके वर्तमान मनको, उसके मनकी वर्तमान परिस्थितिको, उसकी सच्ची चाहको। कोई भी, कभी भी, किसी भी समय अनन्य मनसे उनकी चाह करता है, उनकी कृपा, प्रीति या दर्शन पानेके लिये एकान्त लालायित हो जाता है, भगवान् उसके इच्छानुसार उसपर कृपा करते, उसे प्रीतिदान करते या दर्शन देकर कृतार्थ कर देते हैं।

याद रखो– दुनियामें दो ही चीजें हैं– भगवान् और भगवान्‌की लीला। जड़-चेतन सब कुछ भगवान् हैं और जगत्‌में जो कुछ हो रहा है, सब उनकी लीला हो रही है। एवं जब भगवान् कल्याणमय– मङ्गलमय हैं, तब उनकी लीला भी वस्तुतः कल्याणमयी– मङ्गलमयी ही है।

विश्वास करो– भगवान् सदा ही तुम्हारे अत्यन्त समीप हैं, तुम्हारी

प्रत्येक स्थितिको जानते हैं, तुम्हारी हरेक आवाजको सुनते हैं। बस, विश्वासपूर्वक पुकारनेकी देर है। वे तुरन्त तुम्हारी पुकार सुनेंगे और तुम्हें कष्टोंसे छुड़ा देंगे। विश्वास करो– भगवान् तुम्हारे परमसुहृद् हैं, निकट-से-निकटतम स्वजन हैं। तुम्हारा दुःख सुनकर वे स्थिर नहीं रह सकेंगे। सच्चे मनसे उन्हें अपना परमसुहृद् समझकर पुकारो, तत्काल तुम्हारी सुनवायी होगी और भगवत्कृपासे तुम दुःखोंसे तर जाओगे।

विश्वास करो– भगवान् परम दयालु हैं। तुम चाहे कितने ही पतित, कितने ही पातकी और कितने ही घृणित क्यों न हो, भगवान् तुमसे घृणा नहीं कर सकते– इस बातका निश्चय करो और कातर स्वरसे उन्हें पुकारो। वे उसी क्षण तुम्हारी सारी विपत्ति हर लेंगे।

विश्वास करो– भगवान् परम आश्रय हैं; चाहे सारा संसार तुम्हें भूल जाय, चाहे घर-परिवारके सभी लोग तुमसे मुख मोड़ लें, चाहे तुम सर्वथा निराश्रय हो जाओ, एक बार हृदयसे उनके परम आश्रयत्वपर विश्वास करके मन-ही-मन उनका स्मरण करो। देखोगे, तुम्हें कितना शीघ्र और कितना मधुर और निश्चित आश्रय मिलता है।

विश्वास करो– भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, तुम्हारा दुःख चाहे कितना ही प्रबल हो, तुम्हारे संकट चाहे कितने ही पहाड़-जैसे हों और तुम्हारी विपत्ति चाहे किसीसे भी न टलनेवाली हो, भगवान्‌की शक्तिके सामने सभी तुच्छ हैं। तुम विश्वास करके सर्वशक्तिमान्‌को पुकारो– उनकी शक्ति अविलम्ब तुम्हारी सहायता करेगी और तत्काल तुम्हारे पहाड़-से दुःख-कष्ट काजलके ढेरकी तरह उड़ जायँगे।

अपने स्वरूपको पहचानो

मनमें निश्चय करो– शरीरके नाशसे तुम्हारी मृत्यु नहीं होती, तुम शरीर नहीं हो; इस शरीरके पहले भी तुम थे और पीछे भी रहोगे। तुम आत्मा हो, तुम्हारा स्वरूप नित्य है। जो वस्तु नित्य होती है, वही सर्वगत, अचल, स्थिर और सनातन होती है। इस नित्य, सनातन, सर्वव्यापी स्वरूपमें न जन्म है न मरण है, न विषमता है न विषाद है, न राग है न रोग है, न दोष है न द्वेष है, न विकार है न विनाश है। यह सत् है, चेतन है और आनन्दमय है।

मोहकी चादर फाड़नेका प्रधान साधन है– आत्मशक्तिमें विश्वास, आत्मबलका निश्चय। विश्वासकी ज्योतिसे मोह-तमका नाश तत्काल ही हो सकता है। तुम विश्वास करो, निश्चय करो कि तुम्हारे अंदर अनन्त शक्ति है। मन, इन्द्रियाँ– सब तुम्हारे सेवक हैं; तुम्हारी अनुमतिके बिना उनमें जरा भी हिलने-डुलनेकी सामर्थ्य नहीं है। तुम्हारी ही दी हुई जीवनी-शक्तिसे वे जीवित हैं और तुम्हारे ही बलपर सारी चेष्टाएँ करते हैं। तुमने भूलसे अपनेको उनका गुलाम मान लिया, तुम अपने स्वरूपको भूल गये, इसीसे तुम्हारी यह दुर्दशा है। आत्माके स्वरूपको सँभालो, फिर तुम अपनेको अपार शक्ति-सम्पन्न पाओगे।

सात बातें

भगवान् और भोगमें बड़ा अन्तर है। उनके स्वरूप, साधन और फलके सम्बन्धमें सात बातें स्मरण रखें–

भगवान्	भोग
१. भगवान्‌की प्राप्ति इच्छासे होती है।	*१. भोगोंकी प्राप्ति कर्मसे होती है, इच्छासे नहीं होती*
२. भगवान् प्राप्त होनेपर कभी बिछुड़ते नहीं।	*२. भोग बिना बिछुड़े कभी रहते नहीं*
३. भगवान्‌की प्राप्ति जब होती है, पूरी होती है।	*३. भोगोंकी प्राप्ति सदा अधूरी ही होती है।*
४. भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा होते ही पापोंका नाश होने लगता है।	*४. भोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छा होते ही पाप होने लगते हैं।*
५. भगवान्‌को प्राप्त करनेकी साधनामें शान्ति मिलती है।	*५. भोगोंको प्राप्त करनेकी साधनामें अशान्ति बढ़ती है।*
६. भगवान्‌का स्मरण करते हुए मरनेवाला सुख-शान्तिपूर्वक मरता है।	*६. भोगोंका स्मरण करते हुए मरनेवाला अशान्ति और दुःखपूर्वक मरता है।*
७. भगवान्‌को स्मरण करते हुए मरनेवाला निश्चय ही भगवान्‌को प्राप्त होता है।	*७. भोगोंका स्मरण करते हुए मरनेवाला निश्चय ही नरकोंमें जाता है।*

इन सात भेदोंको समझकर मनुष्यको चाहिये कि वह नित्य-निरन्तर भगवान्‌का भजन ही करे।

व्यवहार और परमार्थ

मनकी नीरोगता ही सच्ची नीरोगता है। जिसका शरीर बलवान् और हृष्ट-पुष्ट है, परंतु जिसके मनमें बुरी वासना, असद्विचार, काम, क्रोध, लोभ, घृणा, द्वेष, वैर, हिंसा, अभिमान, कपट, ईर्ष्या, स्वार्थ आदि दुर्गुण और दुष्ट विचार निवास करते हैं, वह कदापि नीरोग नहीं है। उसकी शारीरिक नीरोगता भी बहुत जल्द नष्ट होनेवाली है।

* * * *

जगत् चाहे हमें सफल-जीवन और बड़भागी समझे, परंतु यदि हमारे मनमें दोष भरे हैं, कामनाकी ज्वाला जल रही है और भगवत्प्रेम-सुधाका प्रवाह नहीं बह रहा है तो निश्चय समझो हमारा जीवन सर्वथा निष्फल ही है। परंतु जिनको कोई नहीं जानता अथवा जिनको निष्फल-जीवन समझकर लोग जिनसे घृणा करते हैं और नाक-भौं सिकोड़ते हैं, उनमें हमें ऐसे पुरुष मिल सकते हैं, जो वास्तवमें सफल-जीवन हैं, दिव्यत्वको प्राप्त हैं।

* * * *

जगत्‌में जो कुछ है, सब भगवान्‌की ही मूर्ति है— यह समझकर सबसे प्रेम करो, सबकी पूजा करो, अपना जीवन सबके लाभके लिये समर्पित कर दो। भूलकर भी ऐसा काम न करो, जिससे सबमेंसे किसी एकका भी अहित हो, एकके भी कल्याणमें बाधा पहुँचे।

दीन-हीन, सरल, असहाय बच्चे माँको ज्यादा प्यारे हुआ करते हैं; भगवान्-रूपी जगज्जननीको भी उसके गरीब बच्चे अधिक प्रिय हैं। इसलिये यदि तुम माताका प्यार पाना चाहते हो तो माताके उन प्यारे बच्चोंसे प्रेम करो, उन्हें सुख पहुँचाओ; माता आप ही प्रसन्न होकर अपना वरद हस्त तुम्हारे मस्तकपर रख देगी, तुम सहज ही कृतार्थ हो जाओगे।

* * * *

पापको छोटा समझकर उससे कभी बेखबर न रहो। याद रखो, आगकी जरा-सी चिनगारी बड़े भारी शहरको जला देती है, एक छोटा-सा बीज बड़े भारी जंगलका निर्माण कर सकता है। यह मत समझो कि कामक्रोध-लोभका क्षणिक आवेश हमारा क्या बिगाड़ सकेगा; इनको समूल नष्ट करनेका सतत प्रयन्त करते रहो।

* * * *

जिसका मन वशमें है, वही यथार्थमें स्वाधीन है। देहका बन्धन बन्धन नहीं है, असली बन्धन है— मनका बन्धन। एक आदमी देहसे स्वतन्त्र है; परंतु यदि वह मनके अधीन है तो उसे सर्वथा पराधीन ही समझना चाहिये। मनपर विजय प्राप्त करनेवाला ही यथार्थ विजयी है। अतएव मनको वशमें करो।

* * * *

जहाँतक बने, विषयोंका संग्रह न करो, विषयोंका चिन्तन न करो, विषयी पुरुषोंका सङ्ग न करो; विषयासक्ति बढ़ानेवाले दृश्य न देखो, बात न सुनो और इस तरहके ग्रन्थ न पढ़ो। जिसके कारण मानका, धनका, रूपका लोभ उत्पन्न होता हो, ऐसे हर एक सङ्गसे भरसक दूर रहो। लोकमें मान न हुआ, धन न बढ़ा तो इससे तुम्हारी कोई हानि नहीं होगी। यदि संसारके सारे सुखोंसे वञ्चित रहकर भी, संसारके दुःख और कष्टोंसे सर्वदा पीड़ित रहकर भी तुम अपने जीवनको भगवान्की ओर लगाये रख सको तो समझो कि तुम्हारा जीवन सार्थक है। इसके विपरित यदि तुम सब प्रकारसे धन-सम्पत्ति, मान-यश और लौकिक विद्या-बुद्धिसे भरपूर हुए, लेकिन तुम्हारा हृदय भगवत्प्रेमसे रहित है, तो तुम निश्चय समझो कि तुम्हारा जीवन विषयी लोगोंकी दृष्टिमें चाहे जितना ऊँचा हो, बड़े गौरवका हो, असलमें वह सर्वथा व्यर्थ है— व्यर्थ ही नहीं, अगले जन्ममें आनेवाले महान् कष्टोंका कारण भी है। अतएव विषयोंसे मनको हटाकर भगवान्में लगाओ और मानव-जीवनको सफल करो।

* * * *

घरमें अपनेको मालिक मत समझो, वरं एक सेवक समझो और यथासाध्य ईमानदारीके साथ भगवत्सेवाके भावसे घरके काम करो। अपना व्यवहार दूसरेके घरमें कुछ समयके लिये टिके हुए अतिथिका-सा रखो। इस घरको अपना स्थायी घर, घरकी चीजोंको अपनी चीजें, घरके सेवकोंको अपने सेवक और घरकी सम्पत्तिको अपनी सम्पत्ति मत समझ बैठो। सावधान! तुम्हारे व्यवहारसे किसीके दिलपर चोट न पहुँचे।

* * * *

बदला लेनेकी भावना कभी मनमें मत आने दो। अपना बुरा करनेपर, गाली देनेपर, निन्दा करनेपर, मारनेपर भी किसीका कभी न बुरा करो, न बुरा चाहो, न बुरा होते देखकर प्रसन्न होओ; उसको हृदयसे क्षमा कर दो। सबमें अपने आत्माको समझकर जैसे अपने अपराधपर आप दण्ड नहीं देना चाहता— क्षमा चाहता है, उसी प्रकार सबपर क्षमा करो। बदला लेनेकी भावना बहुत बुरी है। बदला लेनेकी भावना मनमें रखनेवाला मनुष्य इस जीवनमें कभी शान्ति, सुख और प्रेम नहीं पाता तथा मरनेपर पिशाच होता है। वह स्वयं डूबता है और वैरभावके बुरे परमाणु वायुमण्डलमें फैलाकर दूसरोंका भी अनिष्ट करता है।

* * * *

मनमें सदा पवित्र भाव रखो, सबका हित चाहो, सबको उत्तम परामर्श दो; कभी न वाणीसे बुरी सम्मति दो, न अपनी करनीसे बुरी बात सिखाओ और न मनमें बुरी बात रखकर उसे वायुमण्डलमें जाने दो। जो दूसरोंमें बुरे भाव फैलानेमें सहायक होता है, वह बहुत बड़ा पाप करता है; उसका कभी हित नहीं हो सकता।

स्मरण रखो— जिस कार्यसे परिणाममें अपना और दूसरोंका हित हो, वही धर्म है और जिससे परिणाममें अपना और दूसरोंका अहित हो, वही पाप है।

* * * *

अपने आपको निरन्तर देखते-परखते रहना चाहिये। दूसरे हमको प्रेमी भक्त कहते हैं या दुरात्मा— इसकी ओर हमें कुछ भी ध्यान नहीं देना चाहिये। लोग हमें संत, प्रेमी, या महात्मा भी कहें, हमारे मनमें यदि सांसारिक विषयोंका मनोरथ

और चिन्तन बना है तो हम किसी भी हालतमें महात्मा नहीं हैं। अतएव वाणीके द्वारा पर-चर्चाका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये और एक-एक क्षणको भगवान्के नामजपमें लगानेका सावधानीके साथ प्रयत्न करना चाहिये। मनमें जहाँतक बने, ऐसे विषयोंको ही प्रविष्ट कराना चाहिये, जो भगवान्की स्मृति लानेवाले हो और निरन्तर मनको बार-बार प्रयत्न करके भगवान्के नाम एवं गुण-चिन्तनमें ही लगाना चाहिये। शरीरके द्वारा भी जिन कार्योंके करनेकी हमारे निर्दोष सांसारिक निर्वाहके लिये आवश्यकता नहीं, ऐसे कार्योंसे सर्वथा बचना चाहिये।

* * * *

दुःखी-गरीब भाई-बहनोंके साथ विशेष प्रेम और सरलताका बर्ताव करो। उनकी सेवा करनेमें न तो ऐसा ख्याल करो और न कभी यह उनपर प्रकट ही होने दो कि तुम बड़े आदमी या समर्थ हो, इससे उनका उपकार कर रहे हो या उनपर एहसान कर रहे हो। गरीब-भाई-बहनोंकी कोई भी सेवा तुमसे बन जाय तो उनको कभी भूलकर भी उसका स्मरण तो कराओ ही मत, बल्कि मन-ही-मन उनका उपकार मानो कि उन्होंने तुम्हारी सेवा स्वीकार की। परंतु इस कृतज्ञताको भी अपने मनमें ही रखो। उनपर प्रकाश न करो। नहीं तो, शायद वे समझेंगे कि तुम अपने उपकारकी उन्हें याद दिला रहे हो; इससे उन्हें संकोच होगा और अपनी गरीबीकी याद करके वे दुःखी हो जायँगे। जो गिनानेके लिये किसीकी सहायता करता है, वह तो उसे जलानेके लिये आग जलाता है; उसका ताप मिटानेके लिये नहीं।

* * * *

असावधानी विनाशको बहुत शीघ्र बुला लाती है। सचेत रहो, सावधान रहो, जीवन-महलके किसी भी दरवाजेसे काम-क्रोध-रूपी किसी भी चोरको अन्दर न घुसने दो और सावधानीके साथ, जो पहले घुसे बैठे हों, उन्हें दृढ़ता और शूरताके साथ निकालनेकी प्राणपणसे चेष्टा करते रहो। सावधानी ही साधना है।

* * * *

जीवनके एक-एक क्षणको मूल्यवान् समझो और बड़ी सावधानीके साथ प्रत्येक क्षण भगवच्चिन्तन या आत्मचिन्तन करते हुए लोकहितके कार्यमें

बिताओ। तुम्हारा कोई क्षण ऐसा नहीं जाना चाहिये, जिसमें किसीका तुम्हारेद्वारा अहित हो जाय। अहित वाणी और शरीरसे ही होता हो, यह बात नहीं है; यदि तुम्हारे मनमें बुरा विचार आ गया तो मान लो, तुम अपना और दूसरोंका अहित करनेवाले हो गये। बुरा विचार कभी मनमें न आने दो; यदि पूर्वसंस्कारवश आ जाय तो उसको तुरन्त निकाल बाहर कर दो। बुरे विचारको आश्रय कभी मत दो, उसकी ओरसे लापरवाह न रहो।

* * * *

मनको मौन करो। मुँहसे बोलनेका नाम ही मौन नहीं है, मौन कहते हैं चित्तके मौन हो जानेको। चित्त जगत्‌का मनन ही न करे, जगत्‌का कोई चित्र चित्तपटलपर रहे ही नहीं; बस, एकमात्र परमात्मामें ही चित्त रम जाय, वह उसीमें प्रविष्ट हो जाय। विश्वास करो– यह स्थिति होती है, तुम्हारी भी यत्न करनेपर हो सकती है। ऐसा ध्यान हो सकता है, ऐसी समाधि सम्भव है, जिसमें जगत्‌की तो बात ही क्या, तन-मनकी भी सुधि नहीं रहती; अधिक क्या, ध्यान करनेवाला स्वयं ध्येयमें समाकर खो जाता है।

* * * *

प्रतिध्वनि ध्वनिका ही अनुसरण करती है और ठीक उसीके अनुरूप होती है; इसी प्रकार दूसरोंसे हमें वही मिलता है और वैसा ही मिलता है, जो और जैसा हम उनको देते हैं। अवश्य ही वह मिलता है बीजफल-न्यायके अनुसार कईगुना बढ़कर।

सुख चाहते हो, दूसरोंको सुख दो; मान चाहते हो, मान प्रदान करो; हित चाहते हो, हित करो और बुराई चाहते हो तो बुराई करो। याद रखो, जैसा बीज बोओगे, वैसा ही फल मिलेगा। फलकी न्यूनाधिकता जमीनके अनुसार होगी।

जबतक तुम्हें अपना लाभ और दूसरेका नुकसान सुखदायक प्रतीत होता है, तबतक तुम नुकसान ही उठाते रहोगे।

जबतक तुम्हें अपनी प्रशंसा और दूसरेकी निन्दा प्यारी लगती है, तबतक तुम निन्दनीय ही रहोगे।

जबतक तुम्हें अपने सम्मान और दूसरेका अपमान सुख देता है,

तबतक तुम अपमानित ही होते रहोगे।

जबतक तुम्हें अपने लिये सुखकी और दूसरेके लिये दुःखकी चाह है, तबतक तुम सदा दुःखी ही रहोगे।

जबतक तुम्हें अपनेको न ठगाना और दूसरेको ठगना अच्छा लगता है, तबतक तुम ठगाते ही रहोगे।

जबतक तुम्हें अपने दोष नहीं दीखते और दूसरेमें खूब दोष दीखते हैं, तबतक तुम दोषयुक्त ही रहोगे।

जबतक तुम्हें अपने हितकी और दूसरेके अहितकी चाह है, तबतक तुम्हारा अहित ही होता रहेगा।

याद रखो– जो लोग दिन-रात अशुभ संकल्प करते रहते हैं, वे स्वयं तो दुःखी रहते ही हैं, जगत्‌को स्वाभाविक ही अपने अशुभ भावोंका दान देकर– उन्हें फैलाकर सबको न्यूनाधिकरूपसे दुःखी करते हैं। इसी प्रकार शुभ संकल्प करनेवाले पुरुष स्वयं सुखी होते हैं और संसारके सब प्राणियोंको भी सुखी करते हैं।

भ्रममें क्यों पड़े हो?

इस वर्तमान घर-द्वार, पुत्र-कन्या, भाई-बहन, माता-पिता, पति-पत्नीको अपने मानते हो– तुम्हारा यह भ्रम ही है। इस जन्मके पहले जन्ममें भी तुम कहीं थे। वहाँ भी तुम्हारे घर-द्वार, सगे-सम्बन्धी– सब थे। कभी पशु, कभी पक्षी, कभी देवता, कभी राक्षस और कभी मनुष्य– न जानें कितने रूपोंमें तुम संसारमें खेले हो; परंतु वे पुराने– पहले जन्मोंके घर-द्वार, साथी-संगी, स्वजन-आत्मीय अब कहाँ हैं? उन्हें जानते भी हो? कभी उनके लिये चिन्ता भी करते हो? तुम जिनके बहुत अपने थे, बड़े प्यारे थे, उनको धोखा देकर खेलके बीचमें ही उन्हें छोड़ आये; वे रोते ही रह गये और अब तुम उन्हें भूल ही गये हो। उस समय तुम भी आजकी तरह ही उन्हें प्यार करते थे, उन्हें छोड़नेमें तुम्हें भी कष्ट हुआ था; परंतु जैसे आज तुम उन्हें भूल गये हो, वैसे ही वे भी नये खेलमें लगकर, नये घर-द्वार, संगी-साथी पाकर तुम्हें भूल गये होंगे। यही होता है। फिर तुम इस भ्रममें क्यों पड़े हो कि इस संसारके

घर-द्वार, इसके सगे-सम्बन्धी, यह शरीर, सब मेरे हैं?

सबमें भगवद्भाव करें

सदा-सर्वदा भगवान्‌का स्मरण बना रहे, इसलिये समस्त कार्य भगवत्सेवाके भावसे करने चाहिये तथा सब भूत-प्राणियोंमें भगवद्भाव करना चाहिये और सबको मन-ही-मन प्रणाम करना चाहिये। यह बहुत ही श्रेष्ठ साधन है। जिससे भी हमारा व्यवहार पड़े, उसीमें भगवद्‌भाव करें। न्यायाधीश समझे कि अपराधीके रूपमें भगवान् ही मेरे सामने खड़े हैं। उन्हें मन-ही-मन प्रणाम करे और उनसे मन-ही-मन कहे कि 'इस समय आपका स्वाँग अपराधीका है और मेरा न्यायाधीशका। आपके आदेशके पालनार्थ मैं न्याय करूँगा और न्यायानुसार आवश्यक होनेपर दण्ड भी दूँगा। पर प्रभो! न्याय करते समय भी मैं यह न भूलूँ कि इस रूपमें आप ही मेरे सामने हैं और आपके प्रीत्यर्थ ही मैं आपकी सेवाके लिये अपने स्वाँगके अनुसार कार्य कर रहा हूँ।' इसी प्रकार एक भंगिन-माता सामने आ जाय तो उसको भगवान् समझकर मन-ही-मन प्रणाम करे और स्वाँगके अनुसार बर्ताव करे। यों ही वकील मुअक्किलको, दूकानदार ग्राहकको, डॉक्टर रोगीको, नौकर मालिकको, पत्नी पतिको, पुत्र पिताको और अपराधी न्यायाधीशको, भंगिन उच्चवर्णके लोगोंको भगवान् समझकर व्यवहार करे– बर्ताव करे स्वाँगके अनुसार, पर मनमें भगवद्भाव रखे, तो बर्तावके सारे दोष अपने-आप नष्ट हो जायँगे। अपने-आप सच्ची सेवा बनेगी। भगवान्‌की नित्य-स्मृति बनी रहेगी। यों मनुष्य दिनभर अपने प्रत्येक कार्यके द्वारा भगवान्‌की पूजा कर सकेगा। भगवान्‌ने कहा है– 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः। अपने कर्मके द्वारा भगवान्‌को पूजकर मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है।'

जो समय भगवद्भजनमें जाता है, वही सार्थक है

मनुष्यके जीवनके एक क्षणका भी पता नहीं है; न जानें, किस पलमें प्रलय हो जाय, कब मृत्यु आ जाय। इसलिये 'अमुक स्थिति हो जानेपर भगवान्‌का भजन करूँगा', ऐसी धारणा छोड़ देनी चाहिये और अभी जो जिस अवस्थामें है, उसे उसी अवस्थामें भगवान्‌की कृपाका आश्रय करके साधन आरम्भ कर देना चाहिये। आधे क्षणका भी विलम्ब नहीं करना चाहिये।

पलक मारते-मारते मृत्युके ग्रास बन जाओगे, फिर कब करोगे? यह

मत समझो कि 'अभी छोटी उम्र है— खेलने-खाने और विषय भोगनेका समय है; बड़े-बूढ़े होनेपर भजन करेंगे।' कौन कह सकता है कि तुम बड़े-बूढ़े होनेसे पहले ही नहीं मर जाओगे? मौतकी नंगी तलवार तो सदा ही सिरपर झूल रही है।

जरा-सा भी समय भगवान्‌के भजनके बिना नहीं बिताना चाहिये। जो समय भगवद्भजनमें जाता है, वही सार्थक है, शेष सब व्यर्थ है। समयका मूल्य समझकर एक-एक साँसको खूब सावधानीके साथ कंजूसके परिमित पैसोंकी भाँति केवल भगवच्चिन्तनमें ही लगाना उचित है। भजनहीन काल ही वास्तवमें हमारे लिये भयंकर काल है। वही सबसे बड़ी विपत्ति है।

जगत्‌में व्यवहार कैसे करें?

याद रखो— मानवको सब कार्य यथाधिकार, यथाविधि, सुचारुरूपसे करने चाहिये। कार्यमें कहीं त्रुटि न हो— जो कार्य जहाँ जैसा करना विधेय हो, वैसा ही सम्यक् प्रकारसे करना चाहिये; परंतु करना चाहिये आसक्ति न रखकर जगन्मङ्गलके लिये, अथवा भगवान्‌की प्रसन्नता या प्रीतिके लिये। कर्म साङ्गोपाङ्ग हो, परंतु कहीं ममता-आसक्ति न रहे। उदाहरणके लिये नाटकमें नाट्यमञ्चपर अभिनेता अपने स्वाँगके अनुसार विधिवत् अभिनय करता है; जहाँ जिस रसकी अभिव्यक्ति आवश्यक है, वहाँ वह उसीकी अवतारणा करता है— रोनेकी जगह रोता है, हँसनेकी जगह हँसता है; दर्शक-समुदाय उसके सफल अभिनयसे प्रभावित होकर रोने-हँसने लगते हैं; परंतु वह रोता-हँसता हुआ भी वस्तुतः न रोता है न हँसता है। वह तो केवल अभिनय करता है, और करता है उसके द्वारा नाटकके स्वामीको प्रसन्न करनेके लिये। नाट्यमञ्चपर वह किसीका स्वामी बनता है, किसीकी पत्नी बनता है, और ठीक उसीके अनुरूप सम्बोधन करता है, व्यवहार-बर्ताव करता है। बहुमूल्य राजपोशाक तथा आभूषणादि पहनकर राजाका अभिनय करता है और फटा-चिथड़ा लपेटकर फकीरका। परंतु वह जानता है कि मैं न तो यहाँके किसी सम्बन्धसे किसीके साथ सम्बन्धित हूँ, न पोशाक-गहने ही मेरे हैं तथा न मैं राजा या फकीर हूँ। इसी प्रकार मानव आसक्ति किये बिना अपने कर्तव्यकर्मका सुचारुरूपसे पालन करता रहे और उसमें लक्ष्य हो— 'भगवान्‌की प्रसन्नता।'

दुःखोंकी जड़ – ममता

मकान 'मेरा' है, चूनेके एक-एक कणमें 'मेरापन' भरा हुआ है। उसे बेच दिया, हुंडी हाथमें आ गयी; इसके बाद मकानमें आग लगी। मैं कहने लगा– 'बड़ा अच्छा हुआ, रुपये मिल गये।' मेरापन छूटते ही मकान जलनेका दुःख मिट गया। अब हुंडीके कागजमें मेरापन है, बड़े भारी मकानसे सारा मेरापन निकलकर जरा-से कागजके टुकड़ेमें आ गया। अब हुंडीकी तरफ कोई ताक नहीं सकता। हुंडी बेच दी, रुपयोंकी थैली हाथमें आ गयीं। इसके बात हुंडीका कागज भले ही फट जाय, जल जाय; कोई चिन्ता नहीं। सारी ममता थैलीमें आ गयी। अब उसीकी सँभाल होती है। इसके बाद रुपये किसी महाजनको दे दिये। अब चाहे वे रुपये उसके यहाँसे चोरी चले जायँ, कोई परवाह नहीं। उसके खातेमें अपने रुपये जमा होने चाहिये और उस महाजनका फर्म बना रहना चाहिये। चिन्ता है तो इसी बातकी है कि वह फर्म कहीं दिवालिया न हो जाय। इस प्रकार जिसमें ममता होती है, उसकी चिन्ता रहती है। यह ममता ही दुःखोंकी जड़ है। वास्तवमें 'मेरा' कोई पदार्थ नहीं है। मेरा होता तो साथ जाता। पर शरीर भी साथ नहीं जाता। झूठे ही 'मेरा' मानकर दुःखोंका बोझ लादा जाता है। जिसकी चीज है, उसे सौंप दो। जगत्‌के सब पदार्थोंसे मेरापन हटाकर केवल परमात्माको 'मेरा' बना लो। फिर दुःखोंकी जड़ ही कट जायगी।

तन-मन-वचन तीनोंसे भजन करना चाहिये

भजन मन, वचन और तन– तीनोंसे ही करना चाहिये। भगवान्‌का चिन्तन मनका भजन है, नाम-गुणगान वचनका भजन है और भगवद्भावसे की हुई जीवसेवा तनका भजन है। आजकलके दुर्बल प्रकृतिके नर-नारियोंके लिये सबसे अधिक उपयोगी और लाभदायक भजन है– भगवान्‌के नामका जप और कीर्तन। बस, जप और कीर्तनपर विश्वास करके नामकी शरण ले लो; नाम अपनी शक्तिसे अपने-आप ही तुम्हें अपना लेगा और नाम-नामीमें अभेद है, इसलिये नामके द्वारा अपनाये जाकर नामी भगवान्‌के द्वारा तुम सहज ही अपनाये जाओगे।

जहाँ भक्ति है, वहाँ दैवी सम्पत्तिका होना अनिवार्य है

दैवी सम्पत्तिके गुण भक्तका बाना हैं। जहाँ भक्ति है, वहाँ दैवी सम्पत्तिका होना अनिवार्य है। कुछ लोग भूलसे ऐसा कह दिया करते हैं कि 'भक्ति करो; भक्तमें सद्‌गुण न हो तो न सही। मनुष्य चाहे जितने पाप करे; बस, भक्त हो जाय; फिर कोई परवाह नहीं।' परंतु उनका यह कथन वैसे ही युक्तिविरुद्ध है, जैसे यह कथन कि 'सूर्य उदय हो जाय, फिर वहाँ अन्धकार भले ही बना रहे।' जहाँ सूर्य उदय हो गया, वहाँ अन्धकार न रहकर प्रकाश छा ही जाता है। इसी प्रकार जहाँ भक्तिरूपी सूर्यका उदय हो गया है, वहाँ उसका प्रकाशरूप दैवी सम्पत्ति अवश्य फैल जायगी।

भूल जाओ

तुम्हारे द्वारा किसी प्राणीकी कभी कोई सेवा हो जाय तो यह अभिमान न करो कि मैंने उसका उपकार किया है। यह निश्चय समझो कि उसको तुम्हारे द्वारा बनी हुई सेवासे जो सुख मिला है, वह निश्चय ही उसके किसी शुभ कर्मका फल है। तुम तो उसमें केवल निमित्त बने हो; ईश्वरका धन्यवाद करो, जिसने तुम्हें किसीको सुख पहुँचानेमें निमित्त बनाया और उस प्राणीका उपकार मानो, जिसने तुम्हारी सेवा स्वीकार की।

दूसरोंके द्वारा तुम्हारा कभी कोई अनिष्ट हो जाय तो उसके लिये दुःख न करो, उसे अपने पहले किये हुए बुरे कर्मका फल समझो; यह विचार कभी मनमें मत आने दो कि 'अमुकने मेरा अनिष्ट कर दिया है।' यह निश्चय समझो कि ईश्वरके दरबारमें अन्याय नहीं होता। तुम्हारा जो अनिष्ट हुआ है या तुमपर जो विपत्ति आयी है, वह अवश्य ही तुम्हारे पूर्वकृत कर्मका फल है।

दूसरों द्वारा किये उपकारको याद रखो

तुम्हारे द्वारा किसी प्राणीका कभी कुछ भी अनिष्ट हो जाय या उसे दुःख पहुँच जाय तो इसके लिये बहुत ही पश्चात्ताप करो। यह ख्याल मत करो कि 'उसके भाग्यमें तो दुःख बदा ही था, मैं तो निमित्तमात्र हूँ। मैं निमित्त न बनता तो उसको कर्मका फल ही कैसे मिलता, उसके भाग्यसे ही ऐसा हुआ है, मेरा इसमें क्या दोष है।' उसके भाग्यमें जो कुछ भी हो, इससे तुम्हें मतलब नहीं। तुम्हारे लिये ईश्वर और शास्त्रकी यही आज्ञा है कि तुम

किसीका अनिष्ट न करो। तुम किसीका बुरा करते हो तो अपराध करते हो और इसका दण्ड तुम्हें अवश्य भोगना पड़ेगा। उसे कर्म-फल भुगतानेके लिये ईश्वर आप ही कोई दूसरा निमित्त बनाते, तुमने निमित्त बनकर पापका बोझ क्यों उठाया?

दूसरेके द्वारा तुम्हारा तनिक-सा भी उपकार या भला हो अथवा तुम्हें सुख पहुँचे तो उसका हृदयसे उपकार मानो, उसके प्रति कृतज्ञ बनो। यह मत समझो कि 'यह काम मेरे प्रारब्धसे हुआ है, इसमें उसका मेरे ऊपर क्या उपकार है, वह तो निमित्तमात्र है।' बल्कि यह समझो कि उसने निमित्त बनकर तुमपर बड़ी दया की है। उसके उपकारको जीवनभर स्मरण रखो, स्थिति बदल जानेपर उसे भूल न जाओ, सदा उसकी सेवा करने और उसे सुख पहुँचानेकी चेष्टा करो; काम पड़नेपर हजारों आदमियोंके सामने भी उसका उपकार स्वीकार करनेमें संकोच न करो।

भलाई अपनी तरफसे शुरू करें

मनुष्यको चाहिये कि अपनी भूल देखे और अपनी तरफसे भलाई शूरू कर दे; दूसरा क्या करता है, इसको न देखे। जो मनुष्य यह प्रतीक्षा करता है कि दूसरा भलाई करेगा तब मैं करूँगा, वह वास्तवमें भलाई करना नहीं चाहता– उसको भलाईसे प्रीति नहीं है। दूसरा करे या न करे, अपने भलाई करना ही है। यदि बिच्छू डंक मारना नहीं छोड़ता तो क्या संत उसको बचानेका स्वभाव छोड़ दे? सूर्य क्या कभी प्रतीक्षा करता है कि कोई प्रकाश देगा तब मैं प्रकाश दूँगा। इसी प्रकार भलाई करनेवाला मनुष्य स्वभावसे निरन्तर भलाई चाहता है और करता है; उसकी भलाई दूसरोंको भलाईमें प्रवृत्त करती है। कदाचित् न करे तो भी उसकी बुराई तो हुई नहीं; भलाईसे सत्कर्म हुआ और उसका सुन्दर फल भी उसे मिलेगा ही। किसीकी बुराई बिना उसके प्रारब्धवश कोई कर नहीं सकता। पर जो बुराई करना चाहता है, उसके द्वारा असत्कर्म बनता है और उसके फलस्वरूप उसको दुःख अवश्य मिलता है। अतएव अन्तरसे किसीकी बुराई नहीं सोचकर भलाई सोचनी-करनी चाहिये। अपनी ओरसे विष देनेवालेको भी अमृत देना चाहिये, संताप देनेवालेको भी शान्ति देनी चाहिये। भलाई करनेवालेकी भलाई नहीं करना तो पाप है और भला करना मानवता है। महत्व तो बुरा

करनेवालोंकी भलाई करनेमें है, शत्रुका हितचिन्तन कर एवं उसका हित करके उसे मित्र बनानेमें है।

भोगोंमें सुख नहीं है

याद रखो— भोगोंमें सुख वैसे ही नहीं है, जैसे पानीमें घी नहीं है, बालूमें तेल नहीं है, मृगतृष्णाके मैदानमें जल नहीं है और अग्निमें शीतलता नहीं है। अतः जो कोई भी भोगोंसे सुखकी आशा रखता है, उसे सदा निराश ही रहना पड़ता है। तथापि मनुष्य मोहमें पड़कर भोगोंमें सुखकी सम्भावना मानकर उनके अर्जन तथा सेवनमें लगा रहता है और फलस्वरूप नित्य नये-नये रूपोंमें दुःखोंसे, तापोंसे जलता रहता है।

अग्नि जितनी बड़ी होती है, उतनी ही उसकी गर्मी दूर-दूरतक जाती है। इसी प्रकार कामनाकी अग्नि जितनी बढ़ी हुई होती है, उतनी ही अधिक वह अपनेको तथा अपने सम्पर्कमें आनेवाले पार्श्ववर्तियोंको जलाती है। इतना ही नहीं, कुछ भी सम्बन्ध न रखनेवालोंको भी कभी-कभी उससे बड़ा संताप मिलता है। यह कामनाकी अग्नि विषयोंकी प्राप्तिसे नहीं बुझती; इसे बुझानेके लिये तो वैराग्यरूपी धूल और भगवत्प्रेमरूपी अजस्र अमृत जल-धारा चाहिये। वह वैराग्य तभी प्राप्त होगा, जब भोगोंमें दुःखोंके दर्शन होंगे। भोग सुखरहित, दुःखालय और दुःखयोनि ही हैं; पर भ्रमवश— मोहवश उनमें सुखकी मान्यता हो रही है और जैसे शराबके नशेमें चूर मनुष्य गंदे नालेमें पड़ा हुआ भी अपनेको सुखी बतलाता है, वैसे ही उसे भोगोंमें सुखोंकी मिथ्या अनुभूति होती है। शराबीका जैसे वह प्रलाप होता है, वैसे ही उसका भी प्रलाप होता है।

याद रखो— जबतक तुम भगवान्‌को पीठ दिये, भोगोंकी ओर मुख किये चलते रहोगे, तबतक तुम्हें सुख-शान्ति नहीं मिलेगी। जितना-जितना अधिक तुम भोगोंकी और अग्ररस होओगे, स्वाभाविक ही भोग-मार्गमें स्थित, भोग-क्षेत्रसे उदित, भोगोंकी सहज परिणामरूपा निराशा, भय, विषाद, चिन्ता, राग, द्वेष, वैर, अशान्ति, द्रोह, दम्भ, परिग्रह, हिंसा, कामना, वासना, ममता आदि दुर्गुण-दुर्विचारोंसे घिरे रहकर सदा-सर्वत्र दुखः-सागरमें डूबे रहोगे। जहाँ-जहाँ तुम सुखकी आशासे जाओगे, वहीं तुम्हें भयानक दुःखराशिके दर्शन होंगे; क्योंकि वहाँ— भोग-राज्यमें ये ही वस्तुएँ हैं। भोग-राज्यमें फँसा मनुष्य कितनी ही शान्तिकी, सुखकी, वैराग्यकी, निष्कामभावकी चर्चा करे, वह कभी

भी शान्ति-सुखको प्राप्त नहीं हो सकता। अशान्ति-दुःख उसके नित्य सङ्गी बने रहेंगे। अतएव जैसे भी हो, भगवान्‌की ओर मुड़ जाओ, जबर्दस्ती ही मुड़ जाओ।

पाप और पुण्यकी परिभाषा

पाप और पुण्यकी सीधी-सी परिभाषा यह है कि जिस भावना या क्रियासे परिणाममें अपना तथा दूसरोंका अहित होता हो, वह 'पाप' है; और जिस भावना या क्रियासे परिणाममें अपना तथा दूसरोंका हित होता हो, वह 'पुण्य' है। जिससे दूसरोंका हित नहीं होता, उससे अपना हित कदापि नहीं होगा और जिससे दूसरोंका हित होता है, उससे अपना कभी अहित नहीं होगा– यह सिद्धान्त निश्चयरूपसे मान लेना चाहिये। हमारा वास्तविक हित दूसरोंके हितमें ही समाया है। जो मनुष्य ऐसा मानते हैं कि हम दूसरोंका अहित करके या दूसरोंके हितकी उपेक्षा करके अपना हित करते हैं या कर लेंगे, वे वस्तुतः बड़े मूर्ख हैं। वे अपना हित कभी कर ही नहीं पाते। यह मान्यता ही भ्रम है कि दूसरोंके हितकी उपेक्षा या उनका अहित करनेसे हमारा हित हो जायगा। यथार्थमें वे मनुष्य बड़े ही अभागे हैं, जो दूसरोंके अहितमें अपना हित और दूसरोंके दुःखमें अपना सुख समझते है। ऐसे मनुष्य ही 'असुर-मानव' हैं, जिनका जीवन दूसरोंकी बुराईमें ही लगा रहता है। वे दूसरोंकी बुराई करने जाकर अपनी ही बुराई करते हैं।

पाप मनुष्य स्वयं करता है, भगवान् नहीं कराते

भगवान् किसी पापी या अन्यायीका हाथ नहीं रोकते। यह उन्हींका बनाया हुआ नियम है कि मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। जैसे गवर्नमेंट जब किसीको बंदूकका लाइसेंस देती है, तब उसे बंदूक रखने या चलानेकी कानूनी बातें समझाकर स्वतन्त्र कर देती है। फिर वह अपने इच्छानुसार उस शस्त्रका उपयोग करता है। वह चाहे तो कानूनका पालन करते हुए उसका उपयोग कर सकता है अथवा चाहे तो कानून तोड़कर भी उपयोग कर सकता है। जिस समय कानूनके विरुद्ध वह उस शस्त्रको चलाता है, उस समय भी वह उसका हाथ पकड़ने नहीं आती, फिर भी उसके कानून-भङ्ग करनेका दण्ड उसे यथासमय अवश्य देती है तथा शस्त्र भी जब्त कर लेती

है। इसी प्रकार भगवान् जब जीवको मानव-शरीररूपी शस्त्र देकर संसारमें भेजते हैं, तब शास्त्ररूपी कानून साथ रख देते हैं और कहते हैं– 'शास्त्रके अनुसार चलनेसे तुम्हें लाभ होगा, पुरस्कार प्राप्त होगा।' जो शास्त्रके विरुद्ध चलता है, उसका वे हाथ नहीं पकड़ते, केवल उसके अन्यायको स्मरण रखते हैं और उसका यथोचित दण्ड समयपर उसे देते हैं।

मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र, किंतु फलभोगमें परतन्त्र है

भगवान्ने प्रत्येक मनुष्यको कर्म करनेमें स्वतन्त्र बना रखा है। अतएव उसके कार्यकी जिम्मेदारी उसीपर है। वह कर्म करनेमें स्वतन्त्र, किंतु फलभोगमें परतन्त्र है। मनुष्यके अन्तःकरणमें दो प्रधान शत्रु हैं– काम और क्रोध। ये ही सारे अनर्थोंकी जड़ हैं। इन्हींकी प्रेरणासे मनुष्य पापकर्ममें प्रवृत्त होता है। ये दोनों शत्रु अपने मनमें रहते हैं और हम ही इनको प्रोत्साहन देते हैं। अतः इनके द्वारा होनेवाले कर्म भी हमारे ही किये हुए समझे जाते हैं। अतएव कोई भी मनुष्य, जो राग-द्वेष या कामनाके वशीभूत होकर कर्ममें प्रवृत्त होता है, अपने किये हुए कर्मोंके उत्तरदायित्वसे मुक्त नहीं हो सकता। उसे उनका फल अवश्य भोगना ही पड़ेगा।

कर्मका फल अवश्य भोगना पड़ता है और कर्मानुसार जन्मान्तरकी प्राप्ति होती रहती है; एवं जबतक भगवत्प्राप्ति या मुक्ति नहीं हो जाती, तबतक यह जन्म-मरणका प्रवाह चलता ही रहता है। मरनेपर कर्मानुसार जीव आतिवाहिक देह प्राप्त करके तेजःप्रधान देव-देहसे स्वर्गादि लोकोंमें अथवा वायुप्रधान पितृ-प्रेतादि देहसे पितृ-प्रेत-लोकोंमें जाता है। परंतु हिंदू-संस्कृतिके सिद्धान्तमें अनन्तकालीन स्वर्ग या नरक नहीं है। स्वर्ग या नरकादिके सुख-दुःख भोगकर जीव पुनः अपने कर्मानुसार अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेता है।

मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है और फलमें परतन्त्र है। निषिद्ध कर्माचरणसे अन्धकारमय दुःखप्रद नरकादि लोक और नीच पशु-पक्षी आदि योनियाँ प्राप्त होती हैं और पवित्र वैध कर्मोंके फलस्वरूप सुखमय स्वर्गादि लोक और उत्तम श्रेष्ठवर्णकी मानव-योनि प्राप्त होती है।

* * * *

अपराध कैसे बंद होंगे?

जबतक अपराधको अपराध न माना जाय, अपराधका भयंकर फल परलोकमें भोगना पड़ेगा– यह विश्वास न हो, 'मेरे अपराधको सर्वव्यापी भगवान् देखते हैं'– यह निश्चय न हो, तबतक किसी भी बाहरी क्रियासे, कानूनसे या दण्डसे अपराधोंका अन्त नहीं हो सकता। धर्मके सिद्धान्तमें विश्वास होनेपर जब मनुष्य अपराधको पाप समझेगा, तब एकान्तमें भी वह अपराध नहीं करेगा। मनमें भी अपराधके भाव आनेपर वह अन्तर्यामी प्रभुसे संकोच करेगा, उनसे डरेगा। नहीं तो, चोरोंको दण्ड देनेका काम करनेवाला मनुष्य भी स्वयं चोरीका धन लेनेमें नहीं हिचकेगा, किसीको खूनका अपराधी सिद्ध करके उससे घृणा करनेवाला भी स्वयं स्वार्थवश खून करने-करानेमें पश्चात्तापका अनुभव नहीं करेगा। और दूसरेको व्यभिचारी बताकर उसकी घोर निन्दा करनेवाला भी स्वयं व्यभिचारमें रस लेगा। वस्तुतः अपराधके मूलस्रोतका नाश होना चाहिये। वह रहता है मनमें, उसका नाश धर्मकी अग्निसे ही होता है।

पहले अपना सुधार करो

दुनियाके सुधार और उद्धारकी चिन्ता छोड़कर पहले अपना सुधार और उद्धार करो। तुम्हारा सुधार हो गया तो समझो कि दुनियाके एक आवश्यक अङ्गका सुधार हो गया। यदि ऐसा न हुआ, तुम्हारे हृदयमें उच्च भावोंका संग्रह नहीं हो सका, तुम्हारे क्रियाएँ राग-द्वेष-रहित, पवित्र नहीं हुई और तुमने दुनियाके सुधारका बीड़ा उठा लिया, तो याद रखो, तुमसे दुनियाका सुधार होगा ही नहीं। यह मत समझो कि तुम लोकसेवक हो, लोकसेवा करते हो तो फिर तुम्हारे व्यक्तिगत चरित्रसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। तुम्हारा चरित्र कलुषित या दूषित होगा तो तुम लोकसेवा कर ही नहीं सकते। लोकसेवा तुम उस सामग्रीसे ही तो करोगे, जो तुम्हारे पास है। दुनियाके सामने तुम वही चीज रखोगे, उसको वही पदार्थ दोगे, जो तुम्हारे अन्दर है। दुनियाको तुम स्वाभाविक ही वही क्रिया सिखलाओगे, जो तुम करते हो। इससे दुनियाका कल्याण कभी नहीं होगा।

सुननेवाले लाखों हैं, सुनानेवाले हजारों हैं, समझनेवाले सैकड़ों हैं, परंतु करनेवाले कोई विरले ही हैं। सच्चे पुरुष वे ही हैं और सच्चा लाभ भी

उन्हींको प्राप्त होता है, जो करते हैं।

उपदेश करो अपने लिये, तभी तुम्हारा उपदेश सार्थक होगा। जो कुछ दूसरोंसे करवाना चाहते हो, उसे पहले स्वयं करो; नहीं तो तुम्हारे उपदेश नाटकके अभिनयके सिवा और कुछ भी नहीं हैं।

विचार-स्वातन्त्र्य

विचार-स्वातन्त्र्यका अर्थ मनमाना आचरण करना नहीं हैं। 'मेरे मनको जो अच्छा लगेगा, मेरी इन्द्रियाँ जिसमें सुख मानेंगी, मैं वही करूँगा, किसी भी नियम-संयममें, बन्धनमें नहीं रहूँगा। किसीकी हानि हो या लाभ, अपना भी नैतिक पतन हो या उत्थान, मैं इसकी परवाह नही करूँगा। मेरी स्वतन्त्रताके आगे किसीका भी कोई मूल्य नहीं है'– ऐसा मानना विचार-स्वातन्त्र्य नहीं है। यह तो यथेच्छाचार है और प्रत्यक्ष ही मन-इन्द्रियोंकी गुलामी है। जो मन-इन्द्रियोंका गुलाम बनकर उनकी तृप्तिके लिये विवेकशून्य यथेच्छ आचरण करता है, वह स्वतन्त्र कहाँ है, असलमें तो वही परतन्त्र है। जो शरीरसे परतन्त्र है, पर मन-इन्द्रियोंपर जिसका अधिकार है; जो उनके वशमें नहीं है, पर वे ही जिसके वशमें हैं, वही वस्तुतः स्वतन्त्र है। इस स्वतन्त्रताके लिये नियमोंकी आवश्यकता है, संयमकी आवश्यकता है एवं नित्य अंदर छिपे रहनेवाले काम-क्रोध, ईर्ष्या-असूया, राग-द्वेष, दम्भ-हिंसा आदि शत्रुओंके पूर्ण दमनकी आवश्यकता है। जो मन-इन्द्रियोंको दोषोंसे रहित और नित्य संयमके बन्धनमें रखता है, वही बन्धनसे छूटता है। यह बन्धन मुक्तिके लिये होता है और इस बन्धनसे छूटना नित्य-बन्धनमें बँधना होता है।

रोगोंकी वृद्धिका कारण

जहाँ डाक्टर-वैद्योंका व्यवसाय खूब चलता हो, दवाओंके कारखाने तथा बाजार उत्तरोत्तर प्रगति करते हों, दवा-व्यवसाय बहुत लाभदायक हो, वहाँ निश्चित ही बीमारोंकी तथा बीमारियोंकी संख्या बढ़ी हुई है और लोग संयमी न रहकर दवा-दास हो रहे हैं। हमारे भारतमें इस समय दवा-उद्योग उत्तरोत्तर उन्नत होता चला जा रहा है। आयुर्वेदिक औषध-निर्माणके बड़े-बड़े व्यवसाय चल ही रहे थे, अब करोड़ोंकी पूँजी लगाकर सरकार ऐंटीबायोटिक औषधोंके निर्माणके बहुत बड़े कारखाने खोलने जा रही है। इनमें करोड़ों रुपयोंकी

दवाइयाँ बनेंगी। अधिक-से-अधिक औषधोंका निर्माण (Production) होगा और अधिक-से-अधिक उनकी खपत तथा माँग होगी, तभी ये कारखाने लाभप्रद हो सकते हैं– तभी यह उद्योग (Industry) सफल हो सकता है। इसके लिये रोगी और रोगोंका बढ़ना आवश्यक है। ये कारखाने इसलिये तो बन ही नहीं रहे हैं कि देशमें लोग संयमी हो जायँ, रोगोंकी कमी हो जाय और इन कारखानोंको घाटा लगे। ये तो बनाये ही जाते हैं मुनाफेके लिये। अतएव स्वाभाविक इनका प्रचार-कार्य होगा– जिससे इनकी दवा अधिक-से-अधिक बिकें। अतएव स्वाभाविक ही रोग और रोगियोंकी संख्या देशमें बढ़े– यही इच्छा और प्रयत्न इनका होगा; उसका प्रकार कुछ भी हो।

चोर-पूजा

हमारी ईमानदारीका इतना ह्रास हो गया है कि सभी वर्गोंके लोग धनके लिये चोरी, बेईमानी, छलकपट, मिलावट, परस्वापहरण, हिंसा आदि करनेमें बुद्धिमानी मानने लगे हैं। ईश्वर-धर्मका कोई भय नहीं, कानूनका बचाव होना चाहिये; और जहाँ कानून मनवानेवाले और माननेवाले समझौता करके भागीदारी कर लेते हैं, वहाँ तो कुछ कहने-सुननेकी बात ही रह नहीं जाती। व्यापरियोंमें तथा अधिकारीवर्गमें चोरी-घूसखोरी आगकी तरह बढ़ रही है और पैसा हो जानेपर यह नहीं देखा जाता कि पैसा किस साधनसे आया है। किसी तरह भी हो, पैसा आया कि उसे समाजके नेता होनेका, विद्वानोंद्वारा आदर पानेका, अधिकारियोंद्वारा सम्मान पानेका, समाजमें परम सत्कार तथा उच्चस्थान पानेका अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस 'चोर-पूजा'से समाजका बड़ा ही अहित हो रहा है।

आज उन्नतिके नामपर 'सह-भोजन', 'सह-शिक्षा', होटलोंमें सब कुछ तथा सब तरहसे बने हुए पदार्थोंका 'अनर्गल आहार', 'उच्छिष्ट भोजन,' 'निर्लज्ज तथा अमर्यादापूर्ण डान्स' आदि चलते हैं। 'सिनेमा' तथा 'इन्द्रियोंमें अनुचित उत्तेजना पैदा करनेवाला साहित्य' अपना अलग प्रभाव डालते हैं। परिणाम यह होता है कि आज कोई 'धर्म'के नामसे घृणा करता है, कोई सम्प्रदाय कहकर मखौल उड़ाता है, कोई धर्मकी बात सोचकर व्यर्थ समय नष्ट करना समझता है। और कोई-कोई तो धर्मको उन्नतिका सर्वथा विघातक समझता है। धर्महीन विचार, धर्महीन शिक्षा, धर्महीन बाहरी छोटे-बड़े

आचार-व्यवहार– सब मिलकर आज मनुष्यको मानवतासे गिराकर, उसे पशुता और असुरतामें परिणत कर रहे हैं। इस प्रकार द्रुतगतिसे जो 'धर्महीन समाज'का निर्माण हो रहा है, उसका परिणाम कितना भयानक होगा– इसपर गम्भीरतासे विचार करनेकी आवश्यकता है।

जीवनस्तरको ऊँचा उठाओ

आजकल एक नया रोग फैला है– 'जीवनके स्तरको, रहन-सहनको ऊँचा उठाओ।' त्याग, तपस्या, संयम, सादगी, सेवा, सदाचार, मितव्ययिता आदिमें नहीं, भोग, उच्छृङ्खलता, यथेच्छाचार, विलासिता, आरामतलबी, अनाचार, फिजूलखर्ची आदिमें। इसका आदर्श है– अनावश्यक आवश्यकताओंको बढ़ाते रहो। अधिक-से-अधिक वस्तुओंका उपयोग करो, मौज-शौककी चीजें बरतनेकी आदत डालो, हाथ-पैरसे कामकाज न करो, श्रम करनेमें अपमान समझो, सिनेमा-रेडिओ आदिसे आनन्द लूटो, जीवनका सारा समय तथा सारी विवेक-बुद्धिको लगाते रहो। इस ऊँचे स्तरके निर्माणमें मिथ्या अभिमान, फैशन, विलासिता, बाहरी दिखावा, बेहद खर्च, समयका नाश और इन्द्रियोंका दासत्व कितना बढ़ जाता है, साथ ही शारीरिक रोग भी कितने बढ़ते हैं– इसका जरा भी ध्यान न करके हमलोग आज नकली आवश्यकताओंको बढ़ाते जाते हैं। हमारे छात्र-छात्राओंमें यह रोग बहुत तेजीसे बढ़ रहा है, जो देशके लिये अत्यन्त घातक है।

* * * *

गीताप्रेस के संस्थापक - संत प्रवर सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्का

परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्काके सम्बन्ध भाईजीके लेखनीसे

इन पंक्तियोंके लेखक (श्रीभाईजी) की दृष्टिमें परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका स्थान बहुत ही ऊँचा हैं। यद्यपि सम्बन्धमें वे मेरे मासेरे भाई होते थे, तथापि दूर-दूर रहनेसे मिलनेका काम नहीं पड़ा। उनको मेरे पास भगवान्ने भेजा। आध्यात्मिक जगत्में इस प्रकारके महान् पुरुष बहुत ही थोड़े हैं। देवर्षि नारदने कहा है—

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योमोघश्च

महापुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ अगम्य और अमोघ है। सच्चे सत्पुरुष सहजमें मिलते नहीं, मिलनेपर पहचाने नहीं जाते तथाति इनका सङ्ग कभी व्यर्थ नहीं जाता। इसी कथनके अनुस्तर मेरी यह धारणा है कि लोगोंने इन्हें भलिभाँति समझा या पहचाना नहीं है। वास्तवमें पहचानना है भी कठिन, एक सीधसादे साधारण बोलचालमें अनपढ़से प्रतीत होनेवाले और गृहस्थमें रहकर व्यापारी-जीवन व्यतीत करनेवालेको इस रूपमें पहचानना भी कठिन है। मैंने देखा है जब अपनेको पढ़े-लिखे समझनेवाले लोग पहले-पहल इनसे मिलते हैं या इनका कोई प्रवचन सुनते हैं तो आरम्भमें इनकी हिन्दी भाषा और शब्दोंके उच्चारणमें दोष देखकर प्रायः समझ लेते हैं कि यहाँ क्या रक्खा है। कहीं-कहीं तो लोग ऊबकर उठ भी जाते हैं। परन्तु जो धैर्य धारणकर कुछ समयतक बैठे रहते हैं, उन्हें इनका तात्त्विक विवेचन सुनकर चकित होना पड़ता है। आप शुरु हिन्दी नहीं लिख सकते, इसलिये मारवाड़ी मिश्रित हिन्दीमें ही इनके लेख होते हैं। मैं अपनी शक्तिभर आपके भावोंकी रक्षा करते हुए भाषाका संशोधन कर लिया करता हूँ। मुझे एक ऐसे सत्पुरुषके सङ्गका और उनके लेखोंके सम्पादनका सुअवसर प्राप्त हुआ इसे मैं अपने लिये बहुत ही सौभाग्य समझता हूँ।

* * * *

बहुत पुरानी बात मुझे याद आती है, जब गीताभवन नहीं बना था। स्वर्गाश्रम हमलोग आते भी नहीं थे। ऋषिकेशमें काली कमलीवालेकी धर्मशालामें ठहरा करते थे। वहीं सत्संग होता था। पूज्य श्रीसेठजीका यह महान् कार्य था। उनके द्वारा कितना कार्य हुआ है यह चाहे इतिहासके पन्नोंमें न लिखा जाय पर भगवानके यहाँ लिखा हुआ है ही। उनके द्वारा कितनोंको

कितनी, कैसी प्रेरणा मिली, यह जिनको मिली वे ही जानते हैं। ... ... श्रीसेठजीकी जीवोंपर स्वाभाविक ही अहैतुकी दया है कि वे इस प्रकारके घोर कालमें सत्संगकी ऐसी परम पवित्र और दिव्य व्यवस्था करते हैं। हम सरीखे जीवोंपर उनका कितना उपकार है, इस बातको अभी कोई इतना महत्त्व नहीं देता, जानता भी नहीं। क्या कहा जाय। मैं तो जब अपनी तुच्छता और उनकी महान् दया तथा अहैतुकी प्रीतिकी ओर देखता हूँ तो अपना बड़ा ही सौभाग्य समझता हूँ कि भगवान्‌ने मुझ सरीखेको ऐसे महान् दिव्य स्वामी दिये हैं जो केवल अपनी ही ओर देखकर सदा प्रसन्न रहते हैं।

श्रद्धेय श्रीसेठजीके सम्बन्धमें कुछ

श्रद्धेय श्रीसेठजीका शरीर इधर एक वर्षके अधिक समयसे रुग्ण था। यद्यपि वे स्वरूपतः सदा स्वस्थ थे (**समदुःखसुखः स्वस्थः**)। वे बाँकुड़ा थे, पर गत मार्च मासमें ऐसा अनुमान हो गया था कि उनका भौतिक देह बहुत दिन नहीं चलेगा । अतः उनके इच्छानुसार उन्हें बाँकुड़ासे गीताभवन, स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) के पवित्र गङ्गातटपर लाया गया। वे ३१ मार्चको यहाँ पहुँच गये थे। तदनन्तर ता. ६ अप्रैलको भाई हनुमानप्रसाद पोद्दार भी वहाँ पहुँच गये। परिवार-घरके प्रिय बन्धु तथा सत्संगी भाई-बहिन भी प्रचुर संख्यामें पहुँचने लगे और अन्ततक बहुत लोग आ गये। शरीरकी स्थिति उत्तरोत्तर गिरने लगी। पर देहावसानके पाँच दिन पहलेतक वे पत्र सुनते तथा उनके उत्तर लिखवाते रहे। बोलनेकी शक्ति कम हो गयी थी और उदर, पीठ तथा सिरमें भयानक पीड़ा थी, तथापि वे धीरे-धीरे बोलते और उपदेशकी बात कहते थे। प्रतिदिन–यहाँतक कि देहावसानके दिनतक उन्होंने संध्या की, सूर्यार्घ्य दिया। नामजप तो उनका अन्तिम क्षणतक चलता रहा। सदाचारादि नियमोंका पालन भी अक्षुण्णरूपसे अन्त समयतक उनका चालू रहा। उन्होंने भयानक-से-भयानक पीड़ामें भी कभी एलोपैथिक दवा तो ली ही नहीं। आयुर्वेदिक औषधियोंमें भी, उनका सेवन नहीं किया, जिनमें कुछ भी अपवित्र वस्तुका कोई संयोग रहा हो। खान-पानमें उनका नियमपालन ज्यों-का-त्यों बना रहा। वे आदर्श सदाचारी थे। अपनी अस्सी वर्षकी दीर्घ आयुमें उन्होंने आजन्म भारतीय संस्कृति, ऋषिप्रणीत सनातन धर्म, अध्यात्मतत्त्व, ईश्वरभक्ति, गीतोक्त निष्कामकर्मयोग, ज्ञान, दीनसेवा, गोसेवा एवं प्राणिहित आदिके सेवन तथा

प्रचार-प्रसारके द्वारा भगवान्‌की जो अवर्णनीय सेवा की, वह सर्वथा आदर्श और चिरस्मरणीय है। साधनामें भक्तिकी प्रधानता, सिद्धान्तमें निष्काम कर्मयोग और स्वरूपतत्त्वमें अद्वैत ब्रह्मनिष्ठा आपके जीवनमें प्रतिष्ठित थी। उन्होंने इनका केवल प्रचार ही नहीं किया– स्वयं साधन किया और अनुभव प्राप्त किया। वे जीवन्मुक्त महापुरुष थे।

दिनांक १६ रात्रिको उन्होंने भाई हनुमानप्रसादसे ध्यान करानेको कहा। पहले तो वे नहीं समझे, परंतु पुनः संकेत प्राप्त करनेपर उन्होंने सेठजीके प्रिय 'आनन्द' तत्त्वका विशेषणोंसहित उच्चारण किया। उन्होंने उसे बार-बार सुना। बड़े प्रसन्न हुए। तदनन्तर पुनः वैसा ही संकेत मिला, तब हनुमानप्रसादने उन्हें पुनः आनन्दतत्त्वके शब्द कई बार सुनाये, फिर अद्वैत ब्रह्मके बोधक कुछ श्रुतियाँ सुनायी। और उन्हें उनके अपने नित्य सत्य ब्रह्म-स्वरूपका वर्णन सुनाया। जो कुछ सुनाया उसमेंसे कुछ यहाँ दिया जा रहा है–

आनन्दतत्त्वके उद्‌गार

आनन्द, आनन्द, सत् आनन्द, चित् आनन्द, पूर्ण आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, अमृतस्वरूप आनन्द, स्वरूपानन्द आनन्द, आत्मानन्द, ब्रह्मानन्द, विज्ञान आनन्द, कैवल्यानन्द, महदानन्द, अजरानन्द, अक्षरानन्द, नित्य आनन्द, अव्यय आनन्द, अनन्त आनन्द, अपार आनन्द, परात्परानन्द, असीम आनन्द, परमानन्द, अनिर्वचनीय आनन्द, अचिन्त्य आनन्द, अपरिमेय आनन्द, निरतिशय आनन्द, आनन्दमय आनन्द, आनन्दमें ही आनन्द, आनन्दसे ही आनन्द, आनन्दको ही आनन्द, आनन्द-ही-आनन्द, आनन्द-ही-आनन्द, आनन्द, आनन्द।

तदनन्तर कहा–

'आपमें न जन्म है, न मृत्यु है; न जरा है, न रोग है; न वृद्धि है, न ह्रास है; न विकास है, न विनाश है; न मन है, न चित्त है; न प्राण है, न अप्राण है और न इन्द्रिय है, न इन्द्रियोंके विषय हैं।

आप नित्यमुक्त हैं आप जीवन्मुक्त हैं; ब्रह्म आपका स्वरूप है और आप उस नित्य ब्रह्ममें ही अभिन्न प्रतिष्ठित हैं। एक ब्रह्म ही ब्रह्म है। ब्रह्म ही है।

'अयमात्मा ब्रह्म', 'सर्व खल्विदं ब्रह्म', 'सत्यं ब्रह्मेति सत्यं ह्येव ब्रह्म',

'तत्त्वमसि', ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

जिस समय भाई हनुमानप्रसाद उन्हें यह सब सुना रहे थे, उस समय सेठजीके चेहरेपर आनन्दकी लहरें-सी उठ रही थीं। वे अत्यन्त प्रसन्न थे। सोये-सोये ही बारंबार हनुमानप्रसादको हाथोंसे खींचकर उनके गलेमें दोनों हाथ डालकर उन्हें हृदयसे लगाना चाहते थे। बार-बार सुनानेका संकेत करते थे और इससे उन्हें बार-बार सुनाया भी जाता था। सब सुननेके बाद वे आनन्द-गद्गद वाणीसे धीमे स्वरमें बोले– 'ठीक है-ठीक है। सब ब्रह्म ही है, ब्रह्म ही है। और कुछ भी नहीं है। आनन्द-आनन्द।'

गत दिनांक १७ अप्रैलको दिनके लगभग ४ बजे पवित्र गङ्गातटपर परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजीके भौतिक देहका त्याग हो गया। निष्काम कर्मयोगकी सजीव प्रतिमा और अद्वैत ज्ञानके एक प्रकाशमान सूर्यका अस्त हो गया। यों तो उनके उपदेश अमर थे और नित्य अमर रहेंगे।

('कल्याण'में प्रकाशित)

श्रद्धेय सेठजीके अन्तिम अमृतोपदेश

बाँकुड़ासे गीताभवन (स्वर्गाश्रम-ऋषिकेश) आते समय लखनऊमें दर्शनार्थ आये हुए लोगोंसे कहा–

'नित्य नियमपूर्वक अपनेसे बड़ोंको प्रणाम करना, उनकी सेवा करना और उनका आज्ञापालन करना।'

'नित्य निरन्तर भगवान्‌के नामका श्रद्धासहित निष्काम भावसे प्रेमपूर्वक जप करना और भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करना।'

'एक क्षणके लिये भी भगवान्‌के नामको कभी न भूलना।'

'खूब मनसे ये सब करना और जरा भी कमी रहे तो उसके लिये एकान्तमें श्रद्धा-विश्वासपूर्वक करुण भावसे गद्गद होकर रोते हुए भगवान्‌से प्रार्थना करना।'

'सबको भगवान्‌का स्वरूप समझना।'

'सब वस्तुओंको भगवान्‌की समझना।'

'सब कार्य भगवान्‌के समझना और भगवान्‌के लिये ही सब काम करना।'

'नित्य श्रद्धा-विश्वासपूर्वक निष्काम प्रेमके साथ यह सब करनेपर बारह महीनेमें भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है... ... ...'

देहावसानसे कुछ ही दिनपूर्व गीता-भवनमें कहे और लिखवाये हुए अमूल्य वाक्य–

'दुर्गुण, दुराचार, दुर्विचार, दुर्व्यसन, दंभ, मद, अभिमान, अधिक निद्रा, आलस्य, प्रमाद, विषयभोगोंका तथा भोगियोंका सङ्ग –इनको विषके समान समझकर इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। ये सब आसुरी सम्पत्ति हैं।'

'सद्गुण, सदाचार, सद्विचार, सत्संग, सरलता, साधुता, नम्रता, ज्ञान, वैराग्य एवं ईश्वरकी भक्ति –इनको अमृतको समान समझकर इनका नित्य निरन्तर सेवन करना चाहिये। यह दैवी सम्पत्ति है। यही सार तत्त्व है।'

'आसुरी सम्पदा नरकके लिये है और दैवी सम्पदा कल्याण करनेवाली है।'

('कल्याण'में प्रकाशित)

गीताप्रेसके मूल संस्थापक श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका परम प्रयाण

गीताप्रेसके मूल संस्थापक, संचालक, प्राणदाता श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका नाम 'कल्याण'के सभी पाठक भलीभाँति जानते हैं। इधर कुछ दिनोंसे वे बीमार थे और गत दिनाङ्क १७ अप्रैल १९६५, शनिवारको उन्हींके द्वारा संस्थापित गीता-भवन, ऋषिकेशमें पवित्र गङ्गातटपर संध्याके लगभग ४ बजे उनका देहावसान हो गया। वे मुक्त महापुरुष थे, संत थे; अतएव भौतिक देहके अवसानसे उनकी कोई हानि नही हुई। वे तो अपने स्वरूपमें ही स्थित थे और अब भी हैं ही; पर उनके प्रत्यक्ष उपदेशसे, उनके आचरणसे, उनके व्यवहार-बर्तावसे असंख्य लोगोंको जो परम लाभ अनवरत चिरकालसे प्राप्त हो रहा था, वह अब नहीं होगा। उनके अपने लिये शोक या दुःख प्रकट करनेकी जरा भी बात न होते हुए भी हमलोग जो उनके प्रत्यक्ष उपदेशोंसे वञ्चित हो गये, यह हमारे लिये बहुत बड़ी हानि है और इसका भयानक दुःख भी है ही। अब तो हम सभीको उनके जीवनमें आचरित व्यवहारोंके द्वारा और वे जो धार्मिक और आध्यात्मिक अमूल्य साहित्य दे गये हैं, उसको अपने जीवनमें उतारने और उसके प्रचार-प्रसारके द्वारा ही लाभ उठाना चाहिये। यही उनकी परम सेवा होगी, उनका वास्तविक स्मारक होगा और उनके अनन्त उपकारोंके बदलेमें कुछ निवेदन करने

योग्य सम्पत्ति होगी। 'कल्याण'के समस्त पाठक-पाठिकाओंसे हमारा यह विनम्र निवेदन है कि वे श्रीजयदयालजीके आत्माके लिये किसी प्रकारका शोक प्रकाश न करके उनके बताये हुए मार्गका अनुसरण करें, उनके भावों और विचारोंका प्रचार करें और जीवनमें परम लाभ प्राप्त करें।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

('कल्याण'में प्रकाशित)

कृतज्ञता-प्रकाश तथा क्षमा-प्रार्थना

श्रद्धेय श्रीजयदयालजीके इस भौतिक देहत्यागसे देशकी, धर्मकी क्षति हुई है, वह अवर्णनीय है। समस्त देशके कोने-कोनेसे हमारे पास बहुसंख्यक तार, पत्र आये हैं और अभी आ रहे हैं। इन सहानुभूति, संवेदना प्रकट करनेवाले तथा श्रद्धाञ्जलि अर्पण करनेवालोंमें बड़े-बड़े संत-महात्मा, सम्मान्य आचार्य, केन्द्रिय मिनिस्टर, प्रदेशोंके मिनिस्टर, माननीय जननायकगण, परम आदरणीय विद्वान, बड़े-बड़े व्यापारी, प्रसिद्ध समाचारपत्रोंके संचालक तथा सम्पादक, सम्मानास्पदा देवियाँ, देशकी विभिन्न संस्थाएँ तथा कल्याणके एवं गीताप्रेसके साहित्यके पाठक-पाठिका, स्वजन-समुदाय, सर्वसाधारण –सभी श्रेणीके हमारे सम्मान्य व्यक्ति हैं। विभिन्न भाषाओंके पत्रोंने सम्पादकीय वक्तव्य छापे हैं। हम उन सभीके अति कृतज्ञ हैं। प्रयत्न तो यही है कि सभी तार-पत्रोंके अलग-अलग उत्तर देकर कृतज्ञता प्रकट की जाय। परंतु तार-पत्रोंकी संख्या अत्यधिक होने; कई तार-पत्रोंमें पूरा पता न होने तथा पत्र न मिलने या प्रमादवश छूट जानेके कारण सब पत्रोंके उत्तर नहीं दिये जा सकेंगे। देशभरकी इस संवेदना तथा सहानुभूतिसे हमलोगोंको बड़ा ही बल तथा आश्वासन मिला है। इसके लिये मैं गीताप्रेस, कल्याण-परिवार तथा श्रद्धेय सेठजीके निज परिवारकी ओरसे हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हुआ अत्यन्त विनीत भावसे क्षमा-प्रार्थना करता हूँ।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

('कल्याण'में प्रकाशित)

* * * *

पुस्तक प्राप्ति स्थान

: गोरखपुर :
साहित्य मन्दिर
श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार स्मारक समिति
पो. गीतावाटिका,
(गोरखपुर) - २७३००६,

मनमोहन जाजोदिया
अजय सलेक्शन, बैंक रोड,
गोरखपुर - २७३००१

: वृन्दावन :
खण्डेलवाल एण्ड सन्स
अठखम्बा बाजार,
वृन्दावन - २८११२१

: वाराणसी :
श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार स्मृति सेवा ट्रस्ट,
दुर्गाकुण्ड रोड,
वाराणसी

: उदयपुर :
दिनेश कुमार अग्रवाल
आर ५/३१, जयश्री कालोनी,
तिलक स्कूल रोड, धूलकोट,
उदयपुर - ३१३००१

: जयपूर :
धार्मिक साहित्य सदन
बुलियन बिल्डींगके अन्दर,
हल्दियोंका रास्ता,
जौहरी बाजार,
जयपुर (राज.) ३०२००३

: मुम्बई :
भारतीय ग्रामोद्योग वस्त्र भण्डार
सिंहानिया वाडी,
१८७, दादी सेठ अग्यारी लेन,
मुम्बई - ४००००२

ओमप्रकाश सेकसरिया
न्यू जैक प्रिंटिंग वर्क्स प्रा. लि.,
पाण्डुरंग बुधकर मार्ग,
मुंबई - ४०००१३

: कोलकता :
सुशील कुमार मूधड़ा
पी/१५/२/१, सदर्न एवेन्यू,
कोलकता - ७०००२९

: स्वर्गाश्रम :
विष्णु पुस्तक भण्डार
पो. स्वर्गाश्रम,
(ऋषिकश) - २४९३०४,
जि. पौढ़ी गढ़वाल, अयोध्या (उ.प्र.)

: अयोध्या :
श्रीस्वामीशरण उपाध्याय
श्रीसीताराम भवन,
गोलाघाट चौराह,
अयोध्या (उ.प्र.),

: पटना :
श्रीनागा बाबा
ठाकुरवाड़ी,
मथुरा प्रसाद सिन्हा रोड,
कदम कुँआ, पटना (बिहार)

मेरे द्वारा विशेष कार्य करवानेकी योजना

वास्तवमें इस पाञ्चभौतिक शरीरसे अपने कर्मके अतिरिक्त, मेरे द्वारा कुछ विशेष कार्य करवानेकी योजना थी। जिनकी, जैसी जितनी योजना थी, उनकी कृपा तथा शक्तिसे उनका काम बहुत अंशमें पूरा हो गया, यद्यपि मैंने जितना चाहा था, जैसे चाहा था, वैसा नहीं हो पाया। यों तो जितने लोग मेरे सम्पर्कमें आये है, उनका कुछ-न-कुछ कल्याण तो अवश्य ही हुआ है और होगा; पर जिन लोगोंने मेरे द्वारा स्वार्थवश अनुचित कार्य करानेकी इच्छा तथा चेष्टा की, वे प्रायः वञ्चित ही रह गये। उनकी प्रगति तो रुक ही गयी, कई किसी अंशमें क्षतिग्रस्त भी हो गये। भगवान् उनका कल्याण करें।

यद्यपि जगत्के मङ्गलके लिये जो कुछ हुआ है, वह बहुत दूर-दूरतक हुआ है तथा उसका प्रभाव व्यापक और दीर्घकालतक रहेगा। वह क्या है, कैसा है — यह न मैं पूरा जानता हूँ न जाननेकी इच्छा है। हाँ, इतना जानता हूँ कि वह प्रभुका कार्य है और महान् है।

— हनुमानप्रसाद पोद्दार

प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू को गीताप्रेस के प्रकाशनों का उपहार प्रदान करते हुए

नगर संकीर्तन का नेतृत्व करते हुए